

કક્ષ કક્ષાર



શૈલેશ મટિયાની

कभी-कभार

शैलेश मटियानी

प्रकल्प प्रकाशन

कभी-कभार

लेख संग्रह

सर्वाधिकार © : शैलेश मटियानी

प्रकाशक : प्रकल्प प्रकाशन
आवास विकास कॉलोनी,
हलद्वानी-263139
नैनीताल (उ. प्र.)

संस्करण : 1993

मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपये

मुद्रक : एस. एन. प्रिन्टर्स
11807, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण : शिगोपा

डॉ. मुरली मनोहर जोशी ,
को सादर

अनुक्रम

लेखक का काम क्या है ?	17
लेखक का हाल क्या है ?	29
चैतन्य-रथ की दिशा	38
लोकतंत्र की शर्त पाखंड नहीं	47
हम तुम्हारे किसी तरह न हुए	58
लाल सूरज का डूबना	62
धर्मनिरपेक्षता का पाखण्ड और भाजपा	74
धर्मजुध का क्षेत्र	81
धर्म और धर्मनिरपेक्षता का राजनीतिक धंधा	91
धर्मनिरपेक्षता का ढोंग	97
साम्प्रदायिकता की भानुमती का पिटारा कहाँ है ?	102
उपासनास्थल विधेयक का उद्देश्य	108
शुद्ध साम्प्रदायिकता के छद्म धर्मनिरपेक्ष लबादे	114
धर्मनिरपेक्षता बनाम पंथनिरपेक्षता	121
पहलकदमी नहीं, चहलकदमी	125
आरक्षण में जातिवाद बनाम जातिवाद का आरक्षण	132
जातिवाद के कोढ़ का संवैधानिक उपचार	142
जाति और वर्ग का मायासरोवर	147
अल्पसंख्यक आयोग, याकि विशेष धार्मिक आयोग ?	153
सत्ता की भानुमती का पिटारा—दूरदर्शन	159
स्वायत्तता की नौटंकी	169
राजभाषा उर्फ संघ की भाषा	175
राष्ट्रगीत और राष्ट्रगान की खींचतान	182
राज्य और समाज : सरहदों के सवाल	188
राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बुनियादी सवाल	194

प्राक्कथन

आदमी की सारी कसौटी इसमें है कि वह अवधारणा में समर्थ है कि नहीं; क्योंकि अवधारणा ही चेतना का मूल तत्व है। स्वाधीनता की अवधारणा नहीं, तो स्वाधीनता की चेतना भी असम्भव है। यही नियम है। यही प्रथम-प्रश्न है।

जगत के दो हिस्से हैं। वस्तु और चेतना। दृश्य और अदृश्य। दृश्य वस्तु और अदृश्य चेतना का पुंज है। चूंकि दोनों समतोल हैं, इसलिये मामला बराबरी का है। दृश्य और अदृश्य, अर्थात् वस्तु और चेतना, की सयुक्ति ही सृष्टि का मूल आधार है। दृश्य का परिदृश्य में बदलना ही सृष्टि है और दृश्य परिदृश्य में बदलता है— अवधारणा से !

आदमी के अवधारणा में समर्थ होने से ही एक समान्तर सृष्टि है। समाज और राज्य इसी समान्तर सृष्टि के तथ्य हैं। अवधारणा का सिलसिला ही चेतना का सिलसिला भी है और आदिम के सामाजिक में बदलने का भी। इस 'इतिहास-बोध' से ही कहा जा सकता है कि स्वाधीनता भी तभी घपले में होगी, जबकि चेतना, लेकिन देखा वस्तु को ही जा सकता है। तब स्वाधीनता की चेतना के लिये भी स्वाधीनता की अवधारणा ही द्रष्टव्य होगी।

सब कुछ अवधारणा से ही निबद्ध है। स्वयं जगत भी। हाँ, फिलहाल, सिर्फ 'स्वाधीनता' का जिक्र इसलिये कि स्वाधीनता अवधारणा का निर्णायक तत्व है। बिना स्वाधीनता के अवधारणा सम्भव ही नहीं इसलिये आदमी यदि अवधारणा को स्वाधीन नहीं, तो मानना होगा कि स्वाधीन नहीं है। जबकि जैसा पहले ही कहा, आदमी की एक ही कसौटी है—स्वाधीनता ! उसकी सम्पूर्ण नियति का सवाल एक ही है—स्वाधीन है, या नहीं। बाकी के सारे सवाल इसके बाद के सवाल हैं; क्योंकि जिस 'प्राण' से ही सृष्टि के उदय और अस्त होने की अवधारणा 'योगवाशिष्ठ' में की गई है, वह भी स्वाधीनता से ही गुंथा है। स्वाधीनता नहीं, तो प्राण बंधे होंगे। गुलामी सिर्फ गले का तौक ही नहीं, प्राणों की जंजीर भी है। इसलिये, किसी भी मामले में, इतना स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि अगर स्वाधीनता का सवाल गायब हो, तो बाकी का सारा ताम-झाम सिर्फ धोखा है।

सोवियत रूस का विघटन भी इसी वास्तविकता का दृष्टांत है। स्वाधीनता का सवाल गायब होने से ही मार्क्सवाद का सारा ताम-झाम बिखर गया। अवधारणा का क्षेत्र कम्युनिस्ट पार्टी तक सीमित होने से ही स्वाधीनता का सवाल भी पार्टी की ही वस्तु बन गया। यह सबक है इस बात का कि अवधारणा का सवाल ही आदमी का

सबसे बड़ा सवाल है। तब देखना होगा कि 'अवधारणा' की स्वाधीनता है कि नहीं; क्योंकि अवधारणा का नैरंतर्य जरूरी है।

स्वयं हमारा आज का परिदृश्य क्या है ?

क्यों है आसेतु-हिमालय चेतना का उजाड़ ? क्यों होता जा रहा है आदमी जानवरों से भी ज्यादा बदहाल ? क्यों नहीं रह गई है उसमें अवधारणा की क्षमता ? क्यों नहीं उठा पा रहा है वह स्वयं की स्वाधीनता के सवाल ? क्यों अलभ्य होता जा रहा है उसे आदमी की हैसियत का विचरण ? क्यों घपले में पड़ गई है, उसके प्राणों की स्वस्ति ? और यह चेतना कि जगत वस्तुओं का पुंज तो है, लेकिन सिर्फ तभी, जब प्राण सही-सलामत हो !..... और सलामत हो यह विवेक कि आदमी को जगत से भी बड़ी वस्तु है, प्राण !.....क्योंकि प्राण नहीं, तो जगत भी नहीं है। जान है, तो जहान है। तब राज्य की अवधारणा करते में देखना जरूरी होगा कि उसमें प्राणों का बंदोबस्त क्या है।

जहाँ प्राण का सवाल प्रथम नहीं, वहाँ बाकी के सारे सरंजाम एक इस बात के ही सूचक होंगे कि आदमी को स्वाधीन नहीं रखना है ! क्योंकि अगर वह वस्तु की अवधारणा को स्वाधीन रहा, तो प्राण की भी अवधारणा करेगा जरूर और तब यह सवाल भी उठायेगा जरूर कि स्वाधीनता क्यों नहीं है ? क्योंकि जैसा कि पहले भी कहा —स्वाधीनता ही प्राण का भी मूल तत्त्व है और सारे विज्ञान कला वाङ्मय अथवा ज्ञान-ध्यान की परीक्षा ही इसमें है कि प्राणों का ज्ञान है कि नहीं। प्राणों का ध्यान है कि नहीं।

जगत से — जगत में — आदमी का एक ही सम्बन्ध है और वह है — विचरण ! विचरण नहीं, तो चरण व्यर्थ हैं।

आदमी के सिर्फ पाँव ही नहीं होते। वह अपना सर्वोच्च विचरण प्राणों से करता है। उसकी समस्त इंद्रियां प्राण से गुंथी हैं। प्राण ही आदमी का सर्वस्व हैं। वस्तुओं की अवधारणा भी वह प्राण के निमित्त ही करता है। प्राणों के लिये वह कुछ भी कर सकता है। उसे प्राणों के लिये कुछ भी करने को स्वाधीन होना जरूरी है और यह स्वाधीनता उसे स्वयं प्राप्त करनी होती है। इसके सारे उपाय उसे स्वयं खोजने होते हैं।

तब कहना जरूरी क्यों हो कि 'राज्य' की अवधारणा भी इसी से अस्तित्व में आई। अराजकता सबसे पहले — और सबसे ज्यादा — प्राण (अस्तित्व) का संकट ही उत्पन्न करती है। बिना प्राणों को संकट उपस्थित किये अराजकता असम्भव है। तब क्यों नहीं स्मरण रहनी, या रखी जानी, चाहिये यह बात कि राज्य को हमेशा इसी कसौटी पर देखा जाना चाहिये कि उसका प्राणों के प्रति रुख क्या है ?

हमारी मौजूदा राज्य व्यवस्था को इस कसौटी पर कसा जाय, तो शक्ति क्या निकलेगी ? सांत्वनादायी, या कि डरावनी ?

क्या कभी इस दिशा में भी सोचा हमने कि आखिर सारी-की-सारी राजनीतिक पार्टियां प्राणों के मामले में — या प्राणों के मामले पर — समान रूप से उदासीन और बेसरोकार क्यों हैं ? आखिर प्राणों के सवाल को कोई भी क्यों नहीं उठाना चाहता ? जबकि, जैसा कि पहले ही कहा, जिनके लिये प्राणों का सवाल कोई सवाल नहीं, उनके बाकी के सारे ताम-झाम धोखाधड़ी के सिवा कुछ नहीं होंगे । 'रोटी, कपड़ा और मकान' की बात तो करना, लेकिन प्राणों की बात नहीं करना — इसे किस बात का सूचक माना जाय ? सिर्फ वस्तुएँ प्राण के सवाल नहीं हैं । मार्क्सवाद इसी में ढह गया । उसमें प्राणों के सवाल को प्रथम नहीं रखा गया; क्योंकि तब अभिव्यक्ति और विचार (अवधारणा) की स्वाधीनता पर रोक नहीं लगाई जा सकती ।

आश्चर्य और अफसोस कि हमारी किसी भी राजनीतिक पार्टी ने प्राण के सवाल को अपना चुनावी मुद्दा कभी नहीं बनाया । कभी नहीं कहा कि चूंकि संरक्षा ही राज्य का मूल नैतिक आधार है, इसलिये जो जान-माल की प्रतिभूति (गारण्टी) को तैयार नहीं हो, उसे शासन का अधिकार कतई नहीं होगा; क्योंकि राज्य सिर्फ प्राकृतिक आपदाओं की जिम्मेदारी से ही मुक्त हो सकता है, उसे 'हत्या' को स्वाभाविक मान लेने की छूट नहीं ।

हत्या को स्वाभाविक बना लिये जाने की छूट जब देता है, राज्य ही, ताकि उसे सवालों के कठघरे में खड़ा नहीं किया जा सके । अन्यथा जो भी सत्तारूढ़ राजनीतिक पार्टी कहे कि वह हत्याओं के सिलसिले को रोकने में समर्थ नहीं, उसे राजनीति छोड़ देनी चाहिये । राजनीति हत्या के संरक्षण के लिये नहीं की जा सकती, नहीं की जानी चाहिये, लेकिन हमारे मौजूदा तथाकथित लोकतंत्र के चारों पाये हत्या की राजनीति पर ही टिके हुए हैं । हत्या आज धंधे का रूप ले चुकी है । पेशेवर हत्यारों को राजनीतिक पार्टियों ही नहीं, बल्कि बाकायदे न्यायालयों का अभिरक्षण प्राप्त है । तब इस बात पर फिर जोर देना होगा कि बिना राज्य या राजनीतिक पार्टियों के संरक्षण के हत्यारों के गिरोह असम्भव हैं ।

'मानव स्वभाव' के तर्क को हत्या के व्यापार बनाये जाने की हद तक नहीं खींचा जा सकता । हत्या सिर्फ उसी राज्य व्यवस्था में व्यापार का रूप ले सकती है, जो इसका राजस्व वसूलती हो । हमारी मौजूदा राजनीतिक पार्टियों का परीक्षण इस कसौटी पर भी होना चाहिये था कि उसमें किस - किस के द्वारा हत्या का राजस्व वसूला जाता है ।

संरक्षण के लिये ही राज्य 'राजस्व' वसूलता है, 'हत्यारों के अभिरक्षण' का तर्क भी यही है । माना कि राजनीतिक पार्टियों के वश में नहीं कि वो हत्याओं के

सिलसिले को रोक सकें, लेकिन तब सिंहासन से इंकार जरूरी होगा। राज्य को हत्या, लूट, बलात्कार और आतंक को शासन का सहज-स्वाभाविक अंग बना लेने की छूट नहीं हो सकती। संरक्षा में अक्षम, या इसके प्रति उदासीन, राज्य हमेशा और हर हाल में खतरनाक होता है; क्योंकि वह सिर्फ दूसरों की 'हत्या' को ही स्वाभाविक मानता है, अपनी नहीं। वह संरक्षा का प्रवाह अपनी ओर मोड़ लेता है। यही राज्य की अराजकता है।

अराजक राज्य अवधारणा की स्वाधीनता कभी नहीं और कदापि नहीं देता। अवधारणा के लिये उसके यहां कोई जगह नहीं होती; क्योंकि अवधारणा से झूठ नहीं रचा जा सकता। अवधारणा या तो सच होगी और या नहीं होगी। झूठ की अवधारणा असम्भव है। अवधारणा की शक्ति में चलाये गए झूठ को झूठ की अवधारणा नहीं माना जा सकता। इसलिये राज्य जब भी झूठा होगा, अवधारणा की स्वाधीनता नहीं देगा, बल्कि झूठ को अवधारणा की शक्ति में चलायेगा।

यहां 'अवधारणा' और 'स्थापना' के अंतर को समझना आवश्यक होगा। 'स्थापना' झूठी भी हो सकती है। झूठ का स्थापित होना ही खतरनाक भी होता है।

यह कारण है कि भारतीय संविधान तक में कहीं कोई अवधारणा नहीं है। न देश, न भाषा, न संस्कृति, न कानून, न व्यक्ति, न समाज और न पृथिवी-आकाश-पाताल या कि चाल-ढाल की। यहाँ तक कि राजनीति या कि राजनीतिक दल की भी संविधान में कोई अवधारणा नहीं है और इसीलिये देश के सारे राजनेता, विधिवेत्ता और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश —ये सब के सब मिलकर भी एक 'दलबदल कानून' नहीं बना पाये।

संस्कृति, धर्म या कि कानून की अवधारणा नहीं होने से ही रामजन्मभूमि का मामला सौंसत बन गया। जाति और वर्ग की अवधारणा नदारद होने से ही सामाजिक न्याय की जातिवादी सिद्धांतबाजियों ने पूरे देश में जहर घोल दिया। भाषा की अवधारणा गायब होने से विदेशी भाषा में शासन चालू है। शब्द की तमीज नहीं होने से राष्ट्रपति-जैसा अश्लील और असंवैधानिक सम्बोधन राष्ट्रीय गौरव का प्रतिमान बना हुआ है। जबकि जहाँ प्राण की अवधारणा नहीं, वहाँ कानून का राज्य क्या, सभ्यता ही सम्भव नहीं है। असभ्य की पहली पहचान ही यही है कि उसे प्राणों की तमीज नहीं होगी। जिसके संविधान में प्राणों की अवधारणा गायब हो, वह राज्य सिर्फ बर्बर ही हो सकता है; क्योंकि तब संसद भी असभ्यों का पुंज ही होगी।

व्यक्ति हो कि राज्य, जिसे प्राणों की तमीज नहीं, उसे किसी वस्तु की तमीज नहीं होती। उसका सारा आभिजात्य वेश्या का श्रृंगार ही होगा। ऐसी राज्यव्यवस्था में लेखक की हैसियत क्या होगी ?

यह सवाल जरूरी है।

भारत की किसी भी राजनीतिक पार्टी में एक भी लेखक ढूँढे नहीं मिलेगा, जो अवधारणा के सवाल उठा सके। जो बता सके कि 'राज्य' स्वयं एक 'अवधारणात्मक सत्ता' है और अवधारित को अवधारणा या कि अवधारक के निषेध की छूट नहीं हो सकती।

यह एक नैसर्गिक तथ्य है कि अवधारणा या अवधारित की सत्ता अवधारक से बड़ी नहीं हो सकती। ईश्वर (परमसत्ता) की परिकल्पना (जगत के) अवधारक के रूप में की जाती है। अर्थात् सत्ता उसकी बड़ी है, जो सिरजे। राज्य की सृष्टि समाज करता है, समाज की राज्य नहीं। तब उसे प्रत्येक राज्य व्यवस्था को अराजक करार देना जरूरी होगा जो कि समाज की सत्ता को क्षति पहुँचाये।

प्राण ही समाज का भी मूल तत्व है। संरक्षा में अक्षम या उदासीन राज्य की अवधारणायें भी उसके अनुरूप ही होंगी। तब राज्य को अवधारणा का एकाधिपत्य नहीं सौंपा जा सकता। जबकि हमारी मौजूदा व्यवस्था ने यह काम लगभग पूरा कर लिया है। उसने अपने सारे प्रचार-प्रसार और संचार-साधनों को अवधारणा की एकछत्रता में जोत दिया है और अवधारणा की एकछत्रता ही तानाशाही है। इस प्रकार लोकतंत्र का मौजूदा इण्डियन मॉडल तानाशाही के सबसे भद्दे स्वरूप का ही प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन जब तक में लोग सत्य को जानें, तब तक, बहुत देर हो चुकी होगी।

चूँकि अवधारणा, इसलिये धारणाएं बनाने का काम भी राजनीति के हाथों में चला गया है। अब देश, संस्कृति, धर्म, जाति, वर्ण, वर्ग, शिक्षा और साहित्य से लेकर आलू-प्याज के इस्तेमाल तक, धारणाओं का उत्पादन राज्य व्यवस्था ने अपने हाथों में केन्द्रित कर लिया है। तब क्या अभी भी समय नहीं आया कि लोग आगे आएँ ?

आगे आएँ सिर्फ उसी राजनीतिक दल को केन्द्र में लाने के संकल्प में, जो प्राणों के सवाल को सबसे प्रथम सवाल का दर्जा देने की प्रतिभूति दे। मार्क्स की प्रासंगिकता इसमें भी है कि उन्होंने 'कम्यूनिस्ट स्टेट' और 'स्टेटलेस स्टेट' की जो अवधारणा की, इनमें से एक घातक साबित हो चुकी है और दूसरी निरर्थक।

समाज राज्य का अपरिहार्य अंग है। सिरदर्द से बचने को 'मस्तक विहीनता' की अवधारणा नहीं की जा सकती। 'राज्यविहीन राज्य' की बात मूर्खता है।

जरूरी है चेतना। राज्य भी स्वयं में एक वस्तु के सिवा कुछ नहीं और वस्तु का स्वरूप तब तक सही होना असम्भव है, जब तक कि चेतना नहीं। चेतना स्वयं अवधारणा का तत्व है। दोनों परस्पर गुंथे हैं। इसलिये आज भी जो सबसे जरूरी काम है, वह 'अवधारणा' का ही है। आदमी के सारे कार्य-कलाप अवधारणा से जुड़े हैं। जगत को स्वयं के अनुरूप बनाने के अनवरत संघर्ष में ही जाना है आदमी ने कि उसे प्राण भी जगत के निमित्त है। उसके बिना जगत और जगत के बिना उसका अस्तित्व नहीं।

संयुति ही सृष्टि का नियम है। इसके विपरीत अवधारणा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

या पूंजीवाद के अंधेरो में ही ले जा सकती है। तब लोकतंत्र की अवधारणा में से पूंजीवाद को निरस्त करना जरूरी होगा। कहना होगा कि पूंजीवादी लोकतंत्र का लोकतंत्र होना असम्भव है; क्योंकि लोकतंत्र के पूंजीवादी प्रकार (मॉडल) में प्राणों की कीमत, या हैसियत, पैसे से बड़ी नहीं हो सकती।

यह एक सनातन सत्य है कि संसार में प्राण से बड़ी वस्तु कोई नहीं, लेकिन सत्य को भी प्रवाह में रखना जरूरी है। यही परम्परा (नियम) है। सत्य गोदाम की वस्तु नहीं। 'सनातन सत्य' का अर्थ ही होता है कि सत्य को सनातन रखना है। अर्थात् कोई भी समय ऐसा नहीं हो सकता, जो सत्य से उदासीन होने की छूट दे। तब प्राण के सवाल को भी प्रत्येक समय में उठाना होगा। राज्य को संरक्षा के अपहरण की छूट देना ठीक नहीं। जबकि हमारे कथित लोकतंत्र में इसकी बाकायदे संवैधानिक छूट है।

तब ऐसी राजनीति जरूरी होगी, जो संरक्षा के सवाल को सबसे ऊपर रखे। जो माने कि लोकतंत्र की अवधारणा को हत्यारों के अभिरक्षण, या हत्या के राजस्व, की बुनियाद नहीं बनाया जा सकता।

राज्य का उससे बड़ी सत्ता (समाज) से प्रतिबद्ध होना जरूरी है। आदमी का भी। जो स्वयं से बड़ी सत्ता से नहीं जुड़ा, वह चल नहीं सकता। साम्यवाद की त्रासदी ही यह है कि वह स्वयं से बड़ी सत्ता का विरोध करता है। पूंजीवाद भी यही करता है, लेकिन डंके की चोट पर नहीं। पूंजीवाद कभी अपने वास्तविक रूप में सामने आता ही नहीं। पूंजीवादी राजनीतिक पार्टियां, साम्यवादी पार्टियों की तर्ज पर, स्वयं को 'गर्व से कहो, हम पूंजीवादी हैं' नहीं कहतीं। तब प्रत्येक अवधारणा का परीक्षण जरूरी है।

लोगों को धर्म, मजहब, जाति और वर्ण के धमासानों के हवाले कर दिया गया है, ताकि वो और कोई सवाल नहीं उठा सकें। जबकि आदमी को स्थान और समय से जोड़ना जरूरी है। देश-काल आदमी के ही तथ्य हैं। जुड़ने या जोड़ने का साधन एक ही है—प्राण! राज्य के समान्तर समाज को भी यह काम लगातार करते रहना होता है।

वाल्मीकि के तर्क से कहना होगा कि—राज्य के उदय का आधार भी एक ही है—प्राण! और प्राण की प्रतिष्ठा के मामले में राज्य का साधन कानून है—समाज का संस्कृति। समाज को जरूरी है कि वह महाकाव्यों को सम्भव करने में समर्थ हो। उसमें संस्कृति के प्रवाह को बनाये रखने की क्षमता हो। जो समाज यह क्षमता खो देते हैं, उनको स्वाधीनता असम्भव है। तब देखना होगा कि राज्य की बनावट क्या है।

राजनीति को काव्य के संहार की छूट नहीं दी जा सकती। तब जानना जरूरी है कि जो राज्य के संहार की छूट लेगा, वह काव्य की छूट भी वहीं और तभी तक देगा, जब तक कि संहार के विरुद्ध सवाल नहीं उठाये जाएं। आज नहीं तो कल, कभी-न-कभी

राज्य की अवधारणा में काव्य को भी शामिल करना ही पड़ेगा। हमारे सारे महाकाव्यों में राजनीति को काव्य की कसौटी पर ही कसा गया है। काव्य प्राण का तत्व है। प्राण का संकट ही काव्य का संकट भी है।

वैदेही राज्य के प्रतिवाद का सर्वोच्च प्रतीक है। स्वाधीनता का उससे बड़ा दृष्टान्त खोजना असम्भव है। जो देह को प्राण से बड़ा समझते हों, उनसे राज्य का प्रतिवाद असम्भव है। उनमें यह विवेक भी सम्भव नहीं कि संरक्षा के प्रति विश्वासघाती राज्य, एक नहीं, अनेक प्रकार से संहार करता है। वैचारिक संहार अराजक राज्य की नियति है।

राज्य, जहाँ तक उसका बस चले, लोगों को यह चेतना होने ही नहीं देता कि वैचारिक संहार मानवसंहार का सबसे खतरनाक उपाय है।

हत्या की राजनीति, हमेशा वैचारिक संहार के बाद ही स्वयं का वह नंगनृत्य अपने भयावह रूप में उपस्थित करती है, जिससे लोगों के प्राण कांप उठें; क्योंकि अगर प्राण का जोखिम — याकि प्राण जोखिम में — नहीं, तो आदमी सवाल उठायेगा जरूर।

पूछेगा जरूर कि उसे प्राणों की कँपकँपी को बताने की स्वाधीनता क्यों नहीं है? क्यों नहीं है उसे यह स्वाधीनता कि वह उन लोगों की ओर संकेत कर सके, जिनके नंगनृत्यों से उसके प्राण कांप उठे हैं और यह कँपकँपी भी उसे खुद ही छिपानी है।

धर्म, जाति, मजहब और नस्लों की राजनीति के इस महाभोज में वो सब भी बाकायदे शामिल हैं, जिनको कि अवधारणा के सवाल उठाने थे। जिनको पूछना था कि धर्म, मजहब, जाति, नस्ल, वर्ण या संख्या की राजनीति का तर्क क्या है?

प्राण ही समस्त ज्ञान-विज्ञानों का आदि स्रोत है। प्राण (अस्तित्व) को केन्द्र में रखने से इंकार करने वाला ज्ञान-विज्ञान आदमी को व्यर्थ ही नहीं, बल्कि संघातक है। राजनीति इसका अपवाद नहीं हो सकती। जबकि हमारी सारी मौजूदा राजनीतिक पार्टियां **प्राण** (अस्तित्व) के निषेध पर ही टिकी हैं। प्राण की कीमत वहीं तक है, जहां तक कि वह राजनीति के काम आ सके। इस वास्तविकता को छिपाने के लिए अवधारणा का निषेध जरूरी है।

अवधारणा के निषेध का ही दुष्परिणाम है आज की सारी अराजकता। जिन्हें कुछ पता नहीं कि मूल अधिकार किसे कहते हैं, वो उच्च तथा सर्वोच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के सिंहासनों पर विराजमान हैं। जिन्हें आदमी का क. ख. ग. नहीं मालूम, वो प्रधानमंत्री और राष्ट्रपतियों के रूप में देश को जागीरों की तरह चला रहे हैं। देश, काल, संस्कृति, धर्म, शिक्षा, भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान, आदि की बात ही छोड़िये, घास-पात तक का कोई वास्तविक ज्ञान किसी को नहीं है और अगर है, तो फिर यह सारा हाहाकार क्यों है?

भूलना नहीं चाहिये कि जिन्हें प्राण का ध्यान न हो, उन्हें किसी भी वस्तु का ज्ञान असम्भव है; क्योंकि कोई भी वस्तु अपने वास्तविक तथा समग्र रूप में प्रकट हो सकती है तभी, जबकि उसे प्राण से जोड़कर देखा गया हो।

प्रेमचंद की 'कफन' कहानी में उपलों के नीचे दबे आलू 'प्राण से जुड़े हुए आलू' हैं और इसीलिये वह हिंदी की श्रेष्ठतम कहानी है। वस्तु को आदमी से अलग, बाहर या ऊपर करके देखना, या छिपाना ही अवधारणा का निषेध है। हमारी राजनीति इसी निषेध पर टिकी है।

लोकतंत्र के 'इण्डियन मॉडल' में वस्तु को आदमी से जोड़ने से साफ इंकार है। कानून से लेकर कूड़े तक, सब-कुछ अवधारणा के निषेध में इस्तेमाल किये जाने के लिये है। आदमी को वस्तु से जोड़कर देखने से इंकार का सिलसिला ही उसे देश, काल और समाज से जोड़ने से इंकार तक जाता है।

कानून ही नहीं, बल्कि कूड़े तक को आदमी से ऊपर कर दिया जा चुका और संविधान हत्या को राज्य का सहज-स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि अपरिहार्य तत्व सिद्ध करने का हथियार बन गया है। प्राण की प्रतिभूति से साफ इंकार करके प्रत्येक वस्तु की प्रतिभूति से इंकार का रास्ता खोल लिया गया है। बैंक प्रतिभूति काण्ड भी इसी सिलसिले की एक कड़ी है। यह साफ बता दिया जा चुका है कि कैसे भी नृशंस हत्याकांडों, बलात्कारों लूट-खसोटों और भ्रष्टाचारों के लिये राज्य को कटघरे में खड़ा नहीं किया जा सकेगा।

क्या अब भी समझना कठिन होना चाहिये कि आदमी के मामले में अवधारणा की भूमिका क्या हो सकती है? लोकतंत्र की कोई वास्तविक अवधारणा नहीं होने से ही लोकतंत्र का यह 'इण्डियन मॉडल' आज तक सवालियों के घेरे से बाहर नहीं है। सारी राजनीतिक पार्टियां जानती हैं कि लोकतंत्र की वास्तविक अवधारणा के सामने खड़े होते ही जाति, धर्म, मजहब, वर्ण, नस्ल, संख्या और भुजदण्डों की राजनीति के रास्ते बंद हो जायेंगे। जबकि आज राज्य की प्रकृति बम-बंदूकों की अनुज्ञापी होने से माफिया गिरोहों को भी बाकायदे संसदीय मान्यताएं प्राप्त हैं।

सारा विश्व अवधारणा के संकट से गुजर रहा है। साम्यवाद-मार्क्सवाद की अवधारणा के ध्वस्त हो जाने के बाद का सारा वैचारिक शून्य अवधारणा के निषेध की उपज है। पूंजी के एकाधिपत्य ने अवधारणाओं के रास्ते बंद कर दिये हैं। राजनीति से लेकर संस्कृति-शिक्षा ही नहीं, बल्कि खेती-बाड़ी तक में अब लोगों को उन थमाये गये नुस्खों के हिसाब से ही जीवन का विन्यास करना है, जो पूंजी के एकाधिपत्य को निर्विघ्न बना सकें।

एकाधिपत्य का मतलब ही प्राणों का एकाधिपत्य होता है। बिना प्राण कंपाये एकाधिपत्य असम्भव है। हमें अपने प्राणों की कंपकंपी को छिपाये रखने का इंतजाम

स्वयं करना है। झूठ का अस्तित्व ही इसमें है कि वह झूठ को बाध्य कर सके। लोकतंत्र के मौजूदा 'इंडियन माडल' में सत्य को सिर्फ भोंका जा सकता है और बदले में इस मुहावरे को सुना जा सकता है—कुत्ते भौंकते रहते हैं, हाथी चलता जाता है।

भारत की मौजूदा राज्यव्यवस्था की अवधारणा क्या इस मुहावरे से भिन्न हो सकती है ?

समाज की सत्ता का निषेध ही तानाशाही है और इसे तभी जाना जा सकता है, जबकि अवधारणा के रास्ते खुले हों। अवधारणा को प्राणों का खुला होना जरूरी है; क्योंकि डरे हुए के द्वारा अवधारणा असम्भव है और आदमी बिना डराये नहीं डरता। तब इस सवाल का जवाब खोजना ही होगा कि हम डरे हुए हैं, या नहीं ?

अगर 'हाँ', तो आखिर क्यों और किससे ? और अगर नहीं, तो क्या सचमुच नहीं ?

लोकतंत्र का 'इंडियन माडल' कितना डरावना हो चुका है, इसका अहसास अगर हमें नहीं, तो निश्चित है कि अवधारणा की कोई जरूरत नहीं है। डर को छिपाना, डराने वालों की तरफ उंगली उठा सकने के साहस को गंवा चुके होने का सबूत है। हमारा मौजूदा लोकतंत्र ऐसी ही उंगलियों के वोटों पर टिका है। इसका ज्यादा टिकना सम्भव नहीं है। इसे दिन-दिन ज्यादा डरावना होते जाना है और आदमी राज्य की अवधारणा ही डर के विरुद्ध करता है। राज्य, अपनी सैद्धांतिक या कि अवधारणात्मक अधिरचना में 'डर के निवारण का सामाजिक उपाय' है। तब 'डरावने राज्य' के विरुद्ध एक ऐसे राज्य की अवधारणा करना ही होगी, जो प्राणों की प्रतिभूति को 'पहले सवाल' का दर्जा देता हो।

भारतीय संविधान में यह प्रतिभूति नहीं है। इसमें जीवन (अस्तित्व) के अधिकार को 'राज्य के विवेक' की वस्तु माना गया है।

इसमें जीवन, अस्तित्व या प्राण के मूल नागरिक अधिकार के पीछे 'सरकारी लेकिन' लगा दिया गया है, जबकि लेकिन लगाना ही 'मूल' की सत्ता को समाप्त करना है।

जब आदमी का प्राण या जीवन ही 'लेकिन' के अधीन हो, तब स्पष्ट है कि हत्याओं-लूटों-अपहरणों और बलात्कारों के मामले भी 'लेकिन' के अधीन ही होंगे। संरक्षा राज्य का दायित्व है, लेकिन अगर हत्याओं का सिलसिला बढ़ता ही चला जा रहा हो, तो भी राज्य को इसके लिये जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकेगा; क्योंकि संविधान में पहले ही 'लेकिनों' के पुंज मौजूद हैं।

'अलां नागरिक का मूल अधिकार है, लेकिन'---'फलां सरकार (राज्य) का मूल कर्तव्य है, लेकिन।' अर्थात् जनता को राज्य के कानूनों और आदेशों का पालन करना ही होगा, नहीं तो हथकड़ियां सामने होंगी, लेकिन राज्य अगर अपने दायित्वों का पालन करने से साफ इंकार करे, तो उसके विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही सम्भव नहीं होगी; क्योंकि अनुमति देना, नहीं देना, यह राज्य का अधिकार है। तब क्या

राज्य की अवधारणा — या उसके स्वरूप निर्धारण — के लिये जानना जरूरी नहीं होगा कि उसके सामने समाज की औकात क्या है ?

विख्यात समाजवादी विचारक मधु लिमये के लिये शब्दों में —

‘राज्य हमारे लिये एक नई संकल्पना है। हम राजा, जमींदार, जाति की पंचायत और परिवार के मुखिया से तो परिचित रहे, लेकिन हमने यह नहीं जाना था कि वास्तविक राज्य क्या होता है। राज्य के साथ एक अमूर्त भाव जुड़ा हुआ होता है और उसे जान-बूझकर खत्म नहीं किया जाना चाहिए। राज्य ऐसी संकल्पना है, जिसे वर्ग, जाति और भाषा - समूह पर आधारित विश्लेषण-मात्र से नहीं समझा जा सकता। हम किसी समूह को यह छूट नहीं दे सकते कि वह भारतीय राज्य और उच्चतम न्यायालय-जैसी उसकी संस्थाओं की सर्वोपरिता को चुनौती दे। एक दार्शनिक ने भी शायद ठीक ही कहा है कि— ‘मनुष्य में जो-कुछ है राज्य का दिया हुआ है और राज्य के भीतर ही वह आत्मसाक्षात्कार कर सकता है। अपना ध्येय प्राप्त कर सकता है। मानव के सभी मूल्य तथा आध्यात्मिक सत्य राज्य के माध्यम से ही प्राप्त होते हैं।’

[नवभारत टाइम्स : 23 सितम्बर 1992]

लिमये जी ने यहां यह तो नहीं बताया है कि जिस दार्शनिक को उन्होंने ‘कोट’ किया वह देशी है या विदेशी लेकिन इतना निश्चित है कि राज्य की सर्वोपरिता और स्वतःसिद्ध सर्वशक्तिमानता ही नहीं, बल्कि लगभग ब्रह्मस्वरूप होने को लेकर दोनों एकमत हैं। राज्यसंबंधी ऐसी दरबारी समझ को सिर्फ शर्मनाक ही नहीं, बल्कि खतरनाक भी मानना जरूरी होगा; क्योंकि यह समाज की सत्ता का सम्पूर्ण निषेध करती है। राज्य के स्वतःसिद्ध सर्वसत्तावाद का सिद्धांत मधु लिमये - जैसा कथित समाजवादी विचारक प्रस्तुत करे, तो सवाल जरूरी होंगे। इसलिये भी कि आपातस्थिति को उन्मुक्त नैतिक तथा संवैधानिक समर्थन प्रदान करते हुए, सर्वोच्च न्यायालय के माननीय न्यायमूर्ति श्री ए.एन.रे. ने भी अपने एक फैसले में तब यही नज़ीर दी थी कि— ‘जहां तक स्वाधीनता और जीवन का प्रश्न है, चूंकि ये दोनों राज्य के द्वारा ही दिये जाते हैं, इसलिये इन्हें वापस लेने का भी राज्य को पूरा अधिकार है और उसके इस अधिकार पर कोई बाध्यता आरोपित नहीं की जा सकती।’

स्पष्ट है कि मधु लिमये का निष्कर्ष भी यही है।.....लेकिन तब कुछ सवाल भी जवाब माँगेंगे जरूर।

‘राज्य के साथ एक अमूर्त भाव जुड़ा हुआ होता है’ कहते हुए लिमये भूल जाते हैं कि समाज बहुत ही स्पष्ट और यथार्थ अपेक्षाओं के तहत ही ‘राज्य’ की अवधारणा और स्थापना करता है। राज्य हमारी संरक्षा, अर्थात् हमारे जान-माल की गारंटी, करेगा — अमूर्त भाव रखना कैसे होगा ?

राज्य की सत्ता अमूर्त कैसे मानी जाय ? ‘अमूर्त’ सिर्फ उसे ही माना जा सकता है, जोकि शब्द या आकार से परे हो। ‘राज्य’ निराकार नहीं होता। जहां तक राज्य के साथ ‘अमूर्त भाव’ के जुड़े होने का प्रश्न है, तो क्या लोहिया ने गैरकांग्रेसवाद और

समाजवाद का आंदोलन इसी 'अमूर्त भाव' से चलाया था ? माना था कि कांग्रेसी राज्य (अवस्था) को एक ऐसा रहस्य मानते चलना जरूरी होगा, जिसके प्रति कोई जिज्ञासा ठीक नहीं ? जिसे अभेद्य-अगम्य और सर्वोपरि या प्रश्नातीत बनाये रखना ही राजनीति के नैतिक-संवैधानिक आधारों का परिपालन करना होगा ? जबकि प्रश्नातीत ही तागाशाह या कि असंवैधानिक होगा; क्योंकि वह सवालो से ऊपर या बाहर ही खड़ा मिलेगा ।

समझना कठिन है कि लिमये जी के इस राजनैतिक रहस्यवाद का रहस्य क्या है ।

स्पष्ट है कि 'हम किसी समूह को छूट नहीं दे सकते' कहते में उनका इंगित भाजपा को ओर है । उनके जिस लेख में से राज्यसम्बन्धी उनकी 'नयी संकल्पना' और अवधारणाओं को उद्धृत किया गया है, उसका विषय भी 'रामजन्म भूमि' कम, 'बाबरी मस्जिद' ही ज्यादा है । तब पूछने में कोई हर्ज नहीं होना चाहिये कि — 1975 की आपातस्थिति के विरुद्ध आंदोलन क्या राज्य के प्रति 'अमूर्त भाव' और उसके 'रहस्य' को बनाये रखने के उद्देश्य में ही किया गया था ? जनता पार्टी भी अपने-आप में कोई समूह नहीं, बल्कि कोई अमूर्त भाव मात्र ही थी ? जबकि लोगो ने उसे 'समूहों का समूह' माना था और उसमें स्वयं मधु लिमये जी भी शामिल थे !

लिमये जी ने यह भी स्पष्ट नहीं किया है कि राज्य करने वाली (अर्थात् राजा) पार्टी को समूह माना जा सकता है, या नहीं । जबकि 'सरकार' का मतलब ही 'राज करने, या राज चलाने, वालों का समूह' होता है और जहां तक हमारी केन्द्र सरकारों का प्रश्न है, उच्चतम न्यायालय-जैसी संस्था की सर्वोपरिता की जब मिट्टी पलायन की गई, इसी के द्वारा की गई है । आपातस्थिति और बी शाहवानो के मामले इसके चाक्षुस प्रदर्शन हैं ।

इसके अलावा अगर राज्य या सर्वोच्च न्यायालय प्रश्नातीत रूप में सर्वोपरि, अखंड तथा अप्रतिवाद्य हैं, तो क्या हिटलर के समय राज्य और सर्वोच्च न्यायालय नहीं थे ? तब भगतसिंह, विस्मिल और बटुकेश्वर दत्त — जैसे देशभक्तों को दी गई मनाये किस तर्क से न्याय का सर्वोच्च प्रतिमान नहीं होंगी ? तब तो ब्रिटिश राज्य तथा उसकी 'सुप्रीम कोर्ट ऑफ इण्डिया' के विरुद्ध आंदोलन करने वाले सारे समूहों को देशद्रोही ही माना जा सकता है ? तब महात्मा गांधी को ब्रिटिश राज्य के प्रति 'अमूर्त भाव' तथा 'रहस्यानुभूति' से इंकार के आरोप में भी सजा जरूर मिलनी चाहिये थी ?

समाजवादी विचारक मधु लिमये जी की राज्य के प्रति ऐसी परमदरबारी अंधश्रद्धा को क्या कहा जाय ? जबकि किसी भी वस्तु की प्रासंगिकता तय होती है 'चरित्र' से । नास्त्र गुण्डे का ही, तो नाम 'संतराम' होने से कुछ नहीं होना । 'राज्य' इस नियम का अपवाद नहीं होगा । 'राज्य' कोई 'स्वतःसिद्ध तत्त्व' नहीं है ।

लिमये जी ने यह भी नहीं बताया कि राज्य से उनका तात्पर्य क्या है । हालांकि राजा, जमींदार, जाति, पंचायत और जेठाल चौधरी से लेकर, राज्य की वास्तविक

संकल्पना तक पहुंचे होने क्रो उनके सैद्धांतिक प्रतिपादन से स्पष्ट है कि यहां 'राज्य' से उनका आशय भारत सरकार से ही है। तो क्या वो सचमुच यही चाहते हैं कि भारत सरकार तथा सर्वोच्च न्यायालय के प्रति लोग एक 'अमूर्तभाव' और 'रहस्यानुभूति' से ही काम लें और इनके कैसे भी निरंकुश, अमानवीय, मूर्खतापूर्ण या गैरकानूनी कृत्यों का कोई समूह कतई प्रतिवाद नहीं करे ?

जिन दार्शनिक महोदय को मधुजी ने अपनी राज्यसंबंधी अवधारणा की पुष्टि में महामृत्युंजय मंत्र के 'पुष्टिवर्द्धनम्' के तौर पर साक्षी बनाया है, उनके कथन से साफ पता चलता है कि वो अपने किसी पूर्वजन्म में महाराज ध्रुव के वंशज राजा वेन के दरबार में अवश्य रहे होंगे।

राजा (राज्य) के सम्बंध में पौराणिक सम्राट् वेन की 'नयी संकल्पना' भी यही थी कि — 'सब-कुछ राजा से है। राजा के बिना कुछ नहीं। जो भी कुछ प्राप्त कर रहा है, जिसे भी जो-कुछ प्राप्त है, राजा वेन की कृपा से ही। समस्त ज्ञान, सारी विद्याएँ, कलायें राजा से ही अस्तित्व में हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेश या कि अन्य देवगण...ये भी राजा में ही आश्रय पाते हैं।'।

मधुलिमये जी ने यह पौराणिक कथा पढ़ रखी होगी। यह कथा श्रीमद्भागवत में है। मधु जी राजा वेन के हथ से भी परिचित होंगे। इस तथ्य से भी कि जिन ऋषियों-मुनियों ने राजा वेन को नष्ट किया, उन्होंने ही यह भी माना कि — राजा के बिना काम नहीं चलेगा।

तब उन्होंने यह भी तय किया कि — राजा कैसा हो !

राजा अथवा राज्य का द्वन्द्व सनातन है। जब-जब ये मानवसमाजविरोधी होंगे, इनका संहार भी जरूरी होगा। राजा और राज्य, ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। बिना राज्य का राजा या बिना राजा का राज्य असम्भव है। राज्य की नयी संकल्पनाओं के तहत सरकार ही राजा है और सरकार कैसी हो, इस अवधारणा को 'अमूर्त भाव' या 'रहस्यानुभूति' का विषय नहीं माना जा सकता।

राज्य ब्रह्म नहीं। उसके सारे अंग मूर्त हैं। राज्य में कुछ भी अमूर्त असम्भव है। उसके सारे रहस्य समाज से निबद्ध हैं। समाज ही उसका जन्मदाता है। प्रयोक्ता और नियोक्ता भी। समाज के सवालों से बाहर राज्य को ही 'अराजक राज्य' माना जाता है।

जाहिर है कि मधुलिमये राज्य की अराजकता को भी अप्रतिवाद्य ही करार देना चाहते हैं। उनका सारा सैद्धांतिक प्रतिपादन 'किंग कैन नॉट डू रांग' की ही वकालत में है। सर्वोच्च न्यायालय से कैसे-कैसे मूर्खतापूर्ण अथवा अनिष्टकारी फैसले भी होते रहते हैं, इसके उदाहरणों का अकाल नहीं ! अगर इस बात को सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लिया जाए कि किसी भी व्यक्ति या समूह के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के फैसलों का प्रतिवाद नहीं किया, और उसकी सत्ता को ब्रह्मस्वरूप मान लिया, जाना चाहिये, तो आगे कैसे भी काले कानूनों का प्रतिवाद असम्भव ही होगा।

मधु लिमये जी के दार्शनिक मित्र से यह भी पूछना होगा कि क्या मधु जी भी

राज्य के ही दिये हुए हैं ? जाहिर है कि उनका जवाब 'हां' में होगा ।

ये प्राण, आत्मा, चेतना, पृथिवी, आकाश, अग्नि, वरुण, प्रकृति, आदि-आदि किसके द्वारा दिये गए हैं...इस यक्षप्रश्न से ही वाङ्मय की सृष्टि हुई है । विज्ञान की आज भी यही खोज है । अगर मान लिया जाय कि ये सब तो 'रहस्य' का विषय हैं ही नहीं; क्योंकि मनुष्य में — या मनुष्य को — जो-कुछ है, सब राज्य (वर्तमान समय में नरसिंहराव जी की सरकार) के द्वारा दिया गया है, तो आगे ज्ञान-विज्ञान की जरूरत ही क्या रह गई ? तब तो एक 'अमूर्त भाव' से राव साहब की सरकार के प्रति सम्पूर्ण अंधसमर्पण ही नागरिकता की बुनियादी शर्त मान ली जानी चाहिए ?

भारत में आध्यात्मिक सत्तों या साक्षात्कारों के मूलाधार 'वेद-उपनिषद्' माने गये हैं । मधु जी बतायेंगे कि ये किस राज्य या राजा के द्वारा दिये गए ? या कि चूंकि इनमें आत्मसाक्षात्कार अथवा आध्यात्मिक सत्य नदारद थे, इसलिये बिना 'राजा की सर्वोपरिता' के ही सम्भव हो गये ? वाल्मीकि ने तो 'रामराज्य की सर्वोपरिता' का इंतजार किये बिना ही 'रामायण' रच दी थी !

क्या ब्रिटिश हुकूमत में आध्यात्मिक सत्तों को प्राप्त करने या आत्मसाक्षात्कारों पर रोक थी ? या कि जैसा कि पहले ही कहा — ब्रिटिश हुकूमत के जमाने में सुप्रीम कोर्ट नहीं थी ? या कि पृथिवी, आकाश, हवा-मिट्टी-पानी अथवा आंख-कान-नाक-मुँह अथवा गेहूं-चावल-आलू-प्याज-कपड़ा-मकान आदि ? जब ऐसी तमाम वस्तुएं ब्रिटिश हुकूमत के द्वारा भी दी जा रही थीं, और वह भी राज्य ही था — बाकायदे ब्रिटिश सम्राट् का राज्य — तब उसके विरुद्ध किसी भी 'समूह' की चुनौती को सिवा गैरकानूनी हरकत, या हद दर्जे की हिमाकत के और क्या माना जाये ? तब तो हमारा सारा स्वाधीनता संग्राम ही विभिन्न 'जाति समूहों' का 'राजद्रोह' मात्र सिद्ध हो जायेगा ?

आखिर वे कौन-सी वस्तुएँ थीं, जिन्हें देने से ब्रिटिश हुकूमत ने साफ इंकार कर दिया था और इसीलिये उसके विरुद्ध 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' के 'सामूहिक' नारे गूँज उठे थे ?

सब-कुछ था ब्रिटिश राज्य में भी, लेकिन ब्रितानी हुकूमत ने हमें सिर्फ एक वस्तु नहीं दे रखी थी — स्वाधीनता !

एक 'स्वाधीनता' का नहीं होना, बाकी सारी बातों के होने को मिट्टी में मिला देता है और स्वाधीनता का पहला मतलब प्राणों की स्वाधीनता ही होता है और प्राणों की स्वाधीनता का पहला मतलब — विचार और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता !..... 'अनुभूति को आकार देने की स्वाधीनता' ही अवधारणा की स्वाधीनता है और इसे अमूर्तभाव या रहस्य को बनाये रखने के कुतर्कों से नहीं रोका जा सकता ।

तब राज्य की सुस्पष्ट ही नहीं, बल्कि सुनिर्दिष्ट अवधारणा जरूरी होगी । और प्रत्येक समय व प्रत्येक क्षेत्र में; क्योंकि मनुष्य सनातन है ।

आज अगर हम अपने प्राणों की कँपकँपी को भी खुद ही छिपाने को बाध्य है, और राज्य (व्यवस्था) का आंतक हमारे प्राणों तक में जहरीली धुध की तरह छा गया है, तो अपने इस विध्वंस को क्या हम कांग्रेस सरकार (अर्थात् राज्य) के प्रति 'अमूर्त भाव' तथा 'रहस्यानुभूति' को हर हाल में बनाये रखने के लिये चुपचाप झेलते जाएं ?

जबकि जैसा कि पहले ही कहा — अवधारित की सत्ता अवधारक से बड़ी नहीं हो सकती। अवधारणा के मामले में राज्य समाज से प्रथम नहीं है।

राज्य का मूल अवधारक समाज है, समाज का मूल अवधारक राज्य नहीं। मनुष्य में जो-कुछ श्रेष्ठ और सुन्दर है, उसका संवय का उपार्जन है। सारे ज्ञानात्मक तथा कलात्मक उपार्जन मनुष्य के हैं और इन्हें वह प्रकृति या कि सृष्टि में से उपार्जित करता है, राज्य से नहीं।

राज्य सिर्फ व्यवस्था का तथ्य है। मानव (समाज) के द्वारा अपने उपार्जनों को निर्विधन बनाने के लिये ही 'राज्य' की अवधारणा की जाती है। 'नियुक्त' की सत्ता नियुक्त करने वालों से बड़ी नहीं हो सकती। फौजी तानाशाही की बुनियाद ही यही है। उसमें बंदूक सारे वैचारिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक सत्तों से बड़ी हो जाती है। आज की हकीकत यही है।

मधु लिमये जी जाने-अनजाने 'राज्य के सर्वसत्तावाद' की वकालत कर रहे हैं। राज्य से — या राज्य के — ऊपर कोई नहीं और इसलिये उसकी, अथवा उसके अंगों की सर्वोपरिता को कोई व्यक्ति, या समूह कोई चुनौती नहीं दे सकता, यह कठसिद्धांत ही निरंकुश राज्य की नींव है।

तब जानना जरूरी होगा कि आखिर मधुलिमये जी की 'राज्य सम्बन्धी नई संकल्पना' का रहस्य क्या है ; क्योंकि ऐसी मानवनिषेधी तथा समाजविरोधी संकल्पनाओं ने ही राज्य की हिंसा और बर्बरता के सैद्धांतिक मुखौटों का काम किया है।

कहना क्यों जरूरी नहीं होना चाहिये कि आज जो देश-भर में हत्याकाण्डों का एक सिलसिला कायम है, और पेशेवर हत्यारों को संरक्षण देनेवाली राजनीतिक पार्टियों ने एक 'समानांतर राजस्य प्रणाली' विकसित कर ली है, इसमें स्वयं सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका भी उतनी ही है। राज्य की हिंसा (राज्य के द्वारा आयोजित हत्याकाण्डों) में हस्तक्षेप के प्रति सर्वोच्च न्यायालय की उदासीनता और चुप्पी ने ही देश में राजनीतिक पार्टियों के द्वारा संरक्षित पेशेवर हत्यारों के लिये न्यायालयों को हत्यारों और आतताइयों के अभयारण्यों में बदल दिया है।

आज अपने परिजनों — यहाँ तक कि बच्चों — की हत्या होने पर भी सामान्य लोग हत्यारों के विरुद्ध थाने में रपट दर्ज कराने तक से साफ इंकार करने लगे हैं; क्योंकि लोगों को पता है कि न्यायालयों से पेशेवर हत्यारों को कोई सजा दिलवाना असम्भव है। इसी से पिछले बीस वर्षों में पेशेवर हत्यारों के गिरोह लगातार बढ़ते और पल्लावेत होते चले गये हैं। ये सिर्फ आपसी 'गैंगवार' या कि राजनीतिक पार्टियों के इशारों

पर की जाने वाली मुठभेड़ों में मारे जाते हैं।

इसी से कहा कि मधुलियमे जी के 'ब्रह्मस्वरूप राज्य' में अब हमें अपने प्राणों की कँपकँपी को भी स्वयं ही छिपाना है। जो नहीं छिपायें, उनका मारा जाना निश्चित है।

इस प्रकार, मधुलिमये जी के द्वारा मनुष्य के आत्मसाक्षात्कारों तथा आध्यात्मिक सत्यों तक का बंदोबस्त करने वाली भारत सरकार और उसके सर्वोच्च न्यायालय की सर्वोपरिता प्राणों को कँपाने की सर्वशक्तिमानता का अप्रतिवाध प्रतिमान बन चुकी है। प्राणों के प्रति वर्बर यह व्यवस्था दोहरी राजस्व प्रणाली पर टिकी हुई है। एक राजस्व सरकारी कराधानों के आधार पर वसूला जाता है। दूसरा राजस्व माफिया तंत्रों के द्वारा। राजनीतिक पार्टियों और नेताओं का मुख्य स्रोत यह 'दूसरा राजस्व' है। यही हत्या को राजनीतिक संरक्षण का उद्गम है।

आज जो पूरे देश में हिंसा और अनैतिकता का प्रसार बढ़ता ही जा रहा है, इसीलिये कि राज्य ने इसके सामाजिक प्रतिकार के रास्ते खत्म कर दिये हैं। संरक्षा ही नहीं, बल्कि संस्कृति के भी सारे स्रोतों को स्वयं हथियाकर, इस राज्य व्यवस्था ने पूरे देश को आत्महीन बना दिया है। जबकि, जैसा प्रारम्भ में कहा था—आदिकवि वाल्मीकि ने माना कि—प्राण ही सृष्टि के उदय और प्राण ही उसके अस्त का निमित्त है।

पृथिवी पर सबसे बड़ी वस्तु प्राण है, लेकिन आज प्राण ही सबसे सस्ती जिंस हो गया है। हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराने और सद्दाम हुसैन को सबक सिखाने के लिये कई लाख इराकी नागरिकों का सामूहिक नरमेध रचने वाले लोग ही आधुनिक सभ्यता, लोकतंत्र और राज्य की नयी संकल्पनाओं के ठेकेदार बने हुए हैं। हथियारों के सौदागर ही मानवाधिकार आयोगों की नियुक्तियों को सबसे ज्यादा व्याकुल हैं। तब कहना होगा कि हिंसा और हत्या को राज्य की नयी संकल्पनाओं का अपरिहार्य अंग बनाने में मधुलिमये और ए० एन० रे-जैसे महान् चिंतक-विचारक और न्यायवेत्ताओं की भूमिका भी मामूली नहीं है।

किसी का घर उजड़ रहा हो, उजड़े, यह कुटिल वेश्या के ध्यान का विषय नहीं रह जाता। राजनीति को वेश्या करार देते हुए महात्मा भर्तृहरि का आशय भी, शायद, यही रहा होगा कि जो भी राज्य ध्यान नहीं रखे, उसका सारा राजनैतिक ज्ञान बिल्ली की टट्टी है। अन्यथा ध्यान रहे, तो वेश्या भी शरत्चंद्र की राजलक्ष्मी बन जाती है। उसका आलोक गृहिणी स्त्रियों से भी बड़ा हो जाता है।

तब क्या राज्य को ध्यान रहना जरूरी नहीं कि मनुष्य आखेट की वस्तु क्यों हो गया है ?

'रामराज्य' क्या है ? वह 'राज्य के द्वारा प्रजा का ध्यान रखे जाने' का महानतम दृष्टांत है। उसके सामने मधु लिमये, या उनके द्वारा उदधृत्त दार्शनिक महोदय की 'राज्य की नयी संकल्पना' सिवा एक निहायत ही विकृत समाजविरोधी सिद्धांतबाजी के और कुछ नहीं।

नयी हो कि पुरानी — ‘संकल्पना’ स्वयं एक ‘अवधारणात्मक प्रत्यय’ है और राज्य या कि सुप्रीमकोर्टों की प्रश्नातीत सर्वोपरिता या सर्वसत्तात्मकता का कठसिद्धांत प्रतिपादित करना ‘अवधारणा’ पर रोक लगाना है। जब मनुष्य के प्राण, उसकी आत्मा, उसके आत्मसाक्षात्कार और आध्यात्मिक सत्तों को तक ‘राज्यप्रदत्त सामग्री’ मान लिया जाए, तब ‘अवधारणा’ को जगह ही कहाँ होगी ?

‘भारतीय संविधान’ भी अवधारणाशून्य है। उसमें सफेद झूठों को अवधारणाओं की शक्ति दी गई है। इसीसे उसमें राज्य की वह नैतिक अवधारणा पूरी तरह नदारद है, जो संरक्षा को राज्य का मूल और अपरिहार्य दायित्व सिद्ध करे। जो बताये कि —राज्य की अवधारणा और स्थापना का मूल तत्व प्राणों का ध्यान है। अगर प्राणों का ध्यान नहीं, तो सारे ज्ञान-विज्ञान व्यर्थ हैं।

मौजूदा राज्य व्यवस्था के सारे आर्थिक, शैक्षिक, संवैधानिक और सांस्कृतिक समाधान इसी लिये व्यर्थ साबित हो गये हैं कि उद्देश्य प्राणों का ध्यान रखना नहीं, बल्कि कैंपकैंपी उत्पन्न करते रहना है। इसीसे आज राजनीति में सिर्फ बंदूक को ही निर्णायक शक्ति मान लिया गया है। शब्द की किसी भी राजनेता के लिये कोई ऐसी प्रासंगिकता कतई नहीं, जिसे राजनीति को जरूरी माना जा सके। लोकतंत्र के ‘इण्डियन मॉडल’ में भाषा सिर्फ पाखण्ड का साधन रह गई है। तब फिर कहना होगा कि जहाँ प्राण, वहाँ शब्द का निषेध भी होगा जरूर; क्योंकि —प्राण से ही सृष्टि का उदय और प्राण से ही सृष्टि का अस्त है।...

‘काव्य’ और ‘कानून’, ये अगर प्राणों के सवाल से गुंथे नहीं, तो इनका कोई अर्थ नहीं। प्राणों के प्रति उदासीन राज्य की सारी सामाजिक-आर्थिक गतिविधियाँ व्यर्थ हैं। संस्कृति का हत्या की राजनीति का मुखौटा बन जाना ही अपसंस्कृति है। यही ‘वैचारिक संहार’ है। अगर राज्य का तर्क हो कि हत्याएं रोकी नहीं जा सकती हैं, तो यह इस बात का सबूत होगा कि वह स्वयं शामिल है; क्योंकि जैसा पहले भी कहा —बिना राज्य के संरक्षण के पेशेवर हत्यारों का वजूद असम्भव है।

‘भारतीय संविधान’ में ‘हत्या की राजनीति’ को बाकायदे संवैधानिक अभिरक्षण प्राप्त है। इसमें हत्या के मामलों में राज्य को जिम्मेदार बनाये जाने का प्रावधान नहीं है। जबकि कानून का आधार ही प्रतिभूति है। राज्य ‘जानमाल की संरक्षा’ की प्रतिभूति से ही अस्तित्व में आता है। ‘प्रतिभूति में घोटाला’ दण्डनीय अपराध है। ‘संरक्षा के अनुबंध’ को तोड़ते ही राज्य की नैतिक और विधिक, दोनों, सत्ताएं खत्म हो जाती हैं। इसलिये ‘राज्य की नयी संकल्पना या अवधारणा’ का तर्क उपस्थित करते में संरक्षा में अक्षम राज्य के गद्गदीउतार की कानूनी व्यवस्था होना जरूरी है।

जबकि मधुलिमये की ‘राज्य की नयी संकल्पना’ भारत सरकार और उसकी ‘सुप्रीमकोर्ट’ के ‘सर्वसत्तावाद’ का नैतिक आधार मजबूत बनाने वाली है और इसीलिये इस बात का अमूर्त तथा रहस्यमय संकेत भी कि —आगे अभी और भी भयानक हत्याकाण्डों के लिये लोगों को पहले ही तैयार रहना चाहिये।

जब ब्लूस्टार ऑपरेशन, नवम्बर 1984, मण्डल 1990 और विभिन्न साम्प्रदायिक नरमेधों के लिये तक राज्य को कतई जिम्मेदार नहीं माना गया और किसी भी राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री के विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की गई, तब 'पेशेवर हत्यारों' की शिनाख्त ही सम्भव कैसे है ?...और तब प्राणों की कँपकँपी को भी खुद ही छिपाना जरूरी क्यों नहीं होगा ?

'कभी-कभार' के सारे लेख कँपकँपी के बीच ही लिखे गये हैं ('कँपकँपी के बावजूद' कहते डर लगता है।)

हमारे पास—या हमारे निमित्त— किसी भी वस्तु की कोई पारदर्शी अवधारणा कतई नहीं है। सबसे अफसोस की बात है यह कि अधिकांश लेखक, विचारक और पत्रकार ही 'अवधारणा' के निषेध में सरकार और सुप्रीम कोर्ट से भी आगे हैं।

अन्यथा, 'कानून' की अवधारणा में ही यह तथ्य अतर्निहित है कि —अपराधी कोई भी हो। अर्थात् कानून से बाहर, या ऊपर कोई नहीं होगा। ... लेकिन कमाल देखिये कि यहाँ कानून बनाने वालों ने सबसे पहला और पुख्ता काम खुद को कानून से बाहर और कानून से ऊपर रखने का ही किया है। अर्थात्, 'जान-माल की हिफाजत' (संरक्षा) के जिम्मेदार ही 'जान-माल को रौंदने का संवैधानिक अधिकार' लिये बैठे हैं।

न 'ब्लूस्टार ऑपरेशन', न नवम्बर 1984 या मण्डल 1990, राज्य के कैसे भी संघातक कृत्यों का 'परीक्षण' नहीं हो सकता। संरक्षा के सारे मामले राज्य (अर्थात् सरकार) के विवेक के सवाल हैं। भारतीय संविधान में जान-माल की हिफाजत (संरक्षा) को 'राज्य के विवेक का प्रश्न' मान लिया गया है। दो-चार-दस-बीस की कौन कहे, हजारों लोगों के 'सामूहिक नरमेध' के लिये भी राज्य (सरकार) के विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती।

संविधान में मान लिया गया है कि सरकार अगर लाखों-करोड़ों की हत्या का आयोजन भी करे, तो वह हर हाल में— और हर तरह से— राष्ट्रहित तथा जनहित में ही होगा।

जो गद्दी पर बैठा है, वह कभी कोई गलत काम कर नहीं सकता—यह 'भारतीय-संविधान' और सर्वोच्च न्यायालय का 'अंतर्सूत्र' है। इससे हत्यारों, तस्करो और अपहृतताओं को, राजनीतिक पार्टियों ही नहीं, बल्कि संसद में शामिल होने तक के अवसर मुलभ हुए हैं; क्योंकि कानून की जगह विवेक की सत्ता होने से 'राज्य की हिंसा' के प्रतिवाद के सारे रास्ते बंद हैं। जाहिर है कि ऐसी व्यवस्था सिर्फ उन्हीं को संरक्षण दे सकती है, जो कानून के अतिक्रमण में समर्थ हों। जिनको राज्य का संरक्षण प्राप्त हो।

'कानून के राज्य' की अवधारणा के नाम पर 'सरकारी विवेक' के 'एकाधिपत्य' की स्थापना का तर्क यही हो सकता था। यही है।

कानून के अतिक्रमण को निर्द्वन्द्व राज्य कभी भी सामान्य नागरिकों के लिये

सांत्वनादायी नहीं हो सकता। इसीलिये कोई नहीं कह सकता कि अभी राज्य की हिंसा (संवैधानिक आतंकवाद) के कितने भयानक विध्वंसों से, गुजरना होगा। जब नागरिकों का विध्वंस राज्य के अपरिहार्य कृत्यों का सबूत माने जाने की बाकायदे संवैधानिक व्यवस्था हो, तब प्राणों की कँपकँपी छिपाने के सिवा रास्ता भी क्या होगा ?

लोकतंत्र की छाल में नागरिक के नरपेध को स्वाधीन राज्य (सरकार) ही, आज के सारे हाहाकारों का मूल कारण है और राज्य के द्वारा नागरिकों के आखेट का यह सिलसिला आगे और भी भयानक रूप में सामने आना है; क्योंकि इसके विरुद्ध साहित्य, संस्कृति, सोच-विचार, और कला के मूर्खान्यों की बोलती बंद है। उन्हें इसके विरुद्ध नहीं बोलना है। यह राज्य (व्यवस्था) के द्वारा वैचारिक तथा संवेदनात्मक संहार का दौर है। साहित्य, कला और संस्कृति सिर्फ आच्छादन रह गये हैं।

प्राण से ही सृष्टि के उदय और प्राण से ही सृष्टि का विलय होने की अवधारणा नहीं होने से, देश दो तरह के लोगों में बँट गया है। एक तरफ वो है, जो प्राण काँपा रहे हैं — दूसरी तरफ हम है, जिनके प्राण काँप रहे हैं।

यह सिलसिला ठीक नहीं है। इसकी चिंता सबको करनी है।

अंत में, उन सभी सम्पादकों के प्रति कृतज्ञता, जिन्होंने 'कभी-कभार' में के लेखों को महत्त्व दिया। ये एक हिंसक राज्य के असहाय और निसहाय नागरिक व लेखक की हैसियत की व्याकुलता हैं। इसी तर्क से इन्हें ठीक से देगा भी जा सकेगा।

[15 अक्टूबर 1992]

लेखक का काम क्या है ?

एक लम्बा सिलसिला है यह बताये जाने का कि लेखक का काम क्या है । बहस आज भी जारी है और तय है कि तब तक चलेगी, जब तक कि लेखक का काम चलेगा । इस प्रसंग में पहले, लेखक के काम की प्रकृति पर कुछ कह लें ।

एक लकड़हारा दिन-भर कठोर श्रम करके, जंगल से लकड़ियां काट कर लाता और बाजार में बेच कर आश्रितों की रोटी चलाता है, लेखक इस लकड़हारे की कथा आराम से कुरसी या दीवान या फर्श पर बैठे-ठाते लिखता है । अनुभव की प्रामाणिकता का तर्क यहां क्या होगा ? यह देखना कि लेखक को इसका स्वयं का कुछ अनुभव है, या नहीं ? या यह कि लकड़हारे के जीवन को वह कागज पर ठीक-ठीक उतार पाया है, या नहीं ?

हम मानते हैं कि लकड़हारे से कम मेहनत में लकड़हारे की जिंदगी को कागज पर उतारना संभव नहीं । बात को जरा और साफ-साफ कहें । होरी दिन-भर खेती में कमरतोड़ मेहनत करता है । प्रेमचंद खुद खेती नहीं करते, बल्कि उसके इस काम को पूरा समय ले कर बहुत फुरसत और इत्मीनान से, सिर्फ कागज पर उतार देते हैं । कह लें कि प्रेमचंद होरी की तरह के खेतिहर खुद नहीं, लेकिन सवाल फिर वही कि लेखक के लिए अनुभव की प्रामाणिकता की कसौटी क्या होगी ? खुद खेती के कामों में निष्णात होना, या कि अगर किसी खेतिहर के जीवन को रचना का विषय बनाये, तो उसके दुःख-सुख-आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, राग-अनुराग और आकांक्षाओं को इस भांति कागज पर उतार देना कि पढ़ते हुए हमें लगे कि जितना गहरा और मर्मस्पर्शी साक्षात्कार हम उसके जीवन का कागज पर कर पा रहे हैं, वैसा तो तब भी नहीं कर पाये, जबकि उसके जीवन को आँखों से देखते रहे ?

ऊपर के तर्क से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि खेतिहर नहीं होते हुए भी प्रेमचंद अगर होरी को सही-सही लिख ले जाते हैं, तो फिर और कौन-सा प्रमाण चाहिए ? और होरी अगर कागज पर अपने पूरे अस्तित्व में नहीं उतरा, तो प्रेमचंद सही लेखक नहीं । प्रेमचंद ने कितनी खेती की, कौन जानता है ? हमारा मानना है, देखी जरूर होगी, मगर कलम का प्रेमचंद से बड़ा खेतिहर खोजने चलिए, तो क्या संभव है कि मिल जाए ? लिखना कागज पर खेती करना ही तो है ।

अब इसी आधार पर हम कहना चाहेंगे कि अगर लकड़हारे की कथा में लकड़हारा अपनी पूरी मेहनत-मजदूरी, दुख-सुख और नियति के साथ नहीं उतरा है, तो लेखक

18 कभी-कभार

लकड़हारे से घटिया है।

लेखक का काम मूल से बेहतर उतारना है। कला हो कि विचार, लकड़ हो कि पत्थर, आग हो कि पानी, हवा हो कि मिट्टी, पृथ्वी हो कि पाताल, आलू हो कि आसमान—सबका लेखा-जोखा कागज पर मूल से गया-बीता नहीं, बल्कि हमारे देखे-सुने और अनुभव किये हुए से बेहतर है, तो ही हम मानेंगे कि लेखक ने अपना काम पूरा किया है।

यह काम का हमारी कसौटी पर खरा उतरना ही उसके लेखक होने का सबूत है। यदि काम में कसर या खोट है, तो इस दावेदारी का कोई मतलब नहीं कि उसने खुद कितनी खेती-बाड़ी, मेहनत-मजदूरी, दुनियादारी या कलाकारी की है। कितने अपूर्व प्रेम किये, कितने कठोर संघर्ष। अन्याय और शोषण के विरुद्ध कितनी लड़ाइयाँ लड़ीं। किसान-मजदूरों के जुलूसों में लाल ध्वजा हाथों में लिये, शोषित-पीड़ित जनता को कितने लाल सलाम दिये। रूप और कला, दर्शन और विचार, धर्म और राजनीति, मानवजाति और संस्कृति के कितने समुंदरों को थाहा। इन सारी चीजों का हमारे लिए कोई मतलब नहीं, अगर इस सबकी गवाही हमें लिखे हुए से नहीं मिलती हो।

हमारे यकीन को एकमात्र सबूत उसका लिखा हुआ काम है। लेखक के किये हुए काम की कोई वकत नहीं, उसके कैसे भी कर्मयोग, या संघर्ष की कोई प्रासंगिकता नहीं अगर कि उसका सारा आपा उसके लिखे में बोलता सुनाई नही पड़े; क्योंकि लेखक का काम आदमी के किये हुए ही नही, बल्कि आदमी के करने-योग्य काम को भी लिखना है। इस मामले में लिखने का काम खेती-बाड़ी के काम से कम मुश्किल नहीं है।

प्रेम, युद्ध, खेती-बाड़ी, धर्म-राजनीति, क्रांतिवादी जलसों में शिरकत, आदमी के संघर्ष, सौंदर्य, दुख-सुख और हंसने-रौने में साझेदारी—इस सबको व्यवहार में जीने से कहीं ज्यादा कठिन है, कागज पर उतारना। आदमी को कागज पर उतारने की विद्या, वह भी भाषा में, आसान नहीं; क्योंकि आदमी को उसकी वास्तविक और पूरी स्वाधीनता सिर्फ कागज पर ही मिल पाती है। कागज आदमी को खुला खेत है। इतिहास साक्षी है कि आदमी की सबसे उत्तम फसलें कागजों पर ही तैयार हुई हैं। आदमी की नस्ल का सबसे प्रामाणिक दस्तावेज साहित्य रहा है। दुनिया के श्रेष्ठतम आदमी वे हैं, जिन्हें कवियों के द्वारा कागज पर उगाया गया है।

आदमी अपने पूरे ताम-झाम, हर्ष-विषाद, अवसाद-उल्लास, गीत सगीत, हास्य-रुदन, पलायन-संघर्ष, काम-क्रोध, दया-धर्म और रूप-विरूप के साथ सिर्फ साहित्य में उपस्थित मिलता है। बाहर तो उसे जाने कितनी बाधाएं हैं, सागोपांग वह सिर्फ कागज पर है; क्योंकि कागज पर वह जीवन-भर के संवेदनात्मक तथा वैचारिक तप के बाद लिखा गया आदमी है।

लेखक का काम ही यही रहा है, आदमी को लिखना। राज्य के कोड़ों की फटकार

में कितना-कुछ आदमी ने अपने भीतर ही दबा लिया, इसकी फेहरिश्त हमें सिर्फ साहित्य में ही मिलती है। बड़े-बड़े इतिहास, दर्शन, सिद्धांत-ग्रंथों में भी आदमी अपने समग्र अस्तित्व में उपस्थित कहीं नहीं मिलेगा; क्योंकि अपने सारे हर्ष-विषाद, संघर्ष-सौंदर्य, आशा-निराशा और राग-विराग में अगर कहीं दिखाई देगा आदमी, तो सिर्फ साहित्य में। इसलिए कि एक लेखक ही है, जिसका काम आदमी को स्वाधीन रखे बिना नहीं सधता। दार्शनिक जहां उसे अपने हिसाब से सोचना चाहता है, वहीं साहित्यकार का काम है उसे खुद उसके ही रंगों में उतारना। लेखक का काम सबसे अलग काम रहा है, इसलिए आदमी जितना साहित्य में बोलता सुनाई दे जायेगा, कहीं नहीं। हमारे कागज खोलने की देर है, कागज पर का आदमी अपनी गाथा खुद बोलना शुरू कर देता है। हमारे लेखे यही है लेखक का काम कि आदमी अपना हाल खुद सुनाता दिखाई पड़े। श्रेष्ठ लेखकों ने इसलिए ही, आदमी से बयान दिलवाये नहीं है, बल्कि आदमी जो बयान देता गया, उसे लिखा है।

लेखक का काम अपनी इस औकात को समझना भी है कि उसे आदमी को अपने हिसाब से चलाना नहीं, बल्कि आदमी कैसे चला, कितना चला और क्यों चला, इस बात को कागज में दर्ज करना है।

जो लोग बताते हैं कि लेखक का काम मजदूरों, किसानों, कामगारों, छात्रों, आंदोलनकारियों के जुलूसों में शामिल होना, लाल झंडा खुद भी उठाये अपने भी उन्हीं में से एक होने की गवाही देना और जनता के बीच में जाकर, जनता से सीखना या कि अला व फला के सिद्धांत, दर्शन या संदेशों के हिसाब से आदमी का विचारधारात्मक बपतिस्मा करना है—उन्हें इतना बताने की गुस्ताखी हम भी करना चाहेंगे जरूर कि अगर इतने से ही काम चल जाता होता, तो लेखक का काम सचमुच कितना आसान हो गया होता।

लेखक ही क्यों, जो अपना काम खुद नहीं जानता, वह नौसिखुआ है और जो नौसिखुआ है, उसके वश का काम आदमी को लिखना नहीं; क्योंकि आदमी से ज्यादा कठिन वस्तु इस संसार में कुछ नहीं। इधर आपने कागज संभाला और उधर जाने पलक झपकते में वह कब ओझल हुआ, कब विद्यमान।

बिना उसका मतलब ठीक-ठाक समझे ही लिखने का कभी कोई मतलब नहीं निकला। जहां उसे लिखने का इरादा किया गया, वही वह समझ गया कि उसकी हैसियत क्या है। उसे अपनी शर्तों पर चलाते ही वह पुतला बन जाता है। लेखक की कसौटी है कि उसने पुतला लिखा कि आदमी। जो-कुछ हम लिखते हैं, अगर उसमें आदमी उतना ही बोल पाता है, जितने से हमारा मतलब सिद्ध होता, और हम पर कोई जोखिम न आता हो, तो यह कोई कठिन काम नहीं है। लेखक का काम यह नहीं।

आदमी जब उपस्थित है, तो अपना बयान उसे खुद देना है। हमें जुलूसों, राजनीतिक दलों, सिद्धांतों, विचारधाराओं और अपने शुभ-लाभ के हिसाब से तैयार किया गया बयान थमा कर, इस भ्रांति में नहीं रहना चाहिए कि काम बन गया।

आज देश और समाज की जो दुर्दशा है, वह साहित्य में सिर्फ इसीलिए ठीक-ठाक प्रकट नहीं हो रही कि अपने निहित स्वार्थों के दायरों से बाहर आ कर जो-कुछ इस देश का आदमी कह रहा या कहना चाहता है, या जो-कुछ कहना चाहिए—हम उसे लिखने को तैयार नहीं हैं।

आदमी को लिखना सचमुच बहुत कठिन काम है। उसके लिए चरित्र जरूरी है लेखक के चरित्र और उसके कर्म की मांग है कि वह आदमी के बयान को ज्यों-का-त्यों लिखे। उसे सिर्फ शब्दों की स्वतंत्रता है, बयान की नहीं। लेखक को आदमी का कहा, अपने शब्दों में लिख देना है। लिखे गये में शब्दों का आदमी के हिसाब से चुना गया होना साफ दिखाई पड़ना चाहिए। हम ऐसा प्रायः नहीं लिखते हैं।

आज देश का नितांत सामान्य आदमी भी सवाल कर बैठता है कि 'क्यों हो, भइया, ई ससुर राजीव गांधी चार दिन का उड़ाका इतने बड़े मुल्का का प्रधान काहे बना दिया गवा ? बाकी सारे ससुरे क्या इस लौंडे से कमअकिल रहे, जिसका कि इस मुल्क से न जोरू-जाँते का रिश्ता—न हवा-पानी, मिट्टी से वास्ता !'

लेकिन हम इसे नहीं लिखेंगे ज्यों-का-त्यों। इसलिए नहीं कि राजीव गांधी बुरा मान जायेंगे। इतना हम भली भाँति जानते हैं कि राजीव गांधी को मच्छर के भिनभिनाने से ज्यादा परेशानी हो सकती है, हमारे लिखने से कम; क्योंकि हम जो-कुछ लिखते हैं, बहुत दूर तक की सोच-समझकर लिखते हैं। जैसा आदमी बताता है—या कि उसे बताना चाहिए—वैसा नहीं लिखते हैं।

ऊपर हमने सिर्फ एक दृष्टांत दिया है। इस सिलसिले में ही यह सवाल भी कि क्या यह बताना लेखक का काम सचमुच नहीं कि देश का प्रधानमंत्री कैसा है ? जबकि हर लेखक जानता है कि इतना तो पहले ही कहा जा चुका कि—राजा कालस्य कारणम् ! तब अपने समय के उस सर्वोच्च शक्तिमान के बारे में गुमसुम ही रहना लेखक की किस बात का सूचक माना जाये, जिसके कर्मों की छाया पूरे देश, काल और समाज पर मंडराती हो ?

क्या है कि जब देश-काल और समाज के सवालों पर मूर्खन्य गुमसुम हों, तो सामान्यों की कैसी भी गहरी आवाज का कोई प्रभाव नहीं बनता। राजनीति, भाषा, संस्कृति, राष्ट्रीयता और शासनप्रणाली—इन सबके प्रति मूर्खन्य लेखकों के गुमसुमपन, या अधूरे चित्त के उदगारों, के कारण ही आज विचार के क्षेत्र में इतना गहरा सन्नाटा छाया हुआ है कि आदमी डूबता मालूम पड़ने लगा है।

यहा आकर हम कहना चाहेंगे कि लेखक खुद लेखक से पहले आदमी है और आदमी होने के सारे स्वाभाविक भय और प्रलोभन उसको भी सबके समान ही व्यापने हैं, लेकिन जिस क्षण कोई लेखक बनने का इरादा करता है, कर्म की शर्तों से बंध जाता है। ऐसे में वह लेखक की हैसियत से जो-कुछ, जैसा और जिन शब्दों में कहना चाहता हो, वैसा कहते में अगर चारों तरफ, अगल-बगल झांक और अपने स्वार्थों को

संभाल-सहेजकर, तब कागज सामने रखता है, तो साफ है कि वह लेखक का काम नहीं कर रहा है।

पन्ने पलटकर देख लीजिए, भाषा, राष्ट्र, धर्म, राजनीति, कला, संस्कृति, व्यवस्था या स्वाधीनता के सारे सवालों को लेखकों ने खुद के स्वार्थों और दायरों के हिसाब से कतर-ब्योंत दिया है। यह कारण है कि लेखक की साख नष्ट होती गई है। फिलहाल हम लेखकों के तथाकथित राष्ट्रीय स्वाधीनता के बाद के रवैये को ले कर कुछ बातें कहना चाहेंगे और यह कि आज जो देश में चेतना, संवेदना और आस्था का इतना भीषण उजाड़ दिखाई पड़ रहा है, इसमें लेखकों का हाथ कितना है ?

जैसा कि पहले भी कहा, लेखक का काम है आदमी के हाल-चाल को मूल से बेहतर, या कह लें कि सच-सच और चौकस बताना। आदमी के बारे में सच-सच बताने का मतलब होता है, देश-काल और समाज के बारे में सच-सच बताना। अब जरा कागज के छपे हुए अम्बार में देखें कि क्या समय, समाज और देश का अंतरंग और सच्चा चिट्ठा यहां मौजूद है ?

आस-पास, इर्द-गिर्द, दूर-दराज, हाट-बाजार, मसजिद-मदिर, कोर्ट-कचहरी, सड़क-फ़्तर, मेले-ठेले में, इस देश के कहीं के बाशिंदों की भी शक्तों का जरा लेखकों के लिखे कागज पर की तस्वीरों से मिलान करके देखिये कि क्या लेखक ने अपना काम सचमुच ईमानदारी से किया है ? बताया है कि हाल कैसा है, या कि कैसा होना चाहिए ?

आदमी अगर आईने में अपनी शक्ति देखता है, तो कुछ भी गड़बड़ देखते ही बड़ी देर तक बहुत ध्यान और फ़िक्र से देखता रह जाता है। लेखक का लिखा कागज क्या कांच से भी बदतर और भोंथर है कि आदमी उसमें अपनी शक्ति देखे और देखता ही न रह जाये कि—यह कौन है जिसने उसे बाहर-भीतर, सब तरफ से दिखा दिया है ? पूरे देश में कहीं किसी ठौर भी क्या आपको ऐसे लोग दिखाई पड़े, जिनसे दुआ-सलाम, बात-व्यवहार, मुहब्बत-तकरार या सलाह-मशविरे में लगे कि ये अपने बारे में लेखकों के द्वारा लिखा पढ़ चुके हैं ?

रात-दिन किताबें छप रही हैं और हजारों रंगारंग पत्रिकाएं और अखबार। लेखकों की कलम आदमी का 'ब्लूप्रिंट' कागज पर नक्श किये चली जा रही है, लेकिन किसी के चेहरे पर न कहीं कोई आभा है, न शिकन; क्योंकि जो-कुछ लोगों ने इनमें पढ़ा है, उसमें देश, धर्म, संस्कृति, शिक्षा, राजनीति, अर्थव्यवस्था, न्यायपालिका, कार्यपालिका, रूस, इंग्लैंड, अमेरिका, ईरान, चीन, बगदाद, नाइजेरिया आदि ग्लोब के अग चहरे जितने मौजूद हों, उनकी खुद की शक्ति या आशा-आकांक्षाओं अथवा फजीहतों-परेशानियों का सही-सही रोजनामचा कहीं नहीं है।

धर्म, संस्कृति, शिक्षा, संसद, विधानसभा, दूरदर्शन-आकाशवाणी, दफ़्तर, बाजार और कोर्ट-कचहरी ने उसका खुद का हुलिया क्या से क्या बना दिया ? क्या वह

22 कभी-कभार

होना चाहता था, कैसा उसे होना चाहिए और कैसी उसकी शक्ति निकल आयी है ? इन सबकी चपेट में उसने क्या-क्या अनुभव किया और कहा — इस सबका कागज पर कहीं कोई ऐसा अभिलेख नहीं, जिससे पता चले कि उसके बारे में उसके समय के सारे लेखक कितने चिंतित हैं, और कि संवेदन-विचार के कितने झंझावातों से गुजरते हुए उसके साथ । इसी से कागज पर की लिखत को पढ़ने के बाद, वह कभी भौचक खड़ा नहीं रह गया कि अरे यह कौन था, जो उसके बाहर के हालचाल ही नहीं, बल्कि निरे एकांत में किये और कहे-सुने और प्राणों पर बीती को भी राई-रत्ती कागज पर दर्ज करता चला जा रहा था ?

आदमी का अभिलेख नदारद, या धुधला होता जा रहा हो, तो लेखक को तुरंत समझ लेना चाहिये कि उसके भी बुरे दिन नजदीक आये चले जा रहे हैं; क्योंकि उसकी कोई भी वक्त सिर्फ तभी तक है, जब तक कि वह आदमी के दस्तावेज आदमी के पक्ष में तैयार करता रह सके । लेखक का काम, शायद, इसके सिवा और कुछ नहीं है ।

हर लेखक जानता है कि सिर्फ पढ़ने को कोई नहीं पढ़ता । और यह भी कि ध्यान से पढ़ता और दूर तक याद रखता है आदमी सिर्फ उतना ही, जितने में कि उसे अपने अक्स दिखाई पड़ें; हम खुदके अनुभवों से भी जान सकते हैं कि जितने भी कागजों पर आदमी खुद को पाता है, कभी-न-कभी फिर से पलटता जरूर है ।

न सही किताब को दुबारा पलटकर, स्मृति से ही । आदमी सिर्फ तभी ठिठकता, चौकता, ताकता, झांकता, नाचता-कदूता, हंसता-रोता, आनदित या आग-बबूला होता है, जबकि चीजों से उसका खुद का वास्ता पड़े । लेखक का काम यही है आदमी का चीजों से वास्ता जोड़ना । उसे बताना कि तुम जैसे कल चले जा रहे थे, ज्यों-के-त्यों आज भी चले जा रहे हो, तो यह तुम्हारे आदमी होने की गवाही नहीं है; क्योंकि आदमी इस जगत का सबसे ज्यादा चलायमान जंतु है । उसे तो अपनी शक्ति और अक्ति, दोनों में कुछ-न-कुछ परिवर्तन और इजाफा करते और हर चीज पर सोचते-विचारते चलना है । जिये हुए की गवाही देनी है ।

आदिमकाल से आज तक का इतिहास गवाह है कि जगत आदमी के चलने-फिरने के हिसाब से ही परिवर्तित होता आया है । उससे ज्यादा संक्रमणशील कुछ नहीं । वह मोहताज नहीं कि दूसरों के करवट बदलने पर ही खुद भी करवट बदले । समाज की एक इकाई होने के नाते, उसे यह चेतना जरूरी है कि जब भी वह करवट बदलता है, न जाने कितने लोग ठीक उसी वक्त और बिल्कुल उसी तरह से करवट बदलते होते हैं; क्योंकि अकेला वह कहीं नहीं है, कभी नहीं है । न था । जो लेखक आदमी की इस संक्रामकता को उसके अपूर्व, अपरिमेय जातीय तत्वों को कागज पर उतारने की प्रक्रिया में नहीं जुटा है — दूसरों का चाहे जितना, लेकिन अपना काम वह नहीं कर रहा है ।

प्रारम्भ में जो सभा, जुलूसों, रैलियों, हुजूमों, पार्टियों, संगठनों में झंडा उठाये या गाड़ते चलने को लेखक का असली काम मानने से इंकार था, इसीलिए कि लेखक का इन सारे के-सारे ठिकानों में शामिल होना भी कोई मतलब नहीं रखता अगर कि वह उनके हिसाब से शामिल हुआ हो, जिनका काम कि आदमी को उसके अपने कुदरती रंगों में देखना नहीं है।

लाल, भगवे, हरे या पीले, किसी भी रंग के झंडे हाथों में उठाये चलते लोग आदमी के हक में कभी कोई सकारात्मक परिवर्तन घटित नहीं करते, अगर कि उन्हें ठेके पर लिया गया हो। यानी आदमी को उसके मुकाम नहीं, बल्कि अपनी सराय तक ले जाया जा रहा हो।

लेखक का काम यह बताना है कि आदमी को किसके द्वारा कहां, कितनी दूर तक और क्यों ले जाया जा रहा है। आदमी की इस त्रासदी का लेखक से बड़ा साक्षी कोई नहीं कि धर्म, राजनीति, रोजगार, सिद्धांत, विचार के ठेकेदारों ने उसे अपने हिसाब से चलाने की मुहिम आज तक नहीं छोड़ी है। इसलिए, लेखक अगर किसी जुलूस, आंदोलन या संगठन सभा में शामिल दिखाई पड़े, तो यह इस बात का सबूत होना चाहिए कि इधर मामला सच्चा है। यानी यहां आदमी ठेके पर नहीं। राजनीति में यह स्वाधीनता-संग्रामों में देखा जा सकता है। जहां सच्चा और पारदर्शी नेतृत्व मिला, आदमी का हुजूमों की शक्ति में उमड़ना दासता के विरुद्ध विप्लव खड़े कर देता है। जबकि जाति, धर्म, मजहब, नस्ल और निरंकुश राज्य की वकालत करने वाली विचारधाराओं की राजनीति करने वाले लोग आदमी को समाज की जगह भीड़ में बदल डालते हैं। तब सबसे पहले आदमी की अकल पर पर्दे डाले जाते हैं। उसकी शक्ति तक खुद के इस्तेमाल की वस्तु बना ली जाती है।

लेखक का काम है — कागज पर शक्ति उतारना।

आदमी, जुलूस, देश, काल, समाज, खेती-बाड़ी, जंगल-पहाड़, नदी-नाले, धरती-आसमान — आदमी का वास्ता जिससे और जहां तक हो, सबकी तस्वीर सामने रखना। आदमी को ध्यान दिलाते रहना कि उसके कहीं भी आने-जाने, रहने, कुछ भी देखने, सुनने या बोलने-बतियाने का कोई मतलब नहीं, जब तक कि वह अपने आर-पार तक की चीजों को ध्यान में रखता न चले। उसके कुछ भी करने का कोई अर्थ तभी होना है, जबकि वह सचाई, या कि सच्चे लोगों, के साथ शामिल हो।

आदमी का ध्यान रखना और आदमी को ध्यान दिलाना, अगर लेखक यह काम नहीं कर रहा है, तो तय है कि वह अपना काम नहीं कर रहा है।

लेखक को यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि इस मुल्क में कागज पर लिखा पढ़नेवालों की संख्या बहुत थोड़ी है और इन्हें भी इतने धोखों में फंसा लिया गया है कि लोगों को अब अपनी शक्ति जितनी शीशे में दिखाई दे रही है, कागज पर नहीं ! क्योंकि ऐसे कागजों से इनका रिश्ता बनने ही नहीं दिया जाता, जिनमें जीवन की सच्चाइया दर्ज हों।

इसमें क्या शक कि झूठ के रंग हजार हैं और अगर आदमी की आत्मा की आख नहीं खुली, तो उसका झूठ के मायाबाजारों के हवाले होना निश्चित है। लेकिन फिर भी कहना होगा कि जहां आंख खुली — आदमी सभाल-सहेज कर रखता है सिर्फ उसे, जिसमें उसे अपना आपा दिखाई देता हो। और आपा, किसी को भी, दिखाई देता है सिर्फ सच में। सच की पहचान ही यही है कि उसमें हमें अपना आपा झिलमिलाता दिखाई पड़े।

आईने ने अगर हमें हमारी शक्ति नहीं दिखाई है, तो वह झूठ है। वह हर कागज झूठा है, जिसमें हमारी खुद की झलक नहीं। खुद की ऐसी पारदर्शी, कौंधती व झिलमिलाती झलक कि हम कुछ देर इसी सोच में ठिठके रह जायें कि नहीं, इतनी लापरवाही और जड़ता से चलना ठीक नहीं; क्योंकि हमारी हर गतिविधि को कोई देख ही नहीं, बल्कि कागज पर उतारता चल रहा है।

लेखक का कुल जमा काम ही यही है कि आदमी अपना मिलान कागज पर लिखे से करे, तो पाये कि सब कुछ हूबहू है। शक्ति भी, आवाज भी, रूप भी रंग भी। यानी हमारे बारे में जो-कुछ कहा गया, सच कहा गया है। सच के सिवा कुछ नहीं कहा गया है। लेखक की जब तक यह छवि नहीं बनती कि वही है, जो आदमी का सच्चा बयान जारी कर सकता है, तब तक उसकी कोई साख बननी नहीं।

अब हम देखें कि क्या आजादी के इन चालीस वर्षों में हमने आदमी के बारे में, या आदमी का दिया हुआ अथवा खुद अपनी तरफ से उसका कोई सच्चा और पूरा बयान जारी किया है? ऐसा बयान, जिसमें भीतर की एक-एक धड़कन तक बोलती सुनाई पड़ती हो? जिसमें आदमी सचमुच 'हूबहू' हो?

इतना तो हम भलीभांति जानते हैं — और हमें जानना ही चाहिये — कि जब भी हम कुछ आदमी के बारे में कहें, वह पूरे देश, काल और समाज के बारे में कहा गया होता है। अगर पूरे देश, काल और समाज के बारे में कहा गया न दिखाई-सुनाई पड़े तो साफ है कि आदमी के बारे में भी नहीं कहा गया है; क्योंकि आदमी, व्यक्ति के तौर पर भी, सागर में की लहर ही है।

आदमी स्थान और समाज-समेत है। आप उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव प्रदेश के आदमी के बारे में बताइये — या कि गली-मोहल्ले के — वह एक-दूसरे के बारे में बताया गया होगा जरूर।...क्योंकि आदमी की चाल-ढाल और उसका हाल-चाल सब जगह आदमी की ही तरह का होगा। वह पशु-पक्षियों, नदी-पहाड़-वनस्पतियों के बारे में भी बतायेगा, तो साफ लगेगा कि अपने बारे में भी बता रहा है। बशर्ते वह झूठ नहीं बोल रहा हो।

सचाई की बात इसी तर्क में उठाई गई थी कि सच ही है, जो आदमी को समाज से भी जोड़ता है, देश और काल से भी। वह सागर की लहर की भांति देश-काल का अंश है। अगर एक आदमी के बारे में सच बोला जाये, तो वह हर आदमी के बारे में बोला गया सच है। सच कहिए चाहे किसी से, और चाहे किसी के भी बारे में, लेकिन

चौकेगा और ठिठकेगा वह प्रत्येक, जिसके भी कानों तक भनक पहुँचेगी ।

लेखक का काम यही है । झूठ की दीवारों को फांदते आदमी के सच को आदमी तक पहुंचाना । जिन कागजों पर यह काम किया गया हो, उन्हें बेकार नहीं होना है । ऐसे तमाम कागजों को आदमी ने जब और जहां पाया है, संभाल कर रखना जरूरी समझा है । यह बात दीगर कि उसके शत्रुपक्ष ने सचाई के जिन दस्तावेजों को नष्ट करना संभव नहीं हो पाया, उन्हें ग्रंथागारों तक सीमित जरूर कर दिया, ताकि विरले ही लोग वहां तक पहुंच सकें ।

आज जो हमारी कोई साख नहीं समाज में, इसका एक कारण साहित्य को ग्रंथागारों तक सीमित बना देने की साजिश भी है । दूसरे, शायद, हमने भी यह सच आज तक नहीं पहुंचाया ठीक-ठीक, इस देश के आदमी तक, कि जब तक प्रेतबाधा न जाये, प्रेत के चले गये होने से कोई फर्क नहीं पड़ता । अंग्रेजों ने स्वाधीनता आंदोलन के जागर से तग आ कर इस मुल्क से डेरा हटा लिया, लेकिन उनकी प्रेतछाया यहा ज्यो-की-त्यो मौजूद ही नहीं, बल्कि दिन-दिन उसकी जकड और गहरी होती जा रही है । संविधान, भाषा-धर्म-संस्कृति, शिक्षा, राजनीति, न्याय, कानून-प्रशासन-ह्वाट बाजार और खान-पान — हमारे सारे ठिकानो के कार्यकलाप इस प्रेतबाधा से ग्रस्त हैं, और कमाल यह है कि हम दसियों शताब्दियों के गुलाम अपनी इस भयावह दुर्गति से उदासीन, राष्ट्रीय अखंडता के जाप में धुत्त हैं ।

हमें इतना भी चेत नहीं कि जो अपनी चेतना, भाषा, संस्कृति, और संवेदना में खंड-खंड हों, जो आपस में धर्म, जाति और नस्ल-वर्ण के घमासान मर्कटयुद्ध मचाये हुए हों — जो कभी 'जय बजरंगवली' कभी 'या अली ! और कभी 'सत श्री अकाल' अथवा 'अलाना अमर रहे !' 'फलाना अमर रहे !' का मत्थाफोड़ कायम किये हुए, 'खून का बदला खून से लेंगे' के पैशाचिक नंगनाच में उन्मत्त होते देर न लगाते हों — जिन्हें धर्म, और राजनीति के ठेकेदार जब जिस तरफ और जितनी नंगई में दौड़ाना चाहें, लाखों-लाखों की संख्या में शिकारी कुत्तो, या जंगली भेड़ों की तरह दौड़ा सकते हों — ऐसे लोगों की सारी राष्ट्रीय अखंडता सिवा एक जहालत के और कुछ नहीं । इन जहालतों ने हमारे सामने-सामने अपने रंगारंग जिदा नंगनृत्य उपस्थित करके देश की आत्मा को चीथड़े-चीथड़े किया है, लेकिन हमने आँखें फेर लेना ही पर्याप्त समझा है । जब देखा ही नहीं — कभी दहशत और कभी चालाकी में — तो लिखते क्या ?

जब हम इतनी -सी सचाई भी कभी सामने रख ही नहीं सके कि विदेशी भाषा में शासन चलाने वाले तथाकथित स्वदेशी लोग देश के भूगोल-खगोल ही नहीं, बल्कि उसकी आत्मा तक को गुलामी की गंद से ढंक देते हैं, तो और क्या बताते ।

विदेशी भाषा में शासन करने वाले लोग ही अखण्ड राष्ट्रीयता के झंडाबरदार हों, तो तय है कि राष्ट्रीयता के सारे बुनियादी सवाल सिरे से समाप्त किये जा चुके

होंगे और औपनिवेशिकता ही राष्ट्रीय अखण्डता का रंगारंग मुखौटा लगाये निर्दुद विचरण कर रही होगी।

औपनिवेशिक शक्तियां देश में अंग्रेजी के माध्यम से, औपनिवेशिक मानसिकता की अफीम की खेती कर रही हैं। यहां का हवा, पानी, अन्न, वस्त्र, माल-असबाब अंग्रेजों के रक्तबीज उगाने में खपाया जा रहा है। गोरे साहबों की प्रेतछाया काले साहबों में उतारने का धधा दून से लेकर दोहरीघाट तक चालू है। संस्कृति की सरक्षा के दावेदार अपसंस्कृति की कुत्सा घर-घर उलीच रहे हैं। हमारी स्वाधीनता और मौलिक अधिकारों के अभिरक्षक ही न्याय और कानून को काले बाजार में खरीदफरोख्त का सामान बना चुके हैं। शराब को मौत का पैगाम बतानेवाले ही घ-घर शराब की बोतले पहुंचाने में मशगूल हैं। भरत की रामपादुका के दृष्टांत बंधारने वाले दिल्ली तख्त पर अंग्रेजों की जूती सजाये बैठे लोगों के प्रति चुप्प है।

जिस संसद में इस देश की अस्मिता के सवाल हल होने थे, वहां आज बोफोर्स और फेयरफैक्स, राष्ट्र के सारे सुलगते सवालों से ऊपर विद्यमान हैं। बेरोजगारी, महंगाई, उत्पीड़न, शोषण और पजाब में लगी आग से ध्यान हटाने को बाबरी मस्जिद-राम जन्मभूमि के खत्ते में मशाले घुमाई जा रही हैं।

जब तक हम एक जगह की आग का जवाब मागें, तब तक दूसरी जगह कंडे-सरकंडे तैयार हैं। अगर यह सब सिवाय झूठ के कुछ नहीं है, तो भी लेखक का काम यह बताना बिल्कुल है कि ऐसा कहीं नहीं है। कदाचितसच है, तब लेखक का काम ही यही है कि बताये। यो ही सेंट-मेंत में नहीं, पूरी गवाहियों के साथ बताये कि इस सबका इस देश के आदमी की शक्ति और सेहत पर क्या असर पड़ा है ?

लेखक का काम है उस आदमी को कागज पर खड़ा करना, जो चालीस सालों की तथाकथित आजादी के साये में सैकड़ों वर्षों की गुलामी की मार से भी ज्यादा मरगिल्ला दिखाई देने लगा है। जिसके चेहरे की रंगत ही नहीं, आत्मा का आलोक भी उजड़ चुका और दहशत ही जिसकी खाल का सदाबहार तत्त्व बन गई है। जिसे सामने देखते ही मालूम पड़ता है कि जीता-जागता चलता-फिरता अंधेरा सामने खड़ा है। जिसके चीथड़ों ही नहीं, बल्कि सूट-बूट तक से एक दुर्गंध फूट रही है। किसी से गरीबी, तो किसी से गलाजत की दुर्गंध !

लेखक का काम है, यह सही-सही बताना कि आखिर इस मुल्क के फदेहाल से लेकर आलीशान फ्लैटों में विराजमानों तक की संवेदना और चेतना का काठ हो जाना किस बात का सबूत है ? राष्ट्र की अखण्डता, या कि राष्ट्रीयता की चेतना की दुर्दशा का ?

अगर हम झूठ कह रहे हैं, तो सचाई क्या है, यह भी लेखक को ही बताना होगा; क्योंकि सच बताये बिना लेखक का आगे निकल पाना सम्भव नहीं। झूठ उसे जहां-का-तहां गाड़ देता है।

हम फिर इस बात पर आना चाहेंगे कि लेखक का काम आदमी को आदमी के निशान बताना है, झडा हाथों मे थामे या कागज काले करते हुए खोखले नारे लगाते फिरना नहीं। उसकी आवाज अगर उसके लिखे कागजों पर से बाहर न फूट रही हो, तो उसकी कैसी भी गलाफाड़ नारेबाजियों का कोई मतलब नहीं। उसकी यात्रा अगर उसके लिखे कागज पर आर-पार तक नहीं है, तो उसके सडकें नापने का कोई मतलब नहीं। जुलूस को अपने लिए इस्तेमाल करनेवाले लेखक के वश में नहीं कि वह बता सके कि आदमी इस्तेमाल की चीज नहीं ! बता सके कि उसका वजूद चीजों को आदमी के हिसाब से इस्तेमाल करने पर टिका है, आदमी के सामान की तरह इस्तेमाल होने में नहीं !

आदमी होने की शर्त एक है—दूसरों के हिसाब से इस्तेमाल होने से इकार ! लेखक का काम है यह बताना कि यह इंकार आदमी के हक में कितना जरूरी है; क्योंकि जिसे इंकार करना न आता हो, उसे स्वीकार करना भी नहीं आता।

लेखक का काम है यह बताना कि वे सारे लोग खतरनाक हैं, आदमी के लिए, जो उसे अपनी खुदगर्जियों के हिसाब से इस्तेमाल करना चाहते हैं। लेखक से बेहतर कोई नहीं जानता कि आदमी चीजों को जब अपने हिसाब से, अर्थात् आत्मा की पारदर्शिता अथवा पूरी सचाई और सवदेना में छूता है, तो उनमें आलोक जगा देता है। पत्थरों को प्रार्थना सुननेवालों में बदलने का करिश्मा दिखा चुका है वह, जब उसने धर्म को अपनी आत्मा के अतरिक्षों में से प्रकट किया। और मनुष्यता कल्लेआम की चीखों में नंगी भटकती रह गई है, जब धर्म को राज्य और मठों के द्वारा आदमी के विरुद्ध इस्तेमाल किया गया !

दरअसल, किसी वस्तु की कोई स्वच्छंद सत्ता नहीं। वस्तु का सारा दारोमदार उसके इस्तेमाल पर टिका है।

कागज को ही ले लीजिए। जब यह आदमी के हिसाब से उसका सच्चा हाल-चाल लिखने में इस्तेमाल किया गया, तब 'महाकाव्य' बनकर उपस्थित हुआ है। जब आदमी को कागजों के हिस्से से इस्तेमाल किया गया, तब कालाबाजार, काला कानून, काली राजनीति और धर्माधता के काले सायों के सिवा कभी कुछ सामने नहीं आया।

देखे तो कागज की लिखत-पढ़त पर ही आदमी की स्वस्ति टिकी है। अगर लेखक इस ओर उदासीन है, तो तय है कि सिवा कागज काले करने के, कोई ऐसा काम उससे कभी नहीं होना, जिसे लेखक का काम कहा जा सके।

अगर कोई कहे कि लेखक कोई मसीहा नहीं। उसकी सारी खसरा-खतौनी मसि-कागद तक महदूद है। फिर किसी भी काम की कोई प्रासंगिकता वहां, उन लोगों के बीच है, जहां उसे ग्राहकों का अकाल न हो। जहां पैँतीस फीसदी अंगूठाटेक हों और बाकी के पैँसठ फीसदी में भी बिरादरी कुशिक्षितों की बड़ी हो। जहां कला-साहित्य-संस्कृति के सवाल जीवन के सबसे फालतू सवाल हों। जहां संवेदना

बबालेजान के सिवा कुछ न जान पडती हो। जहां आदमी की त्वचा को खाल में बदलने की कीमियागिरी तो बुलंदी पर हो, लेकिन उसकी दृष्टि-श्रुति-चेतना और वाणी पर घने होते जाते मकड़जालों की सफाई का काम लापना !

थोड़े में कहे, तो जिस मुल्क के निन्यानबे प्रतिशत लोगो को यही पता नहीं हो कि साहित्य की कोई सामाजिक प्रासंगिकता भी हो सकती है — वहा लेखक के उस तरह के काम का अंजाम सिवाय उसे बदहाली के मुकाम तक पहुंचाने के और क्या हो सकता है ? जहा दिग्दिगंतो तक चेतनाउजाड़ का अहर्निश गहराता जाइय पसरा पड़ा हो, वहा जुगनुओ की पूंछ की दिप्-दिप् का अचार डालनेवाले कितने लोग मिलेंगे ?

ऊपर की तस्वीर आज की हकीकत है, लेकिन यह भी इतनी ही बड़ी सचाई कि लेखक का काम 'काव्य' रचना है — 'कैलेडर' तैयार करना नहीं। जिस लेखक का काम यह नहीं, वह लेखक हमारे किसी काम का नहीं।

अब हम फिर 'जुलूसवाली' बात पर आना, और इस बात पर पहले से ज्यादा जोर देना, चाहेंगे कि अगर उद्देश्य समाज में पसरे जाइय को विदीर्ण करना नहीं, बल्कि भीड़ के कदमों से उठनेवाली धूल को थोड़ा अपने ऊपर भी जमा लेना हो — तो यह आंखों में घूल झोकने के काम के सिवा और कुछ नहीं।

जबकि लेखक का काम उस धुंध से आदमी को आगाह करना है, जो इंद्रधनुष की सी नयनाभिराम रंगारंग छटाओं में बिखेरी जा रही हो, लेकिन जिसमें सिवा पाखण्ड और झूठ के कुछ नहीं हो। जो इस सत्य को ढांकने को ही इस्तेमाल की जा रही हो कि जिनकी आंखों में जाइय के जाले जितने घने, उन्हें मोतियाबिंद भी उतने ही बड़े नसीब होते हैं।

आदमी को खंगड़ बनाने को उसकी आंखों की जोत को धुंधला बनाना जरूरी है। लेखक का काम इस धंधे में हाथ बंटाना नहीं। उसका काम स्याही से कागज को इतना और ऐसा कज्जर कर देना है कि जो जितने ध्यान से देखे, उतनी ही नजर टटकी होती जाय !

कहें कि — लेखक का काम आदमी की आंख बचाना और कागज पर नीचे उपस्थित दोहे का मर्म समझाना है।

दोहा इस प्रकार है —

कागा सब तन खाइयो,
चुनि-चुनि खाइयो गास !
दो नैना मत खाइयो
पिया मिलन की आस !

□ □

[चौथी दुनिया : 11 दिसम्बर, 1988]

लेखक का हाल क्या है ?

एक तरह से देखे, तो विचार और अभिव्यक्ति की अद्भुत स्वतंत्रता है। दूसरी तरह से देखें, तो सोच-विचार और संवेदन के सवाल ही इतने फालतू हो चुके दिखाई पड़ेंगे कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता होने, या नहीं होने की बहस ही हाशिये की वस्तु लगे।

लिखना, दरअसल, लोगों को आवाज देना है। जिन तक, या जिस रूप में, बोलकर बात पहुंचाना मुश्किल, लिखकर साझा खोजना है। लिखना पढ़नेवालों से संबंध बनाना है, लेकिन हालात अगर यहां तक पहुंच जाए कि संबंध बना सकने की गुंजाइश ही कहीं दूर-दूर तक दिखाई नहीं दे, तब कोई क्या करे ? तब भी लिखे कि नहीं ?

आज की हकीकत यही है कि लगता है, आदमी संवेदना के सवालों के प्रति ही सुन्न बना दिया गया है और अब भाषा के वो सारे उपक्रम उसके लिये व्यर्थ हो चुके, जिनका वास्ता संवेदना के सवालों को वहां तक ले जा सकने से हो, जहां से कि वो एक पूरी अनुगूंज के साथ लौट सकें। पूरे वातावरण में मँडराने लगें। लिखने वाले को यही चाहिये; क्योंकि लेखक कभी पूरी निष्ठा और सरोकार के साथ लिख ही नहीं सकता अगर कि उसे इतना विश्वास नहीं कि लिखा व्यर्थ नहीं जाना है। लिखने का कोई अर्थ नहीं, अगर उसे पढ़ा नहीं जाना और पढ़े जाने का कोई मतलब नहीं, जब तक कि जिस उद्देश्य से लिखा, उसी उद्देश्य से पढ़ा नहीं जाए।

लिखने और पढ़नेवाले के बीच का साझा ही लिखे गये को सार्थक करता है और आज यह साझा ही अंतर्धान मालूम पड़ता है। लिखने और पढ़नेवालों के बीच एक अभेद्य-अदृश्य दीवार-सी खड़ी है और पारदर्शिता कहीं नहीं। न लिखने वाला यह देख पाने की स्थिति में है कि उसके लिखे को पढ़नेवाले के चेहरे, उसकी संवेदना या आंखों में कोई प्रतिक्रिया कहीं झिलमिलाई, या नहीं—और न पढ़नेवाले को यह अनुभव कर पाने का कोई अवसर है कि लेखक तक उसकी झलक पहुंच रही है।

संकट सबको नहीं। सांसत, सिर्फ उन्हें है, जो आमने-सामने होना चाहते हैं। जिस उद्देश्य से लिखा, उसी उद्देश्य से पढ़नेवालों की तलाश ही किसी लेखक की सबसे गहरी तलाश हुआ करती है। जिनकी लिखी किताबें लाखों की संख्या में बिक रही हों, वे इम इन्मीनान में बिल्कुल रह सकते हैं कि उनका लिखा व्यर्थ नहीं जा रहा, लेकिन

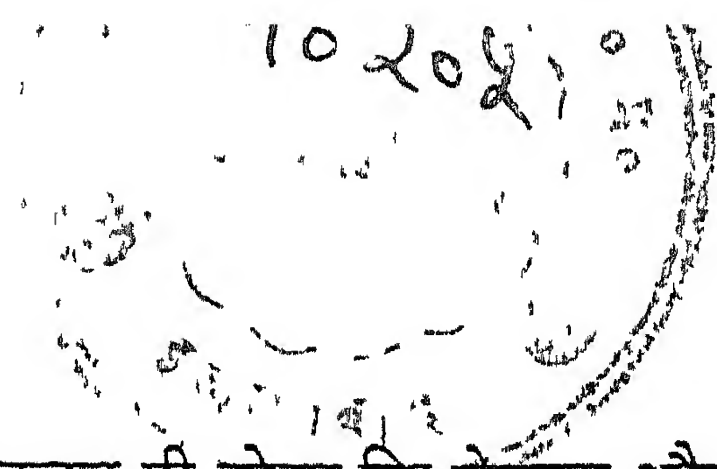
जिन्हें पता हो कि सिवाय सरकारी और छिट-पुट वाचनालयी खरीद के किताब को अब कहीं कोई रास्ता नहीं कि पढ़नेवालों तक पहुंच सके, उनका संकट सामान्य नहीं। आज यह संकट उन तमाम लेखकों पर छाया है, जो रचनात्मक या वैचारिक लेखन की दुनिया के बाशिंदे हैं। जिन्हें इतना भी विश्वास बंधना कठिन है कि करोड़ों-करोड़ कहे जा रहे हिन्दी पाठक-वर्ग के बीच उनकी किसी किताब की साल-भर में कम-से-कम सौ-पचास प्रतियां तो निकल ही जायेंगी। जिन्हें पता है कि प्रकाशक अगर लंबी बॉहो वाला नहीं, तो साल भर में दस-बीस प्रतियों का भी ठिकाना मुश्किल है।

अस्सी करोड़ की आबादीवाले महादेश में अगर किसी लेखक को साल-भर में चालीस-पचास किताबों के भी पाठकों तक पहुंचने का विश्वास बंधना कठिन हो, तो कोरे कागज के सामने उपस्थित होते में शब्द और भाषा या कि रचनाकर्म की कितनी प्रासंगिकता कोई लेखक अनुभव कर सकता है, इसका अनुमान, शायद, कठिन नहीं होगा।

आज की सच्चाई यही है। इस देश की व्यवस्था ने, जहाँ तक इससे बन पड़ा है, लेखक और समाज के बीच के सेतु या तो ध्वस्त कर दिये हैं और या उनकी ऐसी नाकेबंदी कर दी है कि आवाज ही कठिन है। लेखक अपने लिखित के द्वारा समाज तक पहुंचना और उसे यह बताना चाहता है कि लिखित सही है, या नहीं। लोगों की भावनाओं, उनके विचारों और जीवनसंघर्षों की जो तस्वीर उसने प्रस्तुत की है, वह सही है, या कि गलत? व्यवस्था को अमानवीयता और शोषणवृत्ति की जो पहचान वह दे रहा है, उसमें कुछ सार है कि नहीं? और कि अगर वह समाज की जड़ता के सवाल उठा रहा है, तो इनमें कुछ दम है कि नहीं?

लिखना दरअसल बताने के सिवा कुछ नहीं। मनुष्य के संघर्ष और सौंदर्य के बारे में अधिकतम प्रभावी तरीके से बताने की ललक ही किसी व्यक्ति को लेखक बनाती है, समाज में अपनी साख या जगह दूढ़ता फिरता है लेखक, तो इसीलिए कि अपने बताये की प्रासंगिकता को समझ सके। जब तक साहित्य के समाज तक पहुंचने का सिलसिला बरकरार हो, तब तक लेखक के पास यह मान लेने का आधार बिल्कुल है कि उसका लिखा व्यर्थ नहीं जा रहा; क्योंकि किताब का पढ़ा जाना ही उसकी पहली सीढ़ी है। यह किताब की पहली सामाजिक स्वीकृति है। यह प्रमाण है कि लेखक के समाज और समाज के लेखक के साथ के रिश्ते ठीक-ठाक चल रहे हैं। यानी दोनों ओर कुशल है और दोनों छोर आपस में जुड़े हैं, लेकिन जब किताब को रास्ता बंद दिखाई पड़े, तो इतना समझ लेने में देर नहीं होनी चाहिए कि—मामला गड़बड़ है!

किताब को रास्ता नहीं मिलने का मतलब होता है, लेखक को समाज और समाज को लेखक तक पहुंचने का रास्ता नहीं मिलना। अगर यहां आकर हम इस नतीजे पर पहुंचते हों कि इसमें कोई हर्ज नहीं; क्योंकि न समाज का काम लेखक के बिना अटकना है और न ही लेखक का काम समाज के बिना, तब कोई समस्या नहीं होगी। इस नतीजे



पर पहुचने का मतलब ही होगा कि लेखक और समाज दोनों की दिशाएं भिन्न हैं। न लेखक के समाज की जरूरत है और न ही समाज को लेखक की। सामान्य बुद्धि से भी देखें, तो चिंता की स्थिति सिर्फ तब बनती है, जबकि काम नहीं चल रहा हो। जिस समाज का काम लेखक के बिना चल जाये, उसे लेखक जरूरी क्यों हो ? ऐसे हो जब समाज के बिना ही अपने सारे काम-काज ठीक-ठाक चल रहे हों, तब लेखक को क्यों गरज हो कि समाज के साथ के अपने रिश्ते को जाचता फिरे ? लेकिन यही आकर तो यह सवाल जन्म लेता है कि—क्या वास्तव में हकीकत यही है ?

जिन्हें जगतगति नहीं व्यापती, या कि जो जगतगति के सवालों में जाने में ही असमर्थ हो, उन्हें छोड़ दीजिए। बाकी हर समाज में ऐसे कुछ सिरफिरे होते जरूर आए हैं, जो मूर्ख, खब्ती और अप्रासंगिक मान लिये जाने के जोखिमों के बावजूद सवाल उठाते हैं। जो जानते हैं कि कोई भी व्यक्ति कभी भी बिना किसी सामाजिक आधार के ही सवाल उठा ही नहीं सकता; क्योंकि सवाल स्वयं में ही एक सामाजिक उत्पत्ति भी है और निष्पत्ति भी। किसी भी सवाल को जरा छूकर देखिये, उसमें इधर से उधर तक गये होने की गमक मिलेगी जरूर। लेखक इस गमक को ही भाषा में उतारता है, ताकि यह और दूर-दूर तक पहुँच सके।

जहां-जहां सवाल उठते हैं, जब-जब सवाल उठते हैं और जिन-जिन कारणों से सवाल उठते हैं, इनके पीछे समाज के उद्देश्य ही मौजूद हुआ करते हैं। इसलिए किसी भी विचारदान व्यक्ति के लिए यह नतीजा संतोष की वस्तु नहीं ही होगा कि लेखक को समाज, या कि समाज को लेखक की कोई जरूरत नहीं रही। बल्कि वह तुरत जायेगा इस सवाल में कि ऐसा आभासित क्यों होने लगा ? जो एक-दूसरे के सबसे अभिन्न अंग है, जिनकी स्वस्ति के सवाल एक-दूसरे पर टिके हैं और कि जिनके बीच आत्मा और वाणी के बीच का सा अनन्य संबंध है, इनके बीच का यह अलगाव किसी सामान्य सकट की निशानी नहीं होगा। ऐसी कोई भी स्थिति इस बात का सबूत होगी कि जरूर इन दोनों के बीच कोई ऐसी तीसरी सत्ता उपस्थित हो गई है, जिसने दोनों को इस मुकाम पर ला दिया है, जहां कि इनकी स्वस्ति या अस्वस्ति के सवाल अब खुद इनके (भी) देखते-सुनते, सोचते-विचारते और जांचते चलने के सवाल नहीं रह गये।

यह 'तीसरी सत्ता' ही राज्य है। समाज के मुख्यतः दो अंग हैं; कर्म और चिंतन, ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहां एक भी ओझल, वहां सकट अवश्यभावी है। एक लोहार और लेखक में समाज के लिए कौन जरूरी और कौन फालतू हो सकता है ? जाहिर है कि दोनों समाज के जरूरी अंग हैं और इनमें जो स्वयं के कर्म और सोच से जितना प्रतिश्रुत, ठीक उतनी ही हद तक उसकी प्रासंगिकता भी है। एक लोहार अगर सिर्फ स्वयं के परिवार और गांव के हित को ही समर्पित हो, तो वह

किसी भी मामले में समाज से प्रतिश्रुत लेखक से कम जिम्मेदार नहीं। कर्म की प्रकृति के भिन्न होने से दोनों के क्षेत्र भिन्न हो जाते हैं, लेकिन कर्म और चिंतन में से किसी एक की जरूरत खत्म नहीं हो जाती: लोहार या किसी भी ऐसे कर्मकार और लेखक में कर्म और चिंतन का सिर्फ अनुपात बदल जाता है, इसलिए इतना अभिज्ञान जरूरी है कि मूल सत्ता समाज की है। अपने में अलग से किसी की कोई सत्ता नहीं; क्योंकि अस्तित्व स्वयं में ही एक सामाजिक तथ्य है। जिस समाज में लोहार लापता हो, वहां लेखक भी गायब होगा जरूर। तब देखना जरूरी होगा कि यह जो समाज के श्रमिक और बौद्धिक दो अंगों बीच से एक तीसरी सत्ता राज्य के रूप में सामने आती है, इसका स्वरूप इतना सर्वग्रासी न हो जाये कि बाकी किसी की कोई स्वाधीनता बचे ही नहीं।

राज्य जब सर्वग्रासी हो जाता है, तब न लोहार अपना काम पूरी चेतना से कर सकता है, न लेखक। जैसे हम चाहते हैं, वैसे ही हर काम करना होगा—यह दादागिरी ही स्वाधीनता को मारती है और स्वाधीनता मनुष्य की आत्मा में विचरणा करने वाली वह हवा है, जो लोहार के लिये अलग और लेखक के लिये अलग नहीं हुआ करती। स्वाधीनता जब और जहाँ होगी, सबको होगी। नहीं तो किसी को नहीं होगी।

स्वेच्छाचारी राज्य स्वाधीन नहीं होता। स्वेच्छाचारी स्वाधीनता के आस्वाद और उसकी दीप्ति या सुगंध को जानता ही नहीं। जबकि आदमी में यदि स्वाधीनता की सुगंध और दीप्ति नहीं, तो वह पहचान नहीं सकता कि किस किताब में ये वस्तुएं हैं। सर्वग्रासी राज्य ऐसा ही आदमी चाहता है।

‘एक-दूसरे की तरफ नहीं, बल्कि सिर्फ राज्य (सरकार) की ओर देखो’ का वातावरण निर्मित होने लगे, तो यह सबूत होगा इस बात का कि राज्यव्यवस्था का चरित्र अधिनायकवाद के मुकाम पर जा पहुंचा है। साम्राज्यवाद या तानाशाही, ये दोनों भी अधिनायकवाद के ही सिक्के हैं। समाज को इस मुकाम पर ले आना कि उसे लेखक की जरूरत ही अनुभव नहीं हो, और लेखक को यहां कि तुम्हारा सारा बंदोबस्त हम किये देते हैं—ये दोनों ही लक्षण अधिनायकवाद के होंगे। अधिनायकवाद या कहें कि एकाधिपत्यवाद का यह चरित्र होता है कि बाकी सबकी सत्ता को लीलते जाओ। इस दृष्टि से देखने पर इतना बिल्कुल कहा जा सकता है कि सिर्फ साम्राज्यवाद और अधिनायकवाद के दौर में ही यह सम्भव है कि समाज के संवेदनक्षेत्रों पर भी राज्य का ‘अधिग्रहण’ कायम होने लगे।

लेखक और समाज के बीच का रिश्ता क्या है, इसे पहचानने को जानना जरूरी होगा कि उसका साधन क्या है, भाषा ही तो? और भाषा का साध्य क्या है? भाषा का सर्वोत्तम रूप कहाँ जाकर प्रकट होता है? विज्ञान-इतिहास-भूगोल-खगोल-अर्थशास्त्र ही नहीं, बल्कि दर्शन या विचारधाराओं तक में भाषा साध्य नहीं, साधन

है। सिर्फ साहित्य में ही भाषा साधन नहीं, बल्कि साध्य भी हुआ करती है। यह कारण है कि भाषा की सर्वोच्च छटा हमें सिर्फ साहित्य में मिलती है। महाकाव्यों की भाषा और अतर्वस्तु को पृथक् करना असंभव है; क्योंकि भाषा जहां मनुष्य से अभिन्न हो जाती है, वह क्षेत्र भौतिक नहीं, आत्मिक ज्ञान का है और आत्मिक ज्ञान के सारे स्रोत संवेदना से जुड़े हैं, जबकि भौतिकज्ञान के सिर्फ बुद्धि से। लेखक का क्षेत्र संवेदना है। उसके सारे ज्ञान-ध्यान एक संवेदना पर टिके हैं। समाज के संवेदनों को भाषा में उतारने का काम उसका है और यही उसका समाज से और समाज का उससे रिश्ता है।

आज के चतुर्दिक हाहाकार के बीच समाज के संवेदनों की पारदर्शी झिलमिल जो कहीं ठीक से दिखाई नहीं पड़ती—कहीं से कोई ऐसी आवाज आती सुनाई नहीं पड़ती, जिसमें कि पूरे समाज की आत्मा बोलती आभासित हो सके—इसका कारण क्या है ?

अकारण कुछ नहीं होता। पूरे समाज का गला रुंधा जान पड़ता है, तो इसलिए कि राज्य का पंजा उसके संवेदनक्षेत्रों तक भी जा पहुंचा होता है। अपने सर्वग्रासी संचार माध्यमों के द्वारा राज्य संस्कृति तक को अपने कब्जे में कर लेता है; क्योंकि संस्कृति संवेदना जगाती है। हर बर्बर व्यवस्था सबसे पहले आदमी की संवेदना को मारना चाहती है। उसे इतना भय सदैव घेरे रहता है कि जब तक आदमी में संवेदना बच रहेगी, प्रतिरोध करेगा जरूर। खुलकर नहीं, तो छिपकर। बोलकर नहीं, तो समय आने पर बोलने का संकल्प करते हुए। आज नहीं, तो कल, कल नहीं तो परसों ! परसों भी नहीं, तो बरसों के बाद ही सही लेकिन संवेदना बच रहेगी, तो आदमी कभी-न-कभी बोलेगा जरूर !

आपातस्थिति क्या थी ? राष्ट्रीय पैमाने पर संवेदनहनन का करिश्मा ही तो ! और अवसर पाते ही लोगों ने जो मुंहतोड़ जवाब दिया, इसे व्यवस्था भूली नहीं है। वह भलीभांति जानती है कि यह अंतिम संघर्ष नहीं है, इसलिये संवेदनहनन का सिलसिला सतत जारी है। जो भी वस्तु आदमी में संवेदना जगा सकती हो, उसे या तो खरीद लेना है और या तोड़ देना, यह पक्का इरादा आज भी व्यवस्था में ज्यों-का-त्यों मौजूद है। लेखक और समाज के बीच के रिश्ते को ध्वस्त कर देने की मुहिम इसी योजना का एक अंग है, लेकिन यह काम वह डंके की चोट पर नहीं, बल्कि सात पर्दों के पीछे से करने में विश्वास रखती है।

आज देश के अधिकांश लेखकों की शक्ति क्लांट बौद्धिकों की निकल आई है, तो इसलिये कि लेखकों ने समाज के संवेदन-क्षेत्रों पर भी कब्जा जमाते सर्वग्रासी पंजों की तरफ इंगित करने का इरादा छोड़ दिया है। उन्होंने मान लिया है कि देश में कहां

क्या हो चुका हो, हो रहा या होनेवाला है, यह देखने का काम उन राजनीतिक नेताओं का है, जिन्हें राज्य चलाना है। शिक्षा-भाषा-कानून और प्रशासन, ये सब राज्य के अंग मान लिये गये हैं और ज्यादातर लेखक इन पर कुछ नहीं बोलना चाहते। अनुमति के दायरे से आगे बढ़ते लेखकों को डर लगता है, जबकि लेखक का वास्ता उस हर वस्तु से होना जरूरी है, जो मनुष्य से जुड़ी हो।

आज की वास्तविकता यही है कि देश के मूर्खन्य लेखकों और व्यवस्था के बीच एक दीर्घकालिक अनुबंध हो चुका-सा दिखाई पड़ता है। शिक्षा, न्याय और प्रशासन ही नहीं, बल्कि साहित्य और संस्कृति के क्षेत्रों में भी राज्य के एकाधिपत्य को एक आम स्वीकृति मिल चुकी है। अन्य भाषाओं का ज्ञान नहीं, लेकिन जहां तक हिंदी का सवाल है, किसी भी मूर्खन्य लेखक को शिक्षा-न्याय-कानून-संविधान, भाषा या प्रशासन के ज्वलंत सवालों पर इस तरह बोलते नहीं सुना जा सकता कि हमें लगे, हमारी वेदना को वाणी देने से वचनबद्ध लोग मौजूद हैं।

ज्ञान से बड़ी वस्तु है, ध्यान। जिसे ध्यान नहीं रहा, उसका ज्ञान किसी काम का नहीं। ध्यान रखने का विवेक ही ज्ञान की पहचान है। जब लेखक को इतना भी ध्यान नहीं रहे कि कैसे उसे समाज की मुख्यधारा से काट कर हाशिये पर फेंक दिया जा चुका है, तो यह सबूत होगा कि उसका ज्ञान दीमक की बांबी बन चुका है। लेखकों का एकमात्र पहचान है कि उसमें देश, काल और समाज के सवाल झिलमिलाते दिखाई पड़ें; क्योंकि भाषा की पहली शर्त पारदर्शिता होने से झूठ और सच के बीच की धुंध को दूर करने में ही उसकी कृतार्थता है।

लेखक का काम झूठ और सच के बीच की धुंध को कायम रखने में हाथ बंटाना नहीं है। आज किसी भी सामाजिक संकट पर मूर्खन्य लेखकों का कोई ऐसा लेख कहीं मुश्किल से ही देखने का मिलेगा, जिससे लगे कि ध्यान रखा गया है। ध्यान रखा गया है कि समाज का कोई भी ऐसा अंग नहीं, जिससे कि लेखक का वास्ता नहीं बनता हो। जो-कुछ भाषा, वह सब कुछ लिखनेवाले की हद में है। कोई यह तर्क नहीं दे सकता कि यहां लेखक का कोई मतलब नहीं; क्योंकि किसने किस वस्तु का क्या मतलब बताया है—और गलत बताया है कि सही—यह समाज को दस्तावेजी तौर पर लिख कर बताने का काम लेखक के जिम्मे है। लिखने का इरादा ही अपने-आपमें लिखने का हक भी है। देखने की बात है सिर्फ यह कि अपने इस हक का किसे कितना ध्यान रहता है।

क्यों नहीं राष्ट्रभाषा का सवाल आज तक हल नहीं हो पाया? क्यों नहीं सिर्फ इतना भी सुनिश्चित हो पाया कि किसी देश की नियति और उसकी स्वाधीनता या अस्मिता के मामलों में राष्ट्रभाषा की भी कोई भूमिका होती है, या नहीं? यदि होती है, तो भारतीय संविधान में से राष्ट्रभाषा नदारद क्यों है? क्यों नहीं संविधान के अत्यंत ही घातक अंतर्विरोधों पर कोई बहस आज तक शुरू ही नहीं हो पायी?

क्यों पंजाब की धू-धू निरंतर बढ़ती ही जाती है ? क्यों देश की नयी पीढ़ियों की आंखों में अंग्रेजों की प्रेतच्छाया बन सकने के सपने दिन-पर-दिन गहरे ही होते जा रहे हैं ? क्यों न्याय और कानून खरीद-फरोख्त की सामग्री हो गये हैं ? क्यों प्रशासन सामान्य जनो के प्रति क्रूरता की हद तक लापरवाह होता गया है ? सांप्रदायिकता का जहर और गहरे, और गहरे क्यों घुलता जाता है ? इस तरह के तमाम सवालों का एक ही जवाब है—इसलिए कि जिन पर झूठ को झूठ और सच को सच बताने की जिम्मेदारी आयद होनी थी, वो सब ही अपनी-अपनी कीमत लगवाकर एक तरफ हो गये हैं ।

अगर कहें कि इस देश का बौद्धिक वर्ग ही समाज के प्रति सबसे ज्यादा विश्वासघाती वर्ग है, तो क्या यह झूठ होगा ? विडबना तो यह है कि जो आर्थिक तौर पर जितना सुरक्षित, वही इन सवालों पर सबसे अधिक गुमसुम है । उसे साफ दिखाई दे रहा है कि हम आखिर-आखिर किस सर्वग्रासी अधरे के हवाले होने जा रहे हैं, लेकिन वह भी देश के पूँजीनिवेशियों और राजनीतिक नेताओं की तरह इस पूरे इत्मीनान में जी रहा है कि—जगल की आग जगल तक ही रहेगी ।

समाज जगल नहीं है । समाज को आग के हवाले रखना ठीक नहीं । सबसे गहरी आग आदमी के भीतर के अलाव में जलती आयी है । बड़े-बड़े सम्राटों और तानाशाहों के हवामहल इसी आग में राख हुए हैं । लेखक को 'आदिम-अग्नि' का ज्ञान सबसे जरूरी है । उसे यह ध्यान जरूरी है कि उसकी सामाजिक साख क्यों नष्ट हो गयी है । आखिर क्या बात है कि लोगों ने उसे अपने ध्यान से ही उतार दिया है और मान लिया है कि हमारे सारे सरोकार सिर्फ राजनेताओं से जुड़े हैं । लेखक का समाज की मुख्यधारा से दूर, साहित्य और संस्कृति के शोभाप्रतीकों की हैसियत का जीवन ही उसका सबसे दुखद मरण है । जिसके जीवित होने का अहसास समाज को नहीं, वह लेखक जिदा मुर्दा से बेहतर कुछ नहीं । जो लेखक समाज को फालतू हो चुका, गांव के कुत्ते से गया-बीता है ।

बगदाद के एक फकीर का वृत्तांत कही पढ़ा था । बगदाद के किसी खलीफा ने ऐलान करवा दिया कि वह खुद ही खुदा भी है और जो कोई इस बात पर ईमान नहीं लायेगा, उसकी गर्दन फांसी के फंदे के हवाले होगी । धीरे-धीरे ऐसा सन्नाटा छाया कि फांसी का फंदा खाली-का-खाली ही हवा में झूलता रह गया ।

बहुत खोजने पर पता चला, कहीं दूर के बियाबान में एक फकीर है, जो खलीफा हुजूर के खुदा होने पर ईमान लाने से इंकार करता है । फकीर को मुश्के बांध, खलीफा के दरबार में हाजिर किया गया, तो भी फकीर की गर्दन आदाब में झुकी नहीं । आखिर खलीफा खुद गद्दी से उतर कर, नीचे तक आया । उसने अपने जंजीर से बंधे खौफनाक और बदशक्त कुत्ते की तरफ इशारा करते हुए पूछा—'अरे ओ, ऊपरवाले खुदा की रट लगानेवाले फकीर ! तेरी जिदगी सिर्फ एक सवाल पर टिकी है । तुझे सिर्फ इतना

जवाब देना है कि यह मेरा कुत्ता और तू, तुम दोनों में बेहतर कौन है ? कौन है बेहतर—तू कि मेरा यह वफादार कुत्ता ?’

फकीर का जवाब था—‘जितना यह कुत्ता तुम्हारा, इससे कहीं ज्यादा वफादार अगर मैं उस पाक परवरदिगार से हूँ, जो कि जैसे मेरा, वैसे ही तुम्हारा भी निगहबान है, तो कहने का हक है मुझे कि इस कुत्ते से बेहतर मैं हूँ। और अगर ऐसा नहीं, तो जाहिर है कि यह कुत्ता मुझसे बेहतर है।’

कहना जरूरी नहीं होना चाहिए कि लेखक को समाज ही खुदा है; क्योंकि सिर्फ तभी तक उसका वजूद है, जब तक कि वह समाज से जुड़ा है और वहीं से खुराक पा रहा है। समाज से नाभिनालसबंध के खत्म होते ही, उसका वजूद भी खत्म है। फिर तो वह जितने दिन जिंदा है, पहले की जमापूंजी से। लेखक के तौर पर बच रहता है सिर्फ वह, जिसकी नाल समाज से कटी नहीं। जो समाज के गर्भगृह से जुड़ा है; क्योंकि उसको सारे रस वहीं हैं। लोहार की ही तरह, उसको भी सारी सामग्रियाँ—कागज-कलम से लेकर भाषा और अनुभवों तक—समाज देता है। यहाँ तक कि कारीगरी भी, क्योंकि कारीगरी परम्परा से आती है और परम्पराएँ सिर्फ समाज की होती हैं।

इसमें क्या शक कि लेखक समाज की शोभा है, लेकिन तभी, जबकि समाज का कलेजा राज्य की दाब में न हो। समाज का कलेजा दबाकर ही राज्य स्वेच्छाचारिता के नग्नृत्य कर सकता है। इसलिये वह सबसे पहले उनका कलेजा दबाता है, जो भाँडा फोड़ सकते हैं। इसी का दूसरा छोर है यह कि जिस समाज में लेखकों की बोलती बढ़ हो, वह बिना पक्षियों का जगल है। कौवे अरण्य नहीं रचते।

इतना कहने की इजाजत चाहिए कि सवाल से ऊपर कुछ नहीं। जो खुद को सवाल से ऊपर लगाये, वह तानाशाह है और जो सवाल से बाहर हो गया, वह बेवजूद।

आदमी को तो न तख्त सवाल से ऊपर है और न तवा सवाल से बाहर। तवे से लेकर तख्त तक निगाह रखनेवाला ही दावा कर सकता है कि वह जागता है। लेखक को बताना जरूरी है कि आदमी का हाल क्या है। यह भी कि जो भी हाल है, क्यों है। खुद की लिखी किताब को पढ़नेवाले तक पहुँचाने की चिंता में भी पहले उसका व्याकुल होना जरूरी है। उसका काम सिर्फ अभिव्यक्त कर देना ही नहीं, बल्कि यह देखना भी है कि—लिखे गये का हुआ क्या ?

यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह—अर्थात् आदमी या कि समाज का हालचाल बताने का—काम बंद या खत्म हो चुका, लेकिन समय, आदमी या कि देश और समाज की आज की जरूरतों को देखते कम जरूर हो गया है। कम ही नहीं, बल्कि निष्प्रभावी भी। यह एक वास्तविकता है कि आज लेखक समाज की मुख्यधारा—यानी उसका हाल-चाल बताने और उसके जरूरी सवाल उठाने के काम—से हटकर, एक ऐसे हाशिये पर पहुँच गये हैं, जहाँ से समाज उनकी पहुँच से दूर हो गया है।

समाज, फिलहाल, पूरी तरह राजनीतिक पार्टियों की मुठियों के हवाले हो चुका

हैं। आपको पूरे देश में, शायद, हजार-दो हजार लोग भी नहीं मिलेंगे, जो मानते हों कि उनका कोई काम लेखक भी कर सकता है। या कि कोई भी ऐसा काम, जिससे समाज या सरकार के कान खड़े हो सकें।

लेखक को हाशियों पर फेंकने के लिये व्यवस्था ने अलग से कुछ नहीं किया है। लेखक की उसने इतनी औकात ही नहीं ओंकी है। उसे पता है कि लेखक सिर्फ तभी गला फाड़कर चिल्लायेगा, जब उसका हिस्सा नहीं मिले। दूसरों को मिला, या नहीं, यह देखने भी कोई तभी जायेगा, जबकि अपना पूरा नहीं पड़ रहा हो। और चूँकि व्यवस्था नियमों से चलती है, इसलिये अपवाद उसकी चिंता के दायरे में नहीं आते। उसे इत्मीनान होता है कि अपवाद खुद ही ध्वस्त हो जाते हैं।

आज व्यवस्था का जो स्वरूप सामने है, उसमें सिर्फ एक ही मापदण्ड रह गया है — आप में खून-खराबा करने, या खून-खराबे की नौबत ला सकने — की शक्ति कितनी है।...और लेखक की सारी कीमत इस एक बात में रह गई है कि वह व्यवस्था के द्वारा किये गए खून-खराबे का तर्कशास्त्र गढ़ सकता है कि नहीं। 'जब भी कोई बड़ा वृक्ष गिराया जाता है, तब धरती भी हिलती जरूर है।' — जैसी काव्योक्तियाँ हवा में उछाल सकता है, या नहीं। .या कि कम-से-कम गांधी जी के बीचवाले बंदर की तरह चुप लगा सकता है, या कि नहीं।

बहुत — सचमुच बहुत कठिन होता जा रहा है लिखने का काम और शायद, अभी आगे दूर तक यही सिलसिला चलता रहेगा। लेखक का दम घुट रहा होगा, लेकिन बताते डरेगा। सवेदना चीथड़े हो चुकी होगी, लेकिन इसके सिवा कोई रास्ता नहीं होगा कि लटकाये रहे।...और लटकाये रहे इस कोशिश और उम्मीद में कि शायद, कभी किन्हीं लोगों को दिखाई पड़ जाए कि — खुद उसका हाल क्या है, जोकि उनका हाल बताने का जिम्मा लेकर, उनसे राहखर्च ले गया था !

□ □

[‘चौथी दुनिया’ :1988]

चैतन्य-रथ की दिशा

हमारी मौजूदा व्यवस्था, अपने सस्थागत रूप में, अधः पतन के अंतिम कगार पर खड़ी है और इस संस्था, अथवा इसके रखवारों, का गड्ढे में गिरना लगभग अवश्मभावी है; क्योंकि कुल मिलाकर यह भी एक 'चैतन्य रथ' ही है। देश-भर में घुमाया जाता ऐसा 'चैतन्य रथ', जिसमें गति और आवाज तो भरपूर, लेकिन दिशाबोध नदारद है। जबकि मात्र रथ के चैतन्य होने से कुछ नहीं होता, यदि उस पर चढ़े बैठे लोगों की जमात जड़ हो।

आज भारत का तमाम तथाकथित राष्ट्रीय ही नहीं, बल्कि पैंतीय राजनैतिक नेतृत्व भी नितांत चेतनाजड़ और दिशाहीन लोगों की गिरफ्त में है। सत्ताकेन्द्र और विपक्ष, दोनों 'चैतन्य-रथ' पर सवार हैं। दोनों ही इस तथ्य से पूरी तरह उदासीन कि दिशायेँ तो इस पृथिवी पर चारों ओर हैं, लेकिन किसी भी दिशा में चल पड़ने का कोई मतलब नहीं होता; क्योंकि रसातल भी किसी न किसी दिशा में ही पड़ता है, विदिशा में नहीं।

इस भौतिक जगत में कुछ भी बिना तल के नहीं। रास्ता का भी तला होता है और उसका गहवर रसातल से कम नहीं। जो लोग राष्ट्र और समाज की दिशा के सवालों से निर्वृद्ध सिर्फ सत्ता की दिशा में 'चैतन्य रथ' दौड़ाते चले जाते हैं, इतिहास के अंधेरो में 'फास्फोरस' की दशा को प्राप्त हो चुके उनके हाड़ इसी गहवर में चमकते दिखाई पड़ते हैं। इतिहास, और अपने समय, दोनों में सही दिशा में गति सिर्फ उन्हीं की होती है, जिनमें तल-अतल, दोनों का विवेक होता है। जो जहाँ बैठना चाहते हैं, वहाँ के 'क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा' में से किसी के प्रति भी उदासीन नहीं रहते। जो इतना बखूबी जानते हैं कि जगह की हैसियत भी अंततः आदमी की चेतना से तय होती है। सिंहासनो को नरक और मिट्टी को स्वर्ग की उपमाओं तक आदमी ही पहुँचाता है। इसलिये जरूरत आज 'चैतन्य-रथों' की भव्य झांकियों को मेला-मानसिकता में देखने की नहीं, बल्कि इन पर सवार लोगों की चेतना की बनावट पर ध्यान देने की है कि आखिर हमारे देखते-देखते देश के सबसे अधिक जड़, राष्ट्र और समाज के प्रति सबसे ज्यादा उदासीन और अपनी-अपनी राजनैतिक कुर्सियों को चैतन्य रथ के मायावी रंगविलास में बदलकर, पूरे देश की चेतना से खिलवाड़ करने में सबसे

ज्यादा उस्ताद लोग ही कैसे इतनी बड़ी सख्या मे इस महादेश की राजनीति पर हावी हो गये, जिनका एकमात्र उद्देश्य किसी भी कीमत पर सत्ता, या कम-सेकम सत्ता की जूठन बटोरना-मात्र है ? और कि देश-समाज की चिंता से जुड़े लोगो की संख्या राजनीति मे घटती ही क्यों जाती है ?

क्या अब भी वक्त नहीं आया कि राष्ट्र की मुख्यधारा के सवाल को देश के सबसे बड़े पनाले मे बदल चुके लोगो के चैतन्य-रथों की वास्तविकताओं की कुछ तो छान-बीन की जाय कि बाहर से नाना भाति से चमचमाते इन घूर्णागारों में से आखिर यह सारे देश के वातावरण को दूषित करती गंद कहीं से फूट रही है ? क्योंकि यदि ये लोग गंदे नहीं, तो साफ है कि हम गंदे है और हमारी चेतना पर चर्बी की इतनी मोटी तहे जम चुकी है कि छानने-फटकने और तब ग्रहण करने का विवेक ही हममे लुप्त हो चुका। इतना हमें भूलना नहीं चाहिए कि जो लोग देश-काल के सवालो के प्रति जड होते हैं, उनको न देश क्षमा करता है, न काल। ऐसे ही लोग जीते जी नरक भोगते हैं, क्योंकि चेतना का उजाड ही आदमी के जीवन का सबसे बड़ा नरक है और इस कुम्भीपाक मे ही वह खुद की चेतना और संवेदना को गंवाकर, जडता के उस मुकाम पर पहुचता है, जहां पेट ही पिण्ड बन जाता है और सारा दिशा-ज्ञान दिशा निबटने की कला तक सीमित हो जाता है।

जब भी हममे यह चिंता जाती रहे कि जिस देश-काल मे हम विचरण कर रहे है, उससे हमारे अंतस्संबंध क्या हैं, तब यह अभिज्ञान भी नष्ट हो जाता है कि पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश और हवा, ये सब पार्थिव जगत ही नहीं, बल्कि हमारी चेतना के भी अंग हैं और हम मात्र 'जीव' नहीं, बल्कि दो समांतर सृष्टियों की संयुति के अनन्य साक्ष्य है, क्योंकि हम ही — इस संपूर्ण भौतिक जगत में सिर्फ हम ही — जानते हैं कि देश-काल से हमारा सिर्फ पेट नहीं, पिण्ड का रिश्ता भी है। अपने इस संज्ञान के चलते ही हम ध्यान लगाये बैठे रहने पर भी एक सतत 'चरैवति' पर रहते हैं और हर दिन इतना देखते चलते हैं कि पिछले दिन कितना, और कैसे, और कहां चले। इस देखते चलने में ही तो हमने देखा कि पिण्ड और ब्रह्मांड कहां एक-दूसरे को प्रतिच्छायित करते हैं, कहां नहीं।

संपूर्ण भौतिक सृष्टि में हम — हम और सिर्फ हम — ही तो हैं, जो इस रहस्य को जानते हैं कि हमारा सबध सिर्फ उतनी ही भूमि स नहीं, जितने पर कि हम अपने नितम्ब टिका सके। बल्कि हमारा तो भूमि से वहां तक का आद्यंत संबंध है, जहां-जहां कि वह आकाश और पाताल तक को अपने वृत्त मे किये रहती है। इसलिए पूरे राष्ट्र की अस्मिता को खुद के सत्ताशकट के रौंदने की वस्तु मानकर 'राज हमारा, जग में सारा, सुर-नर-मुनि अधीन !' की मुद्रा में नग नृत्त करते लोगो से हम ही सवाल भी

करेंगे कि आखिर और कब तक चलाओगे यह नगराज ? आखिर कब तक ढाँकेगी तुम्हारे वस्तुगत चरित्र को यह तथाकथित राष्ट्रीय अखण्डता की खाल ? कब तक कायम रखोगे इस देश में संप्रदायवाद के धतूरे को धर्म-निरपेक्षता की केशर के भाव बेचने की ठगविद्या ? आखिर कब तक गद के ढेर लगाती रहेगी इस देश के राजमार्ग पर तुम्हारे मायावी चैतन्यरथों के पीछे से छूटती लीद ?

और हां, अपने आदमी होने के अभिज्ञान में ही, हम यह भी साथ-साथ मान लेना चाहेंगे कि इस महादेश के वातावरण में दिन-दिन और मारक होती जा रही चरित्रिक गंद की जड़े अगर तुममें नहीं, तो तय है कि हममें है। क्योंकि कहा है, कहाँ नहीं, यह तो विवाद का प्रसंग हो सकता है, लेकिन इतना तो निर्विवाद है कि वसीयतनामे की राजनीति खेलकर हस्तगत की गई पट्टे की आजादी के चार दशकों में ही यह देश आत्मविनाश के उस मुकाम पर आ चुका है, जहाँ शताब्दियों की दासता के अंधेरे में भी नहीं पहुँचा था। धर्म और राजनीति का ऐसा विकराल और घिनौना गंठजोड़ इस देश के इतिहास में इससे पहले कभी नहीं दिखाई देता।

यह बिल्कुल दूसरी बात है कि 'दूरदर्शन' पर हमें देश की वास्तविकताओं में ज्यादा अहमियत फिल्मी कलाकारों के फूहड़ अश्लील गान गानों को देने की दीक्षा दी जाती है और जब देश में जगह जगह संप्रदायिक दंगे और नरभेध हो रहे होते हैं, तब हमारे सबसे बड़े राष्ट्रीय प्रसारण माध्यम में जितेन्द्र श्रीदेवी प्रभृति फिल्मी भांडों-पुंश्चलियों के नितम्ब धिरक रहे होते हैं। और न हमारी स्वनामधन्य राष्ट्रीय प्रकाश और न हम, किसी में यह चिंता कतई नहीं दिखाई देती कि यदि सब एकजुट होकर रोकेंगे नहीं, तो कभी-न-कभी जंगल की यह आग हम तक भी पहुँचेगी जरूर; क्योंकि हम भी दिन-पर-दिन संवेदन, चिंतन और विचार से शून्य जीवित मानव-कंकाल होते जा रहे हैं और आग कंकाल को भी उतनी ही जल्दी पकड़ती है, जितनी झाड़-झंखाड़ को।

ऊपर लेख की भूमिका नहीं बांधी गई है, कुर्सी रखी गई है। घर बनाने में भी पहले 'कुर्सी' रखकर, तब दरेशा बिछाया जाता है। दृष्टि भी कुर्सी चाहती है और तेतना भी आधार। तब ही पूरा परिदृश्य सम्यक् दिखता, सुनाई पड़ता और अनुभव होता है। आज जो हमें पूरे राष्ट्र का धर्म और राजनीति के कुत्सित गंठजोड़ की वेकृतियों से सारा परिदृश्य भीतर तक व्याप नहीं रहा, इसका एकमात्र कारण हमारी तेतना और संवेदना पर जड़ता की काई जमते जाना है; क्योंकि इसी से हमें धर्म और राजनीति की बेदी पर बलि होते लोगों की प्राणांतक चीत्कार, अखबारों में पढ़े जाने वाली वस्तु से ज्यादा और कुछ नहीं लग रही।

खुद की नियति के साक्षात्कार की चेतना हममें पूरी तरह नदारद है। हमें यह

कुछ चेत नहीं कि धर्म और राजनीति के नरमेध यज्ञों का यह सिलसिला अगर थमा नहीं, तो आने वाले किसी कल के अखबारों में बाकी के लोग हमारे आर्तनाद को भी ठीक वैसी ही संवेदनजड़ता में बाँच रहे होंगे, जैसे आज हमने बाँचा।

यदि हमारे किसी भी अंग में चुभाया गया चाकू हममें कोई प्रतिक्रिया नहीं जगाता, तो यह इससे कुछ कम खतरनाक स्थिति बिल्कुल नहीं कि देश के किसी दूर कोने में बर्बर हिंसा का आखेट हो रहे लोगों की प्राणांतक चीत्कार हमें 'देश के किन्हीं दूसरे हिस्सों में हो रही हिंसात्मक वारदातों', से ज्यादा कुछ न मालूम पड़े। कानून और व्यवस्था के सवाल को पूरी तरह धर्म और राजनीति के गंठजोड़ को खुद की गद्दी के पायों की तरह इस्तेमाल करते लोगों पर छोड़कर, हमने खुद को दूरदर्शन और अखबारों के हवाले कर दिया है। और जबकि हम इतना बिल्कुल जानते हैं कि वसीयतनामे की राजनीति में अपने दोनों स्कंध गवा चुकी राजनीति के दुश्चक्र से बच सकने का सिर्फ एक ही उपाय है—धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना। लेकिन हमसे इतना निहायत ही नैसर्गिक-सा सवाल भी आज तक नहीं उठाया जा सका, अपने स्वयंभू सर्वप्रभुत्वसपन्न भाग्यविधाताओं के सामने, कि यह धर्म-निरपेक्षता की छाल के नीचे संप्रदायवाद का भेड़िया किस देश के लोगों के लिए मोटा-ताजा किया जा रहा है?

कौन नहीं जानता कि धर्म-निरपेक्ष राज्य की पहचान सिर्फ यह है कि उसके संविधान में नाना प्रकार की धार्मिक-सांप्रदायिक सकीर्णताओं और राष्ट्र तथा समाज के सवाल से शून्य निजी कठमुल्लापनों के लिए कोई भी जगह कतई नहीं होगी।... लेकिन हमें हमारे संविधाननिर्माता मूर्खान्यों के द्वारा यह समझाया जाता रहा—और हम यही समझते रहे—कि धर्म-निरपेक्ष राज्य का मतलब है, नाना प्रकार के धर्मों और संप्रदायों की चुटिया अपनी गद्दी के हिसाब से गोखुरी बनाने, या मूंडने को स्वतंत्र राज्य!

हमने सिर्फ इतना देखा-सुना कि तुतुरी में क्या बजाया जा रहा है, यह नहीं कि तुतुरी बजाने वालों का सत्ताशकट किस दिशा में आगे बढ़ रहा है। आज सारे राष्ट्र की चेतना लहलुहान है, लेकिन धर्म और राजनीति के कुत्सित और विषाक्त देशी ठर्रे को धर्म-निरपेक्षता के अमृत के रूप में चखाते हुए लगातार 'अमृतपंथी' बनाते चल जा रहे राष्ट्रीय मूर्खान्यों के प्रति हम आज भी पूरी तरह उदासीन हैं; क्योंकि इतना हम बिल्कुल जानते हैं कि ये हम पर गैबी करिश्मों की तरह नाजिल नहीं हुए, बल्कि कुल मिलाकर, ये हमारी स्वयं की ही उत्पत्ति और निर्मिति हैं।

जो स्वयं चेतनाजड हों, वो कभी दूसरों से सवाल नहीं कर पाते; क्योंकि सवाल सिर्फ वही करता है, जो सतत जागता है। और यदि हम सचमुच जागते होते, तो ऐन उस मौके पर लॉर्ड माउण्टबेटन के हाथों में इस राष्ट्र का वसीयतनामा न थमाते, जबकि वह वक्त बिल्कुल-बिल्कुल करीब आ चुका था कि लॉर्ड माउण्टबेटन को सही-सलामत अपने विलायत मुलुक लौटने की इजाजत के लिए, हमसे भीख मांगनी पड़ती।

एक-दो साल नहीं, पूरे चार दशक बीत चुके, लेकिन क्या कभी एक क्षण को भी हमने इतिहास की ओर पलट कर देखा कि आज तक किसी भी क्षेत्र में कोई राष्ट्रीय नीति क्यों नहीं बनाई गई ? आखिर क्या कारण है कि यह महादेश, साठ-सत्तर करोड़ नागरिकों का एक सांगोपांग स्वतंत्र राष्ट्र बनने की जगह, 'चंद औद्योगिक तथा राजनैतिक घरानों की खानगी जागीर' की शक्ल लेता चला गया ? जिस जातिवाद, फिरकापरस्ती और नस्लवाद ने इस देश के अंतर्वितान को इतना आत्मजर्जर और छिन्नप्राण बना दिया कि मुट्ठी-भर विदेशी आक्राता सदियों-सदियों तक यहाँ खुद के बूटों की धमक कायम रखे रहे, इन सारी सघातक आनुवंशिक बीमारियों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद से भी ज्यादा सक्रामक रूप से फैलाते हुए लोगों को ही हम अपनी राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता का अभिरक्षक क्यों मानते चले गये ? क्यों हमने मान लिया कि विलायती साहबों की गुलामी गुलामी थी, लेकिन हिन्दुस्तानी साहबों के हमारी चेतना और संवेदना को रौंदते हुए बूटों के निशान हमारी छाती पर के बदनुमा दाग नहीं, बल्कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के प्रतीक रंगारंग गोदने हैं ? क्यों नहीं गई आखिर हममें से मानसिक और वैचारिक दासता की वह सड़ाध, जो हमारी एक स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिक की हैसियत से देखने, सोचने और संघर्ष करने की जिजीविषा को इस कदर कुद किये हुए है कि आज भी हक और न्याय हमारे लिए भीख में भांगे जाने की वस्तु है और अपने नितात नैसर्गिक अधिकारों के लिए भी हम अदालतों में मेले में पतल खोजते कुत्तों की सी दरिद्र और दयनीय मुद्रा में चक्कर काटते दिखाई पड़ते हैं ?

इस पट्टे की आजादी पर चल हरे मुल्क के बाशिंदों की आखों में जरा झांकिये, तो क्या कहीं दूर-दूर तक भी इनमें आदमी की तरह की अस्मिता की वह चमक है, जोकि इनके प्रकृति और परमात्मा की असीम अनुकम्पा का सा आभास कराती, इस सचमुच स्वर्ग से भी अधिक गरिमामय भूमि का निवासी होने को कोई साक्ष्य देती हो ? जिसमें कि संवेदना का एक ऐसा अनंत पारावार-सा हिलोरें लेता आभासित होता हो कि पृथिवी के किसी भी कोने में किसी आदमी की छाती पर यदि कोई बूट रखेगा, तो पानी यहाँ तक भी कुछ हिलेगा जरूर ?

क्योंकि कदाचित् ऐसा असंभव हुआ होता, तब क्या यही एक ऐसा देश रह गया था कि जहाँ संपूर्ण वसन्धरा को एक कुटुम्ब की तरह देखने का आह्वान करने की मूर्खता प्रकट की गई ? और आज इसी मुल्क में चले जाइये जरा पंजाब, तो वहाँ 'इन हिन्दू कुत्तों के जबड़े उखाड़ फेंकने हैं' से लेकर, यहाँ जाने कहाँ कहाँ 'इन सिखों की खाल में पूरी तरह भुस भरनी है !' का नारा तथा, 'सिख और मुस्लिम भाई-भाई, हिन्दू कौम कहाँ से आई ?' के बदले में 'हिन्दू-मुस्लिम भाई भाई, ये सिख कौम कहाँ से आई ?' के तराने गाते लोगों का अकाल इस महादेश में कहीं नहीं रह गया। तो क्या अब भी वह समय बिलकुल उपस्थित नहीं हुआ कि 'आवाज दो हम एक है'

के सियारोदन की जगह, हम उन तमाम कारणों की अब तक की सारी श्रृंखला की इस प्रतिश्रुति के साथ छान-फटक करें कि सत्य की विजय होती जरूर है, लेकिन सिर्फ वहीं, जहां कि सत्य सचमुच होता है।

दरअसल, संसदागार के मत्थे पर 'सत्यमेव जयते' का शिलापट्ट लगा देने के बाद, सच के प्रति चादर तानकर खुराटे भरना ही, आज हमें इस मुकाम पर ले आया है, जहां हममें न सच को सुनने का विवेक बचा रह गया है, न कहने का साहस। सच के जोखिमो से बचने के लिए हमने झूठ के अपनी-अपनी नाप के बहुरंगी अंगवस्त्र तैयार कर लिये हैं और धीरे-धीरे मान लिया है कि जब हमारी राष्ट्रीय सरकार शुद्ध सफेद झूठों से 'सत्यमेव जयते' का धंधा इस षट्क्रतुओं के कश्मीर से कन्याकुमारी तक विस्तीर्ण देश में बाकायदे और बखूबी चला सकती है, तो क्या हम सिर्फ अपने अड़ौस-पड़ौस में भी नहीं ?

अपने पिछले चार दशकों के अनुभवों से हमने बहुत-कुछ सीखा है और इस में सबसे पक्का और कारगर सबक यही है कि जो झूठ को सच साबित कर सकता है, वही आगे भी बढ़ सकता है।...और इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस दिशा में हमारी राष्ट्रीय सरकार का सर्वप्रभुत्व संपन्न 'चैतन्य-रथ' सारे नैतिक, सामाजिक और मानवीय मूल्यों को धूल में मिलाता जा रहा है, हमारी स्वयं की गति भी उसी पंथ में है। इस अर्थ में हमारा राष्ट्रीय चरित्र सचमुच एक है कि राष्ट्र से हमारा नाता उठाईगीरों से ज्यादा कोई नहीं।

देश-काल का विवेक अपने तमाम स्वनामधन्य राष्ट्रीय नेताओं की ही भांति, हमें भी चील के घोंसले में का मांस होता चला गया है। हम इस सनातन सच को बिल्कुल भूल गये हैं कि देश और काल भी आदमी को ठीक वैसे ही परिणाम देते हैं, जैसे कि देश-काल को वह बरतता है। यह जो हमारी उठाईगीरों की सी मानसिकता बनती गयी है कि जहां से जितना मौका लगे, अंटी करते चलो, इस द्वन्द्व में बिल्कुल न जाओ कि दूसरों का क्या होगा—इस चारित्रिक उठाईगीरी का ही वितान हमारे रोजमर्रा के कार्य-कलापों से लेकर, राष्ट्रीय मामलों के निर्धारण तक चला गया है। इसमें क्या शक कि अभी भी देश में उठाईगीरों की जमात छोटी है, इनके करिश्मों को भुगतते लोगों की बहुत बड़ी, लेकिन वह समय फिर बिल्कुल सिर पर है कि 'तेरी गठरी में लागा चोर, मुसाफिर जाग जरा !'

क्या गजब है कि 'धर्म-निरपेक्षता' का मुखौटा हमारी राष्ट्रीय सरकार के श्रीमुख पर अभी भी ज्यों का त्यों बरकरार है, जबकि बी शाहबानो का मामला इसका सारा चमचमाता रंग-रोगन पूरी तरह झाड़ चुका। आश्चर्य कि इतने बड़े राष्ट्र की इतनी

विशाल संसद में किसी भी सांसद से इतना नहीं कहा गया कि सवाल यह नहीं कि शाहबानो मामले में सर्वोच्च न्यायालय का फैसला शरीयत के विरुद्ध है कि नहीं, बल्कि बुनियादी सवाल तो है यह कि धर्म-निरपेक्ष राज्य की संसद में धार्मिक विधेयक के प्रस्तुत व पारित किये जाने के बाद राज्य के धर्म-निरपेक्षता के मुखौटे की चिड़िया उड़ गई या कि नहीं ?

कौन नहीं जानता कि कानून धर्म का नहीं, राज्य का विषय है और धार्मिक कानून को सिर्फ धार्मिक राज्य में ही मान्यता प्राप्त हो सकती है; क्योंकि कानून अपनी प्रकृति में ही शासनतंत्र के बरतने की वस्तु है, धर्म के बरतने की नहीं, किन्तु सफेद झूठ के ऊपर 'सत्यमेव जयते' की रजतपट्टिका जिंदाबाद, धर्मनिरपेक्ष राज्य का नाना भाति के धर्मों की बहुरंगी पताकाओं से अलंकृत चैतन्य रथ राष्ट्रीय ही नहीं, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय राजमार्गों पर भी विचरण करता चला जा रहा है, लेकिन आखों के रहते अधों को कुछ नहीं सूझ रहा कि यह अद्भुत अपूर्व राष्ट्रीय झंडा ही आज इस महादेश को फिर आत्मविखण्डन के उसी मोड़ पर ला चुका है, जहां पर कि 1947 की वसीयतनामे की राजनीति ने उसके दोनों स्कंधों को गिरावों की तरह नोच लिया था।

प० जवाहर लाल नेहरू ने 'भारतीय संविधान' की प्रस्तावना में अपना यह सुभाषित जुड़वाया कि 'सरकार वहीं तक जायेगी, जहाँ कि देश की जनता चाहेगी' लेकिन कांग्रेस का चैतन्य-रथ इसी शंखनाद से निनादित है कि पूरे राष्ट्र को वहाँ तक घसीटकर ही छोड़ेंगे, जहाँ तक कि हमें पहुँचना है !...सब जानते हैं कि जब डूबा, सियार ही डूबा, यह जगत तो नहीं, लेकिन 'हम डूबें, तो जग डूबा !' का मुहावरा कहाँ जायेगा ?

देश के माननीय डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन से लेकर माननीय जैलसिंह जी तक, किसी भी राष्ट्रपति को इतना भी अभिज्ञान न हो कि राष्ट्र के नागरिकों को आत्मिक आलोक के अभ्युदय और अध्यात्म की दिशा में जाने का संदेश देते हुए, हम क्यों खुद स्वर्णमंडित सिंहासनो की वुभुक्षा में व्याकुल हुए जा रहे हैं, वहाँ बेचारा 'सत्यमेव जयते' का शिलापट्ट आखिर और कब तक झूठ के चैतन्यरथों को आलोकित कर पायेगा ?

अध्यात्म, धर्म, विचार, चिंतन या मनीषा की आखिर पहचान क्या है ? सिवा इसके कि आदमी ही है, जिसके कि दोनों ओर जगत है — बाहर भी, भीतर भी। वही तो है, जिस पर कि इन दोनों जगत्तों का ध्यान और अभिज्ञान रखकर चलने की जिम्मेदारी आवेद होती है और इसी से माना जाता है कि 'लोक-परलोक' दोनों देखते चलना ही आदमी की कसौटी है। जब आदमी को इतना संज्ञान रहता है कि उसे बाहर ही नहीं, भीतर भी झाँकते चलना है, तभी उसमें यह चेतना आती है कि रथ को भी

उसने पहले अपने भीतर की भूमि में दौड़ाया है, तब बाहर के पथों पर। विमानों को भी पहले स्वयं के भीतर आकाशों में उड़ाया है, तब बाहर। विभीषण के 'रावणरथी विरथ रघुवीरा।' की भांति पर श्रीराम ने स्वयं के इसी चैतन्यरथ की ओर तो इंगित किया, जो कि शौर्य और धैर्य के चक्कों पर सत्य और शील की पताका लिये स्थित रहता है। और कि जिस पर विद्यमान रहे आदमी, तो सम-दम-नियम और क्षमा-करुणा ही उसके कालजयी आयुध बन जाते हैं और ऐसा चैतन्यरथी कभी कोई समर हारता नहीं, क्योंकि जब वह बाहर नहीं, तब भी भीतर के आदिगत राज्य में चक्रवर्ती रहता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चारों चक्कों पर स्वयं के चैतन्यरथ की संकल्पना में इहलोक की जिजीविषा में परलोक और परलोक के आलोक में लोक का सधान करता हुआ।

जी हा, बिल्कुल जान-बूझकर ही कर रहे हैं हम यहाँ मनुष्य के उदात्त रूप की वह संकल्पना, जिसकी अचूक गवाहिया हमारे इतिहास में बाकायदे मौजूद हैं; क्योंकि जब तक हमारे सामने मनुष्य का एक सा-गोपांग अक्षत प्रतिमान न रहेगा, तब तक वह राज्य व्यवस्थाओं के चैतन्यरथों की चकाचौध की तरफ कीड़े-मकोड़े की तरह खिचता ही चला जायेगा और 'सत्यमेव जयते' के कूट शिलापट्ट उसे झूठ के उन अधकूपों में बंदी बनाते ही रहेंगे, जहाँ अपनी अस्मिता के आलोक की कोई किरन आदमी के भीतर शेष नहीं रह जाती है और 'यशस्वी रहे, हे प्रभो, हे मुरारे ! चिरंजीव राजा व रानी हमारे।' की राजवंदना ही उसकी नियति बन जाती है। स्वयं के भी ठीक उतनी ही इंद्रियों से रचे गये होने की चेतना उसमें से पूरी तरह विलीन होती चली जाती है। तब वह सच और झूठ की उस पहचान को खो देता है, जो इस संपूर्ण भौतिक सृष्टि में सिर्फ और सिर्फ आदमी की अतर्वस्तु है।

अंत में हम पुनः प्रारम्भ, यानी चैतन्यरथ की दिशावाली बात, पर आना चाहेंगे। फिर यही सवाल उठाने हुए कि आखिर क्यों कुछ भी सम्यक् दिखाई या सुनाई नहीं पड़ता हमें — क्यों नहीं अनुभव कर पाते हैं हम पूरे राष्ट्र को स्वयं की तरह ? क्यों हमें राजसिंहासनों पर आरूढ़ व्यक्तियों की हत्या तो पागलों का सा महाशोग मनाने और सिर धुनने के मुकाम पर ले आती है, लेकिन हजारों निर्दोष स्त्री, पुरुष, बच्चों और बूढ़ों के सामूहिक नरमेध और उत्पीड़न सिर्फ 'अखबारी खबर' बनकर रह जाते हैं हमारे संवेदनजड जीवन में ? क्यों हमारी संवेदना, चेतना और अनुभूति का वृत्त सब तक समान रूप में व्याप्त नहीं हो पाता है ? और क्यों नहीं हम अपने संवेदन-तंत्र को राजपुरुषों की ही भांति सामान्य प्रजा से भी जोड़ पाते हैं ? जबकि राष्ट्र का अपने भूगोल ही नहीं, चेतना में भी एक होना जरूरी है ?

राष्ट्र भी, मनुष्य की ही भांति, दो समांतर लोकों की संरचना है। जितना बाहर के भूगोल, उतना भीतर की चेतना में भी विस्तार हो, तभी राष्ट्र सही अर्थों में एकात्म होता है और इस दूसरे विस्तार से शून्य 'भौगोलिक अखण्डता' ही हमें ब्रिटिश

साम्राज्यवाद के कील-जड़े बूटो से किसी तरह निकलते ही, जातिवाद, फिरकापरस्ती तथा झूठ और मानसिक-वैचारिक दीवालियेपन के इस भयावह कगार पर ले आई है, जहां हम स्वयं का सारा तंतु-वितान गंवा चुके हैं और सत्ताशकट में सवार राजनैतिक नौटंकिये हमें काठ के पुतलो की तरह, जैसे चाहे, वैसे नचा रहे हैं। जबकि प्रजा और राज्य, इन दोनों चक्रों के समांतर और समरूप होने से ही राष्ट्रों के चैतन्य-रथ सही दिशा में आगे बढ़ा करते हैं। जब हम सही दिशा में आगे बढ़ रहे होते हैं, तब अरण्य में बहती हवा भी बांसुरी में बजती-सी साफ सुनाई दे जाती है—जब गलत दिशा में, तब देश, काल और चेतना के सारे सवाल से शून्य चैतन्यरथ की रौद से उड़ती गद हमारे सारे सवेदन-तंत्र को ढक लेती है और तब हमें, सिवा सत्ताशकट के श्रुतिभक्षी शोर के, और कुछ सुनाई नहीं देता है।

राज्यतंत्र की छान-फटक में समर्थ प्रजाएँ ही स्वतंत्र राष्ट्रों का निर्माण संभव बनाती हैं—हमारी तरह अपने संपूर्ण चेतनातंत्र को सत्ताविलास के शतरजकारों के हाथों गिरवी रखकर, नीचे से ऊपर तक चादर तान लेने की जड़ता को ही राष्ट्रीय अखण्डता की प्रतिभूति मान लेने वाले लोग नहीं ! जो चैतन्य-रथों के सिर्फ बाहरी चाकचिक्य के मुरीद हुआ करते हैं, उसके अंतर्वितान के पारखी नहीं, उन्हें गति और निनाद ही पर्याप्त प्रतीत होते हैं, दिशा का सवाल उन्हें कभी व्यापता नहीं। उन्हें तो विदिशा ही एकमात्र सर्वोत्तम दिशा दिखाई पड़ती है। झूठ बताने वाले एक ढूँडो, तो हजार दिखाई पड़ जायेंगे इस महादेश की राजनीति की मण्डी में, लेकिन इस मंत्र को आखिर हमें कौन, कहाँ से आकर बतायेगा कि जिनके 'चैतन्य-रथ' देश, काल और मानवता के विपरीत चला करते हैं, उनका सब-कुछ विपरीत ही चलता जाता है। ऐसे में, क्या सचमुच अब भी वक्त बिल्कुल नहीं आया कि हम जरा अपने-अपने चैतन्य-रथों की दिशा को भी जांच ले; क्योंकि जाचते चलनेमें तो कुछ हर्ज नहीं ?

[अमर उजाला : 12 अक्टूबर 1986]

लोकतंत्र की शर्त पाखंड नहीं

इतना तो हम सभी जानते हैं कि ससार की केन्द्रीय धुरी आदमी है। देश और काल तक का अस्तित्व आदमी से है, क्योंकि जब तक कोई 'है' कहनेवाला न हो, तब तक कोई नहीं है।

कहता रिफ आदमी है, उसका 'नहीं है' कहना भी अस्तित्व बताना है, क्योंकि इस सृष्टि में जो-कुछ है, आदमी के प्रति और उसके ईद-गिर्द है, इसलिए संस्कृति हो या साहित्य, कला हो या विज्ञान, राजनीति हो या दर्शन अथवा इतिहास हो या भूगोल, इनकी प्रासंगिकता इसी बात से तय होगी कि इनमें आदमी की अवधारणा क्या है ? भारतीय संविधान इस नियम से बाहर नहीं। इसकी भी प्रासंगिकता इसी एक बात से तय होगी कि इसमें आदमी की अवधारणा क्या की गयी है। कहा रखा गया है उसे, केन्द्र में कि हाशिये पर ? क्या बोला गया है आदमी के बारे में, क्या किया गया है इसमें आदमी का बंदोबस्त। क्या दर्जा दिया गया है इसमें, आदमी के सवाल को।

'भारतीय संविधान' में आदमी की अवधारणा नादारद है और जब आदमी की नहीं, तब देश, काल या लोक की होने का सवाल कहां। इस पंचमवेद के प्रशस्तिवाचको से इतना हम जरूर जानना चाहेगे कि इसके कौन-से पृष्ठ पर, किस परिच्छेद में देश, काल और समाज की संकल्पना या अवधारणा की गयी है ? अगर जवाब हो कि इसकी तो प्रस्तावना में ही 'हम भारत के लोग' की स्पष्ट संकल्पना और अवधारणा की गयी है, तो यह सवाल का जवाब नहीं; क्योंकि सवाल सिर्फ सुन लेने की नहीं, बल्कि समझ पाने की शर्त भी रखता है।

जो इतना नहीं समझते हो कि दावेदारी कोरे शब्द नहीं, बल्कि कर्म से सिद्ध होती है, वो किसी भी सवाल को उसके पूरे प्रसंग में समझ ही नहीं सकते। किसी देश में होने की दावेदारी से ही कुछ सिद्ध नहीं हो सकता, अगर कर्म से देश से जुड़े होने की गवाही नदारद हो। 'भारतीय संविधान' इस देश के कुछ उन लोगों की भी निर्मिति है, जो अपनी चारित्रिक बनावट में ही औपनिवेशिक थे और जिन्हें देश की बंदरबांट खुद की सत्ता का उपाय दिखाई दिया। यही कारण है कि अपने बुनियादी चरित्र में यह संविधान भी औपनिवेशिक संविधान है। इसमें देश या समाज की जगह राज्य-सत्ता केंद्र में रखी गयी। इसके सारे अनुच्छेद-परिच्छेद राज्य सत्ता की सर्वोपरिता स्थापित करते हैं।

आदमी की अवधारणा के सवाल को बीच में ही छोड़ कर, संविधान के उपाख्यान पर आ जाने को प्रसंग से दूर निकल आना न मान लिया जाये। कई बार वस्तु को जहां का तहां छोड़ कर, उसे जरा दूर हट कर देख लेना भी जरूरी हो जाता है। आदमी की जगह संविधान की अवधारणा की तरफ निकल आने के पीछे उद्देश्य इतना ठीक-ठीक समझ लेना था कि जिस संविधान की परिकल्पना और अवधारणा ही देशी औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की सत्यानाशी जड़ों को पूरे राष्ट्र में फैला देने की कोशिश में हो, उसमें एक स्वाधीन और चेतनासंपन्न मनुष्य की संकल्पना को नैतिक और विधिक आधार दे सकने की चिंता कहां संभव होगी ? ऐसे में इतना कह लेने की इजाजत रहे कि यह तिलिस्मी किताब औपनिवेशिक प्रभुसत्तावर्ग का वह गजग्रंथ है, जिसके दिखाने के दांतों पर तो लोकतंत्र की नक्काशी है, लेकिन खाने के दांतों में अधिनायकवाद के अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

भारतीय नागरिकों के वैदिकयुग से लेकर आज तक के अनवरत संघर्षों की देन मूलभूत अधिकारों की प्रतिभूति (गारंटी) से लेकर, देशी प्रभुसत्तावर्ग के प्रहरी व्यक्ति (राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री) की संप्रभुता तथा निरंकुश सत्ता के केंद्रीकरण तक का इसका धुर अतर्विरोधी दोहरा चरित्र सचमुच देखने-योग्य है। इस तिलिस्मी किताब की अभेद्यता का साक्षात्कार ही तब होता है, जब आप इसका कुछ भेद पाना चाहें। जानना चाहें कि आखिर हमारे सामाजिक कार्यकलापों में क्या विधिसम्मत है, क्या नहीं और इसको प्रामाणिक रूप से बतानेवाली इस सर्वोच्च कानूनी किताब की हकीकत क्या है ? तब ही हमें पता चलता है कि इसे जांचना एक ऐसे तिलिस्म में प्रवेश करना है, जहां इसका हर एक अक्षर अभेद्य है। जिनके वास्ते इसके लिखे गये होने का दावा किया गया और जिन्हें इस सर्वोच्च कानूनी किताब का असली मालिक बताया गया, यानी 'हम भारत के लोग' —सिर्फ वही इसके स्वामी भी हैं।

ऐसे में इतना ही देख लेना काफी होगा कि इस सर्वोच्च विधिग्रंथ में 'हम भारत के लोग' से किन लोगों के चेहरे सामने उभरते हैं, देश के अस्सी करोड़ सामान्य जनों के, या गिने चुने राजनीतिक औद्योगिक धरानों और उनके अलम्बदारों के ? किसके हितों की संरक्षा पर ज्यादा जोर है, किन लोगों की हरियाली-खुशहाली की तरफ प्रवाह है इस संविधान के अतःस्रोतों का ?

दरअसल, संविधान की प्रस्तावना में के 'भारत के लोग' बिल्कुल अलग रहे हैं और हम शेष भारत के लोग बिल्कुल अलग। उनका दर्जा और रुतबा सुलेमानों, सुलतानों और हाकिमों का है और हमारी औकात जन्मजात स्वत्वहीन रियाया की। उनके हाथों में संविधानसम्मत कानूनी चाबुकों की चमकार है और भाषा में शास्ताओं

की हुंकार, हमारी चेतना पर इन चाबुकों की फटकार और दहशत के छाले हैं और वाणी में शासितों की रिरियाहट !

संविधान के आइने में जरा गौर से झांकते ही उनकी चमचमाती आकृतियां अलग दिख जाती हैं और हमारे बदरंग-बेआब चेहरे अलग ! जिन्हें हमारे कहे में कुछ अतिशयोक्ति—जैसी कोई चीज दिखाई दे, उनसे इस तिलिस्मी किताब के पृष्ठों पर एक नजर डाल लेने की विनती जरूर करेंगे हम । साथ ही यह निवेदन भी कि सही-सही तस्वीर सिर्फ उन्हें दिखाई पड़ सकती है, जिनकी आखों में सतह और मुखौटों के पार भी देख सकने की दृष्टि हो और जो वस्तु को उसके रूप ही नहीं, चरित्र में देखने की भी क्षमता रखते हो । जो इस सोने के ढक्कन से ढंके गये सत्य के साक्षात्कार में समर्थ हों कि जो भी किताब तैयार करेगा, खुद के हक में तैयार करेगा । इस सर्वोच्च कानूनी किताब को तैयार करनेवाले लोग कौन थे ?

आज हमारी बात बकवास लग सकती है, लेकिन जब भी स्वाधीनता की चेतना इस महादेश के करोड़ों सामान्य जनो में जागेगी, तो सबसे पहले इस संविधान को आदि से अंत तक बदलने की आवाज उठेगी; क्योंकि सचेत आदमी किसी भी वस्तु को गवाही के बिना स्वीकार नहीं करता । वह हर वस्तु को हित के हिसाब से उलट-पुलट, नाप-जोख, ठोक-बजा और छान-फटक कर ही ग्रहण करता है । क्या हमने अपनी इस सर्वोच्च कानूनी किताब को इस कसौटी पर कसा ? अगर यह हमारी समझ में नहीं आ रहा, तो सवाल उठाया कि क्यों समझ में नहीं आ रहा है ? किनके वास्ते, किनके हक में और किन लोगों के द्वारा लिखी गयी है यह किताब, इस बुनियादी बहस को उठाया कभी हमने ? जांचा कि ये भारत के लोग कौन हैं और 'हम भारत के लोग' कौन ? जिनके बीच में हर बात में शाहों और भिखमंगों की सी वह गहरी खाई है, जो हमें हमेशा दलितों की कतार में खड़ा रखेगी । जो हमें यह सवाल उठाने का अवसर कभी नहीं देना चाहेगी कि इस सर्वोच्च कानूनी किताब में हमारे अस्तित्व के बुनियादी सवालों की गवाही कहाँ है ?

फिर भी आदमी के सवाल तो हर हाल में आदमी के सवाल हैं और इन्हें हमेशा के लिए रोकने की ताकत तो काल तक में नहीं । जिस दिन इस देश के लोगों में पट्टे की आजादी के प्रति मोहभंग होगा, उसी दिन इस तिलिस्मी किताब के पन्ने भी सवालों की चपेट में आ जायेंगे । तब एक नहीं, अनेक सवाल उठेंगे । जिनमें एक सवाल यह भी हो सकता है कि 'हम भारत के लोग' का मतलब वास्तव में भारत के किन लोगों से है ? उन लोगों से, जो दून से नीचे की कभी नहीं हांकते ? या उन लोगों से, जो दो जून की रोटी को भी बेफिकरे नहीं ? वह लोग, जो सारे कायदे-कानूनों से ऊपर हैं, या वे जिन्हें कानून के शिकंजों ने भीतर तक तोड़ कर रख दिया है ?

एक तरफ 'भारत के हम लोग' हैं, जो इस संविधान पर सवाल उठाना चाहते हैं कि यह हमारी समझ से बाहर और हमारे सवालों से ऊपर क्यों है ? दूसरी तरफ 'हम

भारत के लोग' का चौधरी वह व्यक्ति है, जो अभयारण्य के सिंह-सा गरजता है, 'खबरदार, संविधान पर कोई सवाल न उठाया जाये !' क्योंकि उसका तर्क है कि संविधान पर सवाल उठाते ही अराजकता कायम हो जानी है... अब यही इंगित करना चाहेंगे कि क्या इस तितिस्मी किताब का मालिक यही खानदानी राजा है ? यही वह भारत का भाग्यविधाता अधिनायक है, जो खुद संविधानेतर शक्तिपुंज के रूप में स्थापित हो कर, हमें संविधान की दुहाई दे रहा है ? इस अधिनायक को आखिर कौन समझायेगा कि सवाल उठाना नहीं बल्कि सवालों का मुंह दबाना तानाशाही है ?

दरअसल, हमारे मौजूदा संविधान की तितिस्मी किताब की सी शक्ति निकल आने का कारण ही यही है कि यह समाज की सत्ता कायम करने की जगह अधिनायकत्व के चोर-दरवाजों पर ज्यादा जोर देता है। समाज की सत्ता को पहले विधायकों और सांसदों और बाद में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के हवाले करता हुआ, हमारा मौजूदा संविधान, समाज की सत्ता को विकेंद्रित, लेकिन राज्य की हुकूमत को एकाधिपत्यवादी बनाता है। जबकि लोकतंत्र की बुनियादी मांग ही यह बनती है कि राज्य की सत्ता का विकेंद्रीकरण हो और समाज की सत्ता का केन्द्रीकरण। इस संविधान में चुननेवाले लोगों की अवधारणा जड़ और मूर्खों के रूप में की गयी है, और चुन लिये गये लोग सारे सवालों से ऊपर हैं।

इसलिए कुछ सवाल जरूरी हैं।

कानून कौन लोग, किनके लिए बनायेंगे, कानून कैसे और किस रूप में व्यवहार में लाये जायेंगे, इन सारी बातों को संविधान तय करता है। संविधान की यह त्रासदी है कि इसे भारत के उन लोगों के द्वारा तैयार किया गया, जो अपने चरित्र में ही सत्तालोलुप थे। परिणाम हुआ यह कि 'विधि के राज्य' की घोषणा ढपोर शब्द की चूंचूँ हो कर रह गयी। कानून का यह पहलू गौण हो गया कि वह समाज के हितों और उसके अस्तित्व के सवालों की निगहबानी करता है, या नहीं। ऊपर आ गया यह अधिनायकत्व कि संसद के बहुमत द्वारा मान्य हो चुका, तो फिर सारे देश की चीख-चिल्लाहट की भी कोई कीमत या सुनवाई कहीं नहीं ! यह 'संसदीय बहुमत' भी राष्ट्रहित के चोर-दरवाजों से राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री, इन दो व्यक्तिसत्ताकेन्द्रों के स्वेच्छाचार की वस्तु बन गया। हमारा वर्तमान राष्ट्रपति बनाम प्रधानमंत्री का संवैधानिक द्वंद्वयुद्ध इसी सुंद-उपसुंद प्रणाली की थुक्का-फजीहत है।

यानी पहले विधायकों, सांसदों के प्रभुसत्तावर्ग की अवधारणा की गयी, फिर व्यक्ति के अधिनायकत्व का इंतजाम ! संविधान की कसौटी समाज नहीं रहा, बल्कि संसदीय प्रणाली से अधिनायकत्व की स्थापना हो गया। आपातस्थिति का काला कानून

इसी तर्क से कायम किया गया। गवर्नरों की प्रांतीय सरकारों को खुद के विवेक से बरखास्त करने की निरंकुशता इसी चोरपद्धति से अस्तित्व में आयी। राष्ट्रपति के गवर्नर से भी शक्तिहीन होने का बंदोबस्त इसी चालाकी में हुआ, क्योंकि पूरा संविधान पंडित जवाहरलाल नेहरू को केन्द्र में रख कर निर्मित किया गया। इसी से आज यह हास्यास्पद तमाशा सारे देश में उपस्थित हुआ है कि संविधानेतर पद्धति से प्रधानमंत्री को सदन के मत्थे मढ़नेवाला राष्ट्रपति जाने कितने संविधानविशेषज्ञों से अपनी दुर्दशा का रोना रोते घूम रहा है कि सेना के तीनों अंगों के सर्वोच्च सेनापति का दर्जा होते हुए भी, उसकी हैसियत प्रधानमंत्री के दरवाजे के सफेद हाथी से ज्यादा क्यों नहीं है।

यह मखौल का मामला नहीं, बल्कि एक पूरे राष्ट्र की अस्मिता का सवाल है कि उसका संविधान इस हद तक अतर्विरोधी और चोर-दरवाजों का तितित्स्म क्यों है कि जब भी कोई बड़ा संवैधानिक सवाल उपस्थित हो, पूरा देश निष्क्रिय और लाचार तमाशाबीनों की नियति में टगे रहने के सिवा और कुछ करने में समर्थ कतई नहीं हो? ऊपर से खुद संविधानेतर चोरदरवाजे से सत्तापीठ पर आसीन हुआ व्यक्ति लाखों की भीड़ में यह नितात असंवैधानिक धमकी देता फिरे, 'खबरदार, संविधान पर सवाल मत उठाना।' ..जबकि हमारे मौजूदा संविधान में इसके सारे काले कानूनों के बीच भी एक जो आलोकशिखा दिप-दिप करती दिखाई दे जाती है, वह 'सवाल उठा सकने की स्वतंत्रता' ही है।

बहस के लिए, सबसे-पहले इस बात की तमीज होना जरूरी है कि सवाल आक्षेप नहीं। सवाल को आक्षेपों की शक्ति में देखना ही तानाशाही मनोवृत्ति का परिचय देना है। लोकतंत्र के संविधान की बुनियादी पहचान ही यही है कि सवाल से उसका रूप-रंग और ज्यादा निखर आता है, या नहीं। सवाल के उठते ही उसके पृष्ठों पर आर-से-पार तक रोशनी के फव्वारे फूट पड़ते हैं, या नहीं...क्योंकि सवालों के प्रति गूंगा, बहरा और बज्जर संविधान सिर्फ एकाधिपत्यवादी तानाशाही की ही नुमाइंदगी कर सकता है, लोकतंत्र की नहीं।

हमने प्रारंभ में ही संविधान में आदमी की अवधारणा का सवाल उठाया था। अब हम कहना चाहेंगे कि इसमें आदमी की औकात क्या आंकी गयी है। उसे सवाल उठानेवाले नागरिक की हैसियत में देखा गया है, या कोड़े की फटकार पड़ते ही मिमियानेवाली भेड़ की शक्ति में? हमारे प्रधानमंत्री की मौजूदा फटकार से यही ध्वनि निकलती है कि इस तितित्स्मी किताब का एकछत्र मालिक वही है। यह तो सिर्फ उसकी विराटता है कि वह हम मरजी के मोहताजों के मुंह पर आपातस्थिति की लगाम ठूसने में लिहाज बरत रहा है। संविधान उसके इस विराट रूप के सामने सवाल खड़ा कर सकने में असमर्थ है। यह तो सिर्फ लोकभय है और पिछले इतिहास का दृष्टान्त कि तितित्स्मी किताब का मालिक तितित्स्म की आखिरी पुतली का करिश्मा दिखाने में कुछ हिचक रहा है।

हमारी राय में खुद प्रधानमंत्री के हक में होगा कि वह संविधान को राष्ट्रहित के छद्म तर्क से मुंहबंद बनाने की जगह, इसे जनहित में खुली किताब बनाने पर जोर दे; क्योंकि संविधान को तिलिस्मी किताब बनाना ही लोकतंत्र को एकाधिकारी राजतंत्र में बदलना है।

इतना क्यों नहीं स्मरण दिलाया — या रखा — जाना चाहिये कि संसदीय बहुमत के तर्क को लोकतंत्र के आधारभूत मूल्यों के अतिक्रमण तक नहीं ले जाया जा सकता ?

‘संसदीय बहुमत’ की हैसियत देश, समाज या नैतिक मूल्यों से बड़ी कैसे हो जायेगी ? और अगर हो, तो तब यह सिवा पाखण्ड के और क्या होगा ? लोकतंत्र के मुखौटे के भीतर अधिनायकवाद के आनंद उठाने की छूट का क्या मतलब होगा ?

□□

[‘चौथी दुनिया’ : 20 जून 1986]

हिंदू-मुसलिम दंगों की हकीकत

हिंदू-मुसलमान का सवाल जितना अहम है, उतना ही पेचीदा भी। इस सवाल के तार सैकड़ों सालों के इतिहास तक गये हैं। इसका रकबा, पाकिस्तान बन जाने के बावजूद, एक महादेश की सरहदों तक फैला हुआ है। चंद पन्नों में इस सवाल की तसवीर उतारना बहुत कठिन है। किस कोने से शुरू किया जाये और कहाँ जा कर जिक्र रोक दिया जाय ? सवाल नहीं, सवालों का एक अतहीन-सा जंगल है हिंदू-मुसलमान का सवाल ! अगर कोई कहे कि फिलहाल सिर्फ हिंदू-मुसलिम दंगों के प्रसंग तक सवाल सीमित है, तो भी इस सवाल का जवाब क्या होगा कि क्या यह सचमुच इतना सीमित सवाल है ? जबकि हमारी मौजूदा राज्य-व्यवस्था का रुख वास्तव में इसे इसी सीमित दायरे में बंद रखने का है। दिल्ली और मेरठ के हाल के दंगों को पूर्व-नियोजित करार देने के पीछे भी यही धूर्तता काम कर रही है कि परदे का सिर्फ उतना ही हिस्सा एक तरफ सरकाया जाये, जितने से नाटक को जारी रखने में मदद मिलनी हो।

इस बार के हिंदू-मुसलिम दंगों से यह बात कुछ और ज्यादा समझ में आयी कि दंगों को अखबारों में पढ़ने या लोगो से सुनने और खुद के अनुभव से जानने में क्या फर्क है। फिलहाल इस सीमित दायरे में ही कि हाल के इन दंगों की हकीकत क्या है। सरकार और उसके तंत्र की ओर से जोर दिया जा रहा है कि दंगे पूर्व-नियोजित थे। सामान्य लोगो, कहें कि खास तौर से हिंदुओं, का लेखा-जोखा है कि देश को फिर 1947 की तरफ मोड़ दिया गया है। कि धीरे-धीरे देश फिर विभाजन के नजदीक पहुंच रहा है, कि एक और पाकिस्तान का नक्शा, बड़ी तेजी से आकार पकड़ता हुआ, खालिस्तान के नक्शे की बगल में जगह तलाश रहा है। संभावित खतरों के खोजी, सिख-मुसलमान जुंटे की कल्पना तक में उड़ान भरने लगे हैं। इसे सिवा दुर्भाग्य के क्या कहें कि लोगो के भीतर जड़ें जमाती जा रही शंकाओं, दहशतों और मानसिक-वैचारिक तनावों को गहराई में जा कर समझने की जरूरत के प्रति सरकार ही नहीं, अधिसंख्य अखबार तक पूरी तरह उदासीन हैं। सतह पर खदबदाती सनसनी पर लोगो का ध्यान ज्यादा है, तल में जड़ें पकड़ते जा रहे विश्वास और संवेदना के संकटों की तरफ किसी की नजर नहीं।

पहले दंगों के 'पूर्वनियोजित' होने के दावों पर विचार करें। इतना तो हमारे गृहमंत्री बूटासिंह जी भी मानेंगे कि किसी भी कार्य का नियोजन यो ही हवा में नहीं

होता, वरन बाकायदे किसी उद्देश्य से और किन्हीं लोगों या किसी संस्था-समुदाय के द्वारा किया जाता है। क्या हमारे माननीय गृहमन्त्री बतायेगे कि हाल के दिल्ली-मेरठ दंगों का पूर्वनियोजन आखिर किया किसने है ? अगर बूटासिंह जी इस आरोप को स्वीकार करने को तैयार हो कि दंगे सरकार के इशारे पर हुए, तब सवाल का जवाब पूरा हो जाता है, क्योंकि तब दंगों का पूर्वनियोजन करनेवाली संस्था सामने स्पष्ट देखी जा सकती है। तय है कि ऐसा मान लेने की कतर्द गुंजाइश नहीं, तब सवाल सामने आता है कि दंगों का पूर्व-नियोजन करनेवाली ताकत कौन है ? कौन है, जिसने इन दंगों का 'ब्लू प्रिंट' तैयार करके, उसे अमली जामा पहनाया।

अगर सरकार के पास इस सवाल का जवाब नहीं है कि दंगों के पूर्व-नियोजन के पीछे कौन-सी सांप्रदायिक, या देशद्रोही ताकत काम कर रही है, तो यह दावा सिवा एक खोखले झूठ के और कुछ नहीं कि दंगे पूर्व नियोजित थे। 'किसके द्वारा' का सवाल दंगों के पूर्व-नियोजन का सबसे जरूरी सवाल है। जिसके पास इसका सही जवाब न हो, उसका दंगों के पूर्वनियोजित होने का दावा खुद की खाल बचाने की कोशिश के सिवा कुछ नहीं। अगर 'नियोजन' दिखाई दे रहा हो, तो 'नियोजकों' के नहीं दिखाई देने का तर्क क्या होगा ?

इस सिलसिले में यह पडताल जरूरी होगी कि क्या भारत को फिर से विभाजन के कगार पर जाने का षडयंत्र कर रही कोई मुसलिम ताकत संगठित हो चुकी है ? हम जो यह मानते चले आये हैं कि सत्ता की कुर्सी हाथियान या मुसलिम समुदाय के हितों की आवाज उठाने तक ही मुसलमानों के संगठित होने का मुहिम जाती है, इसके आगे नहीं, यह महज धोखा था और मुसलिम संगठन क्या सचमुच एक और पाकिस्तान कायम करने की अपनी तैयारी पूरी कर चुके हैं ? क्योंकि यदि हम इन दंगों को एक और पाकिस्तान कायम करने के ख्वाब की हकीकत में बदलने के इच्छुक मुसलिम सांप्रदायिक संगठनों का पूर्व-नियोजन मानें, तभी दंगों के पूर्व नियोजित होने का कोई तर्क बनता है। यहां आ कर भी सवाल खत्म नहीं, शुरू ही होता है कि क्या एक और पाकिस्तान का नक्शा तैयार कर चुके सांप्रदायिक मुसलिम संगठन सचमुच दिमागी तौर पर इस हद तक दीवालिये हैं कि उनका पूर्व-नियोजन भिवंडी, अहमदाबाद, मुरादाबाद, इलाहाबाद, फैजाबाद, मुलानानपुर, जौनपुर, बनारस, बरेली, रामपुर, दिल्ली-मेरठ वगैरह में ही अचानक उथले पानी के मगर की तरह कभी कहीं और कभी कहीं अपनी झलकी उजागर करता है और पिट-पिट कर, फिर अपनी जगह लौट जाता है ? याकि दंगों के 'पूर्वनियोजक' सिर्फ हिंदू हैं ?

अगर हाल के ये दंगे पाकिस्तान या हिंदुस्तानी मुसलिम सांप्रदायिक देशद्रोही संगठनों—द्वारा पूर्वनियोजित मान लिये जायें, तब तो सारी सासंत खुद ही खत्म हो जाती है। जिनका पूर्व-नियोजन इतना लचर, बेवकूफी से भरा और बचकाना हो कि

नतीजा कभी इस और कभी उस कोने के मुसलमानों को तबाही के हवाले करने के सिवा और कुछ न निकले, ऐसे बेपेंदी के लोगों के पूर्व-नियोजन से भला देश या हिंदुओं को क्या खतरा हो सकता है ? इस तरह के छूँछे, निकम्मे और निष्प्रभावी ही नहीं, बल्कि उलटे मुसलिम समुदाय के लिए ही घातक और खतरनाक दंगों को प्रायोजित करने वाली शक्तियों की तो फिक्र करने की कोई जरूरत ही नहीं होगी। लेकिन हकीकत कुछ और है। जितने तक में हमारा काम चल जाये, सिर्फ उतना ही सिर उठाने वाले दंगों का पूर्व-नियोजन न पाकिस्तान करना चाहेगा, न 'एक और पाकिस्तान' का ख्वाब देखनेवाली सांप्रदायिक मुसलिम शक्तियों को इनमें कोई दिलचस्पी होगी। इसलिए इस तरह मनचाही फसलों-सी तैयार हिंदू-मुसलिम सांप्रदायिकता को सिर्फ ऊपरी सतहों पर देखने से काम नहीं चलेगा; क्योंकि प्रायोजित किस्म के इन पूर्व-नियोजनों का यह सिलसिला सचमुच विश्वास और भागीदारी के ऐसे संकटों को जन्म दे सकता है, जब भेड़िया सचमुच सामने खड़ा दिखायी दे रहा हो। इसलिए भारत सरकार अगर यह मानती है कि ये दंगे पूर्वनियोजित थे, तो उसे यह भी जरूर बताना चाहिए कि किसके द्वारा। जब-तब इस तरह के क्षेत्रीय दंगे होते रहते हैं। इन्हें पूर्वनियोजित करार देना और फिर लंबे खर्चाटे भरने में डूब जाना, यह पूर्व-नियोजित निद्रा किसी दिन सचमुच भारी पड़ सकती है।

दंगों के पूर्वनियोजित होने का पता चलने के साथ ही, सरकार की मुहिम दंगों के नियोजकों को खोज निकालने की होनी चाहिए, जबकि दंगों को एक हद तक मुंह खोलने की छूट लेने और फिर उतनी ही हद तक मुंह दबा देने के सिवा और कोई सक्रियता भारत सरकार ने आज तक नहीं दिखायी है। दंगों के दौरान जिस तरह के फिरकापरस्त मुसलिम नेताओं या हिंदू संगठनों की तरफ सरकार बड़ी चतुरता के साथ संकेत करती देखी जाती है, उन्हीं के साथ कालांतर में वह सत्तनत की कुरसियों का समीकरण बिठाते पायी जाती है।

पिछले चालीस वर्षों के सारे हिंदू-मुसलिम दंगे पूर्व-नियोजित ही करार दिये गये हैं, लेकिन इन पूर्व-नियोजकों की शक्ति भारत सरकार के लिए आज भी हिमप्रदेश के यतियों के पैरों का निशान बनी हुई है। हमारे लिए यह समझना कठिन है कि हम किसे पूर्वनियोजित मानें—इन दंगों को, या कि इन्हें पूर्वनियोजित घोषित करनेवालों की सांप्रदायिक राजनीति की नौटंकी को ?

अब इस सवाल पर आयें कि क्या हम सचमुच 1947 के पिछले मुकाम तक जा रहे हैं, जहां हमारी अपनी लाशों का हलफनामा गले में टांगे हुए राष्ट्रीय भाग्य-विधाताओं को आखिर मान लेना पड़ा कि सिवा पाकिस्तान को मान्यता देने

के अब और कोई रास्ता बाकी नहीं रहा ? कौन नहीं जानता कि हिंदुस्तान-पाकिस्तान के नक्शे लाशों के अंबार के बीच ही अस्तित्व में आये, लेकिन इनमें एक भी लाश आजादी के उन ठेकेदारों में से किसी की नहीं थी, जिन्होंने छाती पर दो-हत्थड़ मारते हुए, न जाने कितनी बार यही हलफ उठाया था कि —पाकिस्तान अगर बना, तो हमारी लाशों पर बनेगा !

लाशों की यह सौदागरी इस देश की नियति में से आज तक नहीं गयी । राजनीतिक सल्तनतवाद और आर्थिक साम्राज्यवाद के गंठजोड़ ने आदमी को आदमी के तौर पर देखने की जरूरत न तब अनुभव की थी और न आज ही वह ऐसा अनुभव करता है । कितने हिंदू मरे, कितने मुसलमान या कितने सिख —सड़कछापों की मौत और उनकी तबाही की इस देश के भाग्यविधाताओं के लिए न पहले कभी प्रासंगिकता थी, न अब है । इसे शायद देश के करोड़ों-करोड़ सड़कछापों की नियति का अपरिहार्य अंग मान लिया गया है कि उनके कत्लेआम सल्तनत के पाये मजबूत करने के काम आयें । धार्मिक-सांप्रदायिक जुनून और उन्माद की खेती वोट की राजनीति का एक जरूरी हिस्सा बन गयी है । ऐसे में जब हम देश की भवितव्यता का खाका खींचने बैठें, तब इतना ध्यान रखना जरूरी होगा कि इतिहास खुद को ज्यों-का-त्यों कभी नहीं दोहराता ।

स्थितियों के देश के 1947 की तरफ मुड़ने नहीं, बल्कि इक्कीसवीं सदी के उस मुहाने की तरफ आगे/ले जाये जा रहे होने के सबूत अब साफ दिखाई देने लगे हैं, जहां सिर्फ हिंदू-मुसलिम दंगों की आग का दरिया नहीं होगा । सल्तनतवाद के करिश्मे 'हम होंगे कामयाब एक दिन' की धुन पर, देश को हिंदू-सिख और हरिजन-सवर्ण द्वंदों के हवाले ही नहीं कर चुके, बल्कि राजनीति को माफिया गिरोहों की गिरफ्त में पहुंचा चुके हैं । लोकतंत्र के लबादे में खूनी बर्बरता के दाग अब बिल्कुल साफ दिखाई देने लगे हैं । मेरठ के भीषण दंगे भी राजनीति के आदमखोर हो चुके होने का ही खुला सबूत हैं ।

क्या अब भी वक्त नहीं आया कि हम हिंदू-मुसलिम दंगों को सिर्फ ऊपरी सतहों पर न देख कर, इन जरूरी सवालों पर बहस खड़ी करें कि क्या भारत के मुसलमान सचमुच एक पाकिस्तान और वजूद में लाने की तैयारी कर रहे हैं ? क्या भारत के हिंदुओं ने सचमुच अनुभव कर लिया है कि मुसलमानों के साथ कोई साझीदारी नहीं हो सकती ? क्या मुसलमान और हिंदू हकीकत में एक-दूसरे के खून के प्यासे हो चुके हैं ? क्या सिर्फ धर्मनिरपेक्ष सरकार का करिश्मा है कि स्थितियों को नियंत्रण में किये हुए है ? यानी इधर इस सरकार ने अपना साया हटाया और उधर देश में खुला गृहयुद्ध शुरू हुआ ? यानी क्या गंगा-जमुनी संस्कृति और भावनात्मक रिश्तों के सारे नाते झूठे पड़ चुके और हिंदू-मुसलमान इस देश के एक गुलदस्ते के फूलों की जगह, एक म्यान की दो नंगी तलवारों की शक्ल ले चुके हैं ?

फसलें ही नहीं पकतीं, सवाल भी पकते हैं। हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाइयों के सहअस्तित्व, यानी विविधता में एकता का सवाल भी पक चुका है। ऐसे में 'आपस में सब भाई-भाई' और 'आवाज दो हम एक हैं', की दावेदार भारत सरकार से यह सवाल पूछना जरूरी हो जाता है कि 'दंगे पूर्व-नियोजित थे' कहकर, वह हमसे आखिर कहना क्या चाहती है ? सैकड़ों घर उजाड़ने का पूर्व-नियोजन किसके इशारों पर, किसकी छूट या किसके नाकारेपन के कारण हुआ ? अगर दंगों के पीछे 'पाकिस्तानी हाथ' कारण हो, तो ऐसे नाकारा अखंड राष्ट्रीय कटे हाथों का हम क्या करें, जो 'पाकिस्तानी हाथ' का रांड-रुदन मचाने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते ! और जो सारे हिंदू-मुसलिम-सिख दंगों के पीछे पाकिस्तान का हाथ होने की तर्ज में ही देश के और टुकड़े-टुकड़े हो जाने के पीछे भी 'पाकिस्तानी हाथ' ही होने की बात कर खुद का पल्लू झाड़ कर अलग हो जायेंगे ?' इसलिए अब यह तय करने की पहल खुद हिंदू, मुसलमान और सिखों को करनी होगी कि आखिर इन सारे पूर्व-नियोजित दंगों की हकीकत क्या है।

□□

['चौथी दुनिया' : 20 जून 1986]

हम तुम्हारे किसी तरह न हुए

माना कि प्रामाणिक सिर्फ इतिहास ही हो सकता है और राम इतिहास नहीं, मिथक की वस्तु हैं, लेकिन मिथक का भी जन्म किसी 'भूमि' में ही संभव है। अगर कहें कि तब वाल्मीकि की कल्पना (या अवधारणा) ही 'राम की जन्मभूमि' है, तो भी पहला सवाल होगा यह कि क्या वाल्मीकि इतिहाससिद्ध हैं ? दूसरा सवाल, जिसने कल्पना की, उसने कौन-सा स्थान बताया है ? और अगर उसके बताये हुए स्थान को लेकर सिर्फ स्मृति और आस्था के ही साक्ष्य हों, तो क्या इतिहास के तर्क से मान लिया जाए कि किसी देश-समाज की शताब्दियों-सहस्राब्दियों की स्मृति-आस्था को भी कोई सबूत नहीं माना जा सकता ?

बाबरी मस्जिद इतिहास-सिद्ध है, राम जन्मभूमि इतिहास-सिद्ध नहीं है। इतिहास बाबर का है, राम का नहीं। लेकिन इतिहास तो ख़ास ऐतिहासिक अर्थ में मुहम्मद साहब का भी नहीं। यह तथ्य स्वयं ही साफ बोलता है कि सवाल इतिहास की किताब से भी ज्यादा मानव समाज की स्मृति में होने का है। इतिहास में सैकड़ों-हजारों चक्रवर्ती सम्राट्, शहंशाह, सुलतान आदि बड़े-बड़े फन्ने खा हुए हैं, जिनसे उनके राज्य में हवा भी पनाह मांगती रही होगी, लेकिन काल का पोंछा फिरते ही खड़िया मिट्टी के हरेफ साबित हुए।

इतिहास होने का प्रमाण देता है। जो इतिहास की गवाही की जरूरत से ऊपर हैं, जो इतिहास में दर्ज नहीं होने के बावजूद कालचक्र के प्रत्येक अरे में मौजूद रहते हैं, उनकी गवाही समाज की परंपरागत आस्था और स्मृति ही होती है। इतिहास की इनके सामने कोई औकात नहीं। इनके आड़े आने पर इतिहास की प्रासंगिकता और प्रामाणिकता खतरे में पड़ सकती है; क्योंकि आदमी का इतिहास सिर्फ किताबों में दर्ज तिथियों, आंकड़ों और हवालों तक सीमित नहीं। इस दृष्टि से देखने पर राम जन्मभूमि के मसले को हिन्दू समाज की स्मृति का सवाल मान लेने के अलावा और कोई विकल्प नहीं होगा। राम जन्मभूमि का सवाल स्मृति के विवाद का सवाल नहीं रहा है। नहीं बनाया जाना चाहिये।

चूंकि राम 'लिखित इतिहास' से पूर्व की वस्तु है, रामायण भी, लेकिन इनके इतिहास के पन्नों पर दर्ज नहीं होने के बावजूद मौजूद होना इतना तो सिद्ध करता ही है कि राम जन्मभूमि का अस्तित्व लिखित इतिहास के पूर्व से है।

बाबरी मस्जिद बहुत बाद की चीज है और अगर आज शहाबुद्दीन साहब अपनी नुमाइंदगी में राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के ऐतिहासिक वजूद और दस्तावेजी सबूतों को लेकर मुल्ला और पण्डितों के बीच बहस चलाने की पेशकश कर रहे हैं, तो उनसे इतना पूछ लेने की हिमाकत हम भी जरूर करना चाहेंगे कि ऐतिहासिक दस्तावेजों को एक व्यापक मानव समाज की स्मृति और आस्था से ऊपर ले जाने का यह सिलसिला हिन्दू-मुसलमान की सामाजिक साझेदारियों के लिए खतरा साबित होने लगे, तब उनकी पहल क्या होगी ? इतिहास के दस्तावेजों पर शहद चुआना—या कि ऐसे तमाम ऐतिहासिक दस्तावेजों को भी हाशियों पर फेक देना, जो हिन्दू को मुसलमान और मुसलमान को हिन्दू का होने से रोकते हो ?

हमारी राय में, उस प्रत्येक दस्तावेज को आपसी साझे से नष्ट कर दिया जाना चाहिये, जो बीच में सिर्फ दरार ही डालने का काम करता हो। जो एक जगह के बाशिंदों को एक-दूसरे का साझीदार नहीं बनने दे।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लेकर कांग्रेसी हुकूमत के दौर तक, यह हिन्दू को मुसलमान और मुसलमान को हिन्दू का नहीं होने देने की सियासती साजिश बदस्तूर कायम है और पाकिस्तान चूंकि सिर्फ अग्रेजों और लीगियों की देन नहीं, इसमें कांग्रेसी हुक्कामों की शिरकत भी उतनी ही बड़ी है, इसलिए वह आज भी हिन्दू-मुसलमानों को दोफाड़ रखने का केन्द्र बना हुआ है। आज अगर मुसलमानों को पाकिस्तान से जोड़ने की पहल हिन्दू कट्टरपंथियों को मजबूत कर रही है, तो इसीलिए कि हिन्दू-मुस्लिम की के बीच की खाइयां आज भी ज्यों-की-त्यों कायम हैं।

दोनों तबकों में खाइयां गहरी-चौड़ी करने वाले लोगों की जमातें ही बुलन्दी पर हैं, इन्हे साझे की खेती के काम लाने वालों का दोनों तरफ अकाल है। कैसे राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का मामला लगातार छाती पर की कील की तरह गड़ा ही रहे, इस जोड़-तोड़ में सियासत और मजहब की खिचड़ी रांधने वाले मुल्ला-महंतों की कोई कमी नहीं, लेकिन गंगा-जमुनी संस्कृति की दावेदारी में कालिख की तरह मौजूद इस राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद के कोढ़ को दूर करने वालों का पूरा देश में सूखा पड़ा है। नहीं तो सवाल सिर्फ हिन्दू-मुसलमानों के एक-दूसरे को अपना साझीदार समझने का था, और है। राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का झगडा इनके सामने कुछ नहीं, अगर कि ये तय कर लें कि लड़ना नहीं है। हर मामले को सुलझा लेना है।

किसी में हमें जगह छोड़ देनी है, कहीं पर तुम्हें जगह निकाल देनी है। कोई झगड़ा ऐसा नहीं, जिसे दोनों सुलझाने को कृत-संकल्प हों और रास्ता नहीं निकल पाये। आज नकबी-जैसे मुसलमान ही कहने की पहल नहीं कर रहे। 1857 के विद्रोह के समय भी मसला उठा था और हिन्दू-मुसलमान में एका करने की मुहिम के चलते

ही मुस्लिम समाज की अनेकों मजहबी हस्तियों ने यह फैसला दे दिया था कि हिन्दू भाइयों की धार्मिक आस्था का सम्मान रखते हुए बाबरी मस्जिद का दावा वापस ले लिया जाय।

देश का दुर्भाग्य कि अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह की सारी कुर्बानियाँ बेकार चली गयीं और अंग्रेजों ने हिन्दू-मुसलमान के एक होने की संभावनाओं को न सिर्फ इतिहास के गर्त में धकेल दिया, बल्कि आने वाले समयों के लिए भी हिन्दू-मुसलमान को दोफाड़ रखने की सियासत ऐसी कायम कर गए कि दरारें आग का दरिया हुई जा रही हैं।

सवाल अगर 'राम मंदिर-बाबरी मस्जिद' का होता, तब हिन्दुओं का यह बड़प्पन होता कि वे हिन्दू-मुसलमान के समरस होने के सवाल पर राम-मंदिर का दावा छोड़ दे, लेकिन सवाल 'राम जन्मभूमि' का है और जब तक देश से धर्म पूरी तरह मिट नहीं जाय, तब तक धार्मिक आस्थाओं के सवालों पर एकतरफा मिट्टी नहीं डाली जा सकती। तब या तो साफ तय करना होगा कि चूँकि राम के जन्म का कोई वजूद नहीं, इतिहास की किताबों में इसकी कोई तारीख नहीं, इसलिये 'राम जन्मभूमि' की बात करना ही वाहियात है। और या यह समझदारी दिखानी ही होगी कि जिस नाम से एक पूरा देश-समाज स्मृति-आस्था के तंतुओं से गुंथा है, उसे भूमि देनी ही चाहिये। इसे झगड़े में डालना ठीक नहीं।

बाबरी मस्जिद कहीं भी बनायी जा सकती है, राम जन्मभूमि किसी भी जगह स्थापित नहीं की जा सकती। ऐसे में यह बिलकुल हो सकता था कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर बाबरी मस्जिद कहीं और बनाये और राम जन्मभूमि के मजहबी सियासत का अखाड़ा बनाये रखने की उस सदियों पुराने राजनीतिक षड्यंत्र को निष्क्रिय कर दिया जाय, जो आने वाले किसी वक्त में हिन्दू-मुसलमान के मेल-मिलाप की सारी संभावनाओं को इस तरह रेत-रेत कर सकता है कि फिर बात बनाने पर भी नहीं ही बने।

कोई समस्या जब खड़ी हो जाय, तब वह अपना हल मांगती जरूर है। सवाल है कि हिन्दू और मुसलमान राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद का मामला आखिर हल करेंगे कैसे? एक रास्ता हिन्दू-मुस्लिम दंगे-फसादों का है, जो इस झगड़े को और ज्यादा विनाशकारी रूप दे रहा है। एक रास्ता, कानून और न्याय का है, जो सरकार के हाथों में है और वो इस झगड़े को कभी खत्म नहीं होने देगी। जब सियासत लोगों को आपस में बांट और लड़ाकर कुर्सी पर कायम रहने की मुरीद हो, तब हिन्दू-मुसलमान के एक होने में उसके लिए खतरा होगा। हमारी चौखम्भा व्यवस्था सांप्रदायिकता, आर्थिक शोषण, उत्पीड़न और जातिवाद के पायों पर टिकी हुई है। राम जन्मभूमि बनाम बाबरी

मस्जिद झगड़े को कायम रखना इस चौखम्भा राज्य व्यवस्था की बहुत बड़ी जरूरत है।

ऐसे में मीर साहब का एक शेर याद आना स्वाभाविक है —

हम तुम्हारे किसी तरह न हुए,
वर्ना दुनिया में क्या नहीं होता।

हिन्दू-मुसलमानों और मुसलमान हिन्दुओं के किसी तरह नहीं हो पा रहे हैं, वरना राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के झगड़े में क्या रखा था। इस जहरबाद को खत्म करने के रास्ते निकालने कठिन नहीं थे, न है। मुश्किल है यही कि — हम तुम्हारे किसी तरह न हुए। तुम हमारे किसी तरह न हुए। □□

['अमृतप्रभात' : 13 दिसम्बर 1991]

लाल सूरज का डूबना

रूस में मार्क्सवाद के पतन, या कहें कि लगभग समूचे पूर्वी योरोप में साम्यवाद के पटाक्षेप, पर धुआँधार लिखा गया है। हालाँकि यह धुआँधारपन अभी सिर्फ साम्यवाद-मार्क्सवाद-विरोधी खेमे की ओर से फूटा है, कम्युनिस्ट आस्था से गुँथे दिखाई देने की कोशिशों में जुटे लोगों की ओर से नहीं। मार्क्सवादियों में गुमसुमपन ज्यादा दिखाई पड़ा है। उन्होंने यह समय अपने छोर पर बने रहने में ज्यादा बिताया है, लेकिन मार्क्सवाद के प्रति दलगत आग्रह या पूर्वग्रह नहीं रखने वालों की समस्या भिन्न है। होनी चाहिये।

रूस का पूरे जगत को झकझोरता मौजूदा पट-परिवर्तन सिर्फ ऊपरी सतहों पर देखे जाने की वस्तु नहीं है। इसके अंतःसूत्र बहुत बारीक और उतने ही मजबूत हैं। इसे सिर्फ गोर्बाचोव-येल्तसिन को केन्द्र में रखकर देखना ठीक नहीं; क्योंकि इस सारी राजनैतिक-सामाजिक उथल-पुथल के पीछे जो चीज एक गहरे और व्यापक नेपथ्य वाली आवाज की भाँति गूँज रही है, वह है — स्वाधीनता की टंकार !

मार्क्सवाद की सारी विफलता इसके स्वाधीनता से इंकार में छिपी है। मनुष्य की सामाजिक-आर्थिक मुक्ति की सारी दावेदारी आज चिंदियों में बिखर गई है, तो इसके कुछ गहरे कारण हैं और मार्क्सवाद के पटाक्षेप का सवाल उठाते में इनको केन्द्र में रखना जरूरी होगा।

आदमी के मुँह में लगाम लगाकर उसकी आर्थिक-सामाजिक मुक्ति के बंदोबस्त की सारी सिद्धांतबाजी आज अगर धूल चाटती दिखाई दे रही है, और इसके राजनीतिक अमलकारों की विशाल प्रतिमाएँ रूसी जनता के जूतों की ठोकरी का प्रतिरोध कर पाने में असमर्थ हैं, तो इसीलिये कि ऐसी कोई भी राज्यव्यवस्था अपनी जड़ें समाज में डाल ही नहीं सकती, जो स्वाधीनता की गूँज को दबाने में ईमान रखती हो।

मार्क्सवाद के विध्वंस के बीज इसके तथाकथित वैज्ञानिक समाजवाद की तलहटी में मौजूद थे। बल्कि इसे विध्वंस की जगह अंतर्ध्वंस कहना ज्यादा सही होगा; क्योंकि यह पूँजीवाद से सीधे संघर्ष में आये बिना ही चिटख गया। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को सैद्धांतिक ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक स्तर पर भी ध्वस्त करने के सवाल पर यह कोई क्रांतिकारी सिलसिला उत्पन्न कर नहीं पाया। जबकि, दूसरे छोर पर स्वाधीनता के मामले में आदमी को पार्टी और राज्य का दासानुदास जरूर बना दिया।

मनुष्य को हाशिये पर रखने वाला कोई भी विचारदर्शन अंततः मानवविरोधी साबित होकर रहता है, इसलिये मार्क्सवाद के पूर्वी योरप में पटाक्षेप के सवाल को मनुष्य को केन्द्र में रखकर देखना जरूरी होगा; क्योंकि रूस का मौजूदा परिदृश्य भी मूलतः राज्य (स्टेट) और मनुष्य के बीच के द्वन्द्व की ही उपज है। मार्क्सवाद चूँकि मूलतः एक आर्थिक-राजनैतिक दर्शन है और इसके सारे तार, बुनियादी तौर पर, राज्य (स्टेट) की अवधारणा से ही गुँथे हैं, इसलिये जरूरी होगा कि इसे इसी कसौटी पर कसा भी जाय; क्योंकि मार्क्सवाद का पटाक्षेप शोषण-अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष का पटाक्षेप नहीं है।

दुनिया-भर में सबसे बड़ा झगड़ा राज्य और आदमी का झगड़ा ही रहा है। सारे तख्ता-पलट इसी से जुड़े रहे हैं। राज्य बनाम आदमी, या आदमी बनाम राज्य का मामला ही पृथ्वी पर का सबसे बड़ा मामला है, और रहेगा; क्योंकि राज्य आदमी (समाज) की नाभि से ही उत्पन्न होता है, लेकिन राज्य और आदमी का यह नाभिनाल संबंध ठीक उसी समय दरक जाता है, जबकि राज्य अपने कद को आदमी से बड़ा बनाने में जुट जाय। मार्क्सवाद की सबसे मारक त्रासदी यही है कि यह राज्य को समाज से बड़ा बना देता है। कम्युनिस्ट पार्टी का रूस से बड़ा हो जाना ही सोवियत संघ की आज की उथल-पुथल का मुख्य कारण है।

दरअसल वैज्ञानिक समाजवाद की बॉग देने वाला मार्क्सवाद अपने उत्स में ही विज्ञानविरोधी तथा अनैसर्गिक रहा है। जो लोग विज्ञान तथा प्रकृति में विरुद्धता खोजते हों, वे विज्ञान को मानवविरोधी मानेंगे जरूर; क्योंकि यह एक नैसर्गिक ही नहीं, बल्कि बाकायदे वैज्ञानिक तथ्य है कि—सब-कुछ आदमी के इर्द-गिर्द है। आदमी से गुँथा हुआ।

आदमी और सृष्टि एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और इन्हें एक-दूसरे की संपूरकता में ही देखा जा सकता है, द्वन्द्व में नहीं। द्विधात्मक भौतिकवाद वस्तु और आदमी को एक दूसरे की अभ्यांतरता नहीं, बल्कि समानांतरता में देखता है, और जाहिर है कि वस्तु को आदमी या आदमी को वस्तु के विपरीत (या अलग) करके रखना, दोनों को ही बिलकुल गलत ढंग से देखना है।

मनुष्य की चेतना उसकी सामाजिक स्थितियों का निर्धारण नहीं करती, बल्कि सामाजिक स्थितियाँ उसकी चेतना का निर्धारण करती हैं—यह शुद्ध सफेद झूठ हास्यास्पद तथा कम्युनिस्ट पार्टियों का चरित्र भोंपूब्रिगेडों का होने से वास्तविकताएं धुंध में ढंकती चली गईं। किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी, या विचारक ने यह सवाल उठाया ही नहीं कि सामाजिक स्थितियाँ स्वयं में एक निर्धारण हैं। सामाजिक स्थितियों का निर्धारण प्राकृतिक स्तरों पर नहीं हुआ करता। अब अगर माने कि सामाजिक स्थितियों

का निर्धारण मनुष्य की चेतना नहीं करती, तो सवाल जरूरी होगा कि अगर मनुष्य नहीं, तो क्या महाशय डार्विन के मर्कटवृंदों के द्वारा सामाजिक स्थितियों का निर्धारण होता रहा ?

ईमान लाने, या सवाल नहीं उठाने, के मामले में मार्क्सवादियों का चरित्र साँईबाबा के चेलों से भिन्न कभी नहीं और कतई नहीं रहा। अन्यथा वस्तुओं या स्थितियों के द्वारा मनुष्य की चेतना का निर्धारण होते होने का मूर्खतापूर्ण कठसिद्धान्त कभी जड़ें नहीं पकड़ पाता। रूस के मौजूदा परिदृश्य से पहला सबक यही मिलता है कि वस्तुओं को आदमी से ऊपर करके देखना पूंजीवाद की नकल के सिवा कुछ नहीं। मार्क्सवाद की बुनियाद में पूंजीवाद की नकल मौजूद होने से ही यह असल की गहरी दाब को झेल नहीं पाया, इस सच्चाई को स्वीकार करते जिन्हें कष्ट अनुभव होता हो, उन्हें भूलना नहीं चाहिये कि भौतिकवाद की इस तथाकथित वैज्ञानिक अवधारणा में पूंजीवाद मार्क्सवाद का पुरखा ही साबित हुआ है।

पहले भौतिक संसाधनों पर कब्जा और फिर इसी मुकाम पर से मनुष्य की चेतना का अनुकूलन — ‘चेतना के अनुकूलन’ (कंडीशनिंग) की इस सैद्धान्तिकी पर ही तो सारा पूंजीवाद टिका है। मार्क्सवाद में इसमें सिर्फ यह पुछल्ला जुड़ गया कि ऐसा हम मनुष्य की आर्थिक-सामाजिक मुक्ति के लिए करेंगे। अर्थात् पहले साम्यवादी राज्य स्थापित किया, और इस प्रकार भौतिक संसाधनों को पूंजीवादियों की गिरफ्त से मुक्त करके, अपने कब्जे में ले लिया जाएगा और तब आदमी की आर्थिक-सामाजिक मुक्ति का पर्व शुरू होगा !...यानी सारे भौतिक संसाधनों (अर्थात् समाज के उपार्जनो) को कब्जे में करने के बाद, आदमी (समाज) के साम्यवादी विचारधारा के अनुसार ‘अनुकूलन’ की मुहिम शुरू की जायेगी।

पहले भौतिक संसाधनों पर कब्जा जमाकर, तब मनुष्य (समाज) की चेतना के साम्यवादी अनुकूलन की इस तथाकथित वैज्ञानिक-भौतिक द्वन्द्वात्मक-सिद्धांतबाजी ने ही एक तरफ सोवियत संघ के संसाधनों पर कम्युनिस्ट पार्टी के एकाधिपत्य की नींव डाली और दूसरी ओर, सोवियत जनता के मुंह में लगाम ! सोवियत जनता की चेतना के अपनी निहित स्वार्थों के हिसाब से अनुकूलन (कंडीशनिंग) की इस मुहिम ने ही अंततः कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति सोवियत समाज की घृणा के उत्स खोले और आज जलजला सामने है। सोवियत जनों की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति घृणा के इस अदम्य विस्फोट में उन महान् कॉमरेड लेनिन की प्रतिमाएँ तक धूल में लोट रही हैं, जो कभी सोवियत समाज की चेतना और संवेदना, दोनों का महापुंज हुआ करते थे।

आज के सोवियत परिदृश्य को उसके उन विचारधारात्मक अंतर्विरोधों की कसौटी पर भी देखना ही होगा, जिनके चलते आर्थिक-सामाजिक क्रांति का मार्क्सवादी लाल सूरज उसी महान् सोवियत संघ में डूबता दिखाई पड़ रहा है, जो कि 1917 की

उस महान जनक्रांति की जन्मभूमि रहा है, जिसकी अनुगूँज ने सारे पूजीवादी जगत की चूले हिला दी थीं।

जैसे लाल चोगा सफेद चोंगे का विकल्प तो हो सकता है, लेकिन चोंगे की सत्ता को नहीं मिटा सकता, ठीक ऐसे ही, साम्यवाद का लाल सूरज पूंजीवाद के स्याह-सफेद (सूरज) का विकल्प तो हो सकता था, और काफी हद तक ऐसा दिखाई भी पड़ा, लेकिन इससे पूंजीवाद की मूल सत्ता के लिए कोई गहरा, वास्तविक और नींव तक का सकट नहीं था; क्योंकि पूंजीवाद और मार्क्सवाद की कुल जमा द्वंद्वात्मकता अंततः भौतिकवाद बनाम भौतिकवाद तक ही सीमित रही है।

दरअसल वस्तुओं (या स्थितियों) को आदमी की चेतना से ऊपर करके देखने के सिद्धांत का प्रस्थानबिंदु पूंजीवाद रहा है, मार्क्सवाद नहीं। इस मामले में पूंजीवाद को प्रतिक्रियावाद करार देने वाले मार्क्सवाद की हैसियत खुद मियां फजीहत, दीगरे नसीहत से ज्यादा कुछ नहीं रही। विचारधारात्मक चिंतन के क्षेत्र में, प्रथमदृष्टया, अत्यंत आकर्षक, प्रभावी तथा मारकशक्ति से सम्पन्न शब्दावलियों के पुंज-कै-पुंज उपस्थित करने में समर्थ मार्क्सवाद की यही सबसे बड़ी त्रासदी रही कि उसमें शब्दों के प्रतिक्रियात्मक उत्पादन के अंतर्विरोधों की चेतना लुप्त रही है। सिर्फ रूप बदलकर वस्तु को उसकी समग्रता में नहीं बदला जा सकता, इस बुनियादी समझ का मार्क्सवाद में लोप रहा है। यह कारण है कि पूंजीवाद को रूपवाद की श्रेणी में रखनेवाले वस्तुवाद की सारी कलड़ सिर्फ 70 वर्षों में ही उधड़ गयी।

रूप और अंतर्वस्तु, ये वस्तु के ही अंग हैं और बिना रूप की वस्तु या बिना वस्तु का रूप असम्भव है। मूल चरित्र भौतिकवादी होने से ही मार्क्सवाद अपने समाजवादी स्वरूप को साकार नहीं कर पाया। भौतिकवाद स्वतः ही एक शुद्ध मानव (समाज) विराधी तत्व है; क्योंकि यह वस्तु को आदमी से ऊपर मानने के सिद्धांत पर टिका है। मार्क्सवाद की मूल त्रासदी यही है कि इसने भौतिकवाद तो पूंजीवाद से लगभग ज्यों-का-त्यों ले लिया, लेकिन पूंजीवाद के उस विचारधारात्मक लचीलेपन को वर्जित मान लिया, जिसके कारण ही पूंजीवाद सतत घटित हो रहे मार्क्सवाद के पटाक्षेप के बावजूद बकायदे मौजूद ही नहीं; बल्कि ढहते मार्क्सवाद के मलबे को हटाने में हाथ बंटाता दिख रहा है।

गारा पुख्ता नहीं होने से ही मार्क्सवाद का लालगढ़ आज खंडहरों में बदलता दिखाई पड़ा रहा है। पूंजीवाद ने लोकतंत्र के नुस्खों से अपने सुरक्षाकवच को इतना लचीला बनाये रखा है कि मार्क्सवाद की तकरीबन पाँच दशकों की गहरी दाब में भी ज्यादा दूर तक चिटखता कभी नहीं दिखाई पड़ा, जबकि मार्क्सवाद बोल गया। जिन दो बातों ने मार्क्सवाद को समय की दाब झेलने में समर्थ नहीं होने दिया, इनमें से एक

है, नकल से असल को मात देने में समर्थ होने का मुगलता और दूसरा — मनुष्य का तोताज्ञान !

समाज के उपार्जनो (मार्क्सवाद की शब्दावली में उत्पादन के संसाधनों) का निजी सम्पत्तियों के रूप में एकाधिपत्य पूंजीवाद की पहचान है। भौतिकवाद का, राजनीतिक अर्थों में, सिवा इसके और कुछ तात्पर्य होता नहीं कि उत्पादन के संसाधनों का एकाधिपत्य ही निर्णायक सत्ता है। अर्थात् जब सामाजिक उपार्जनो का स्वामित्व, निजी सम्पत्तियों के रूप में, चंद पूंजीनिवेशियों (व्यक्तियों) के हाथों में होगा, तो यह प्रकारांतर ही नहीं, बल्कि हर तरह से समाज की सत्ता के अपहरण का सूचक ही होगा और इसमें क्या शक कि वास्तविकता यही है।

बल्कि कहना होगा कि पूंजीवाद, अपनी बनावट, या बुनावट में ही समाजद्रोही है। वह समाज की सिर्फ आर्थिक ही नहीं, बल्कि आत्मिक सत्ता का अपहरण भी करता है; क्योंकि जगत सयुक्त है। आदमी भी। अगर बाहरी संसाधनों का अपहरण होगा, तो आत्मिक सत्ता का अपहरण भी होगा जरूर; क्योंकि आदमी न सिर्फ बाहर है, और न सिर्फ भीतर ! उसको दोनों जरूरी हैं। जो आर्थिक रूप से अधर में टगा हो, वह आत्मिक रूप से भी ठीक इसी हालत में होगा; क्योंकि समाज नियमों से चलता है, अपवादों से नहीं। ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं, जो आर्थिक रूप से कगाल बेहाल होते भी आत्मिक स्तर पर अडिग हो; लेकिन सवाल उनका है, जो कांप उठते हैं। जिनके बंधन सामान्य हैं। जिनको जोरू-जांता से मुक्ति नहीं। लेकिन पहले आर्थिक संसाधनों पर कब्जा और फिर इसी बूते मनुष्य की चेतना के अनुकूलिकरण के सिद्धांत पर टिका पूंजीवाद मार्क्सवाद से इस अर्थ में आदमी की ज्यादा समझ रखना है कि वह इस सचाई को अच्छी तरह जानता है कि आदमी सिर्फ जोरू जांता तक ही सीमित नहीं। वह अल्लामियां से भी नाता रखना चाहता है। वह अपने को अपनी तरह से कहना भी चाहता है। पूंजीवाद जानता है कि आदमी को ऐसे नचाना जरूरी है कि उसे यह भ्रान्ति बनी रहे कि उसे दूसरा कोई नहीं नचा रहा। हमारा चुनावी ढाँचा इसका सबूत है।

पूँजीवादी लोकतंत्र की कुलजमा कहानी, या निशानी, सिर्फ इतनी और सिर्फ इतनी ही है कि यह आदमी से खुद की मर्जी का मालिक होने की भ्रान्ति नहीं छीनता। पूंजीवाद, मार्क्सवाद की तरह, आदमी को अल्लामिया से नाता नहीं रखने की हिदायत नहीं देता। बल्कि वह तो आदमी को अल्लामियां से ज्यादा वास्ता रखने को उकसाता है, ताकि आदमी उसके पापों को देखने की जगह, खुद के पाप पुण्यों की गुंजलकों में ही फँसा रहे।

पूँजीवाद अपने पापों को पहचानता है, लेकिन आदमी का ध्यान हटाये रखने के लिए जबान पर ताले नहीं लटकाता, बल्कि चेतना को विरूपित करता है। पूंजीवाद

को पता है कि चेतना गडबड़ हो, तो नजर सही नहीं हो सकती। वह झूठ को नहीं पहचान सकता। पहचाने भी, तो उसके विरुद्ध खड़ा नहीं हो सकता। खड़ा हो भी, तो टिक नहीं सकता।

जब कि कम्युनिस्ट पार्टियों ने मान लिया कि छिपाने के लिए मार्क्सवाद का लबादा पर्याप्त है। हम भी भौतिक संसाधनों पर कब्जा किये बैठे हैं, लेकिन हमारा यह कब्जा मनुष्य की सामाजिक-आर्थिक मुक्ति के क्रांतिकारी इरादों का सबूत है और अगर तुम ऐसा मानने से इंकार करोगे, या इसके विरुद्ध जबान खोलोगे, तो क्रांति बंदूक की नली से ही निकलेगी—कम्युनिस्ट पार्टियों के इस मदमस्त रवैये ने ही आखिर-आखिर मार्क्सवाद का भट्ठा बिठा दिया। कम्युनिस्ट लीडरों ने इस सत्य को भुला ही दिया कि आदमी का मुँह दबाते चले जाने पर अंततः वह फूट पड़ता है और तब उसके विस्फोट की आवाज से दिशायेँ तक काँप उठती हैं, पार्टियों की तो हैसियत ही क्या है।

झूठ पाप है, लेकिन पूँजीवाद पाप को परदों में करने की कला जानता है और यह भी कि झूठ झूठ को नहीं मार सकता। मार्क्सवाद के झूठ को पहचान लेने के बाद ही पूँजीवाद ने इस पर जमकर हमला किया। इस पूरे इत्मीनान के साथ कि नकल असल के सामने टिक नहीं सकता।

पूँजीवाद से 'पहले आर्थिक संसाधनों' पर कब्जा और फिर इसी बूते 'चेतना के अनुकूलीकरण' की नकल मारते वक्त, मार्क्सवाद इस सचाई को भूल ही गया कि अगर आदमी को अपने हाथों टोहने की स्वाधीनता नहीं दी जाय, तो वह स्वर्ग पर सिर्फ इसलिये विश्वास नहीं कर लेगा कि चूँकि ऐसा बताया गया है। कैसे भी क्रांतिकारी मसीहाओं की बात पर आदमी इस शर्त पर विश्वास नहीं कर सकता कि जो बताया जा रहा है, इसके विरुद्ध बोलते ही जबान काट ली जायेगी।

आदमी खुदा के विरुद्ध भी बोलेगा जरूर, अगर कि उसे लगे ज्यादाती हुई है। जबान पर लगाम होने की स्थिति में उसका सारा ध्यान इसी बात पर रहेगा कि लगाम लगी है। मार्क्सवाद ने आदमी को उसकी सम्पूर्णता में देखने से साफ इंकार किया। उसने मान लिया कि वस्तु अगर सही है, तो रूप, और रूप अगर सही है, तो वस्तु को सही सिद्ध किया जा सकता है। यहां तक कि सिद्ध करने की ताकत हाथों में हो, तो गलत को भी सही साबित किया जा सकता है।

मनुष्य की सामाजिक-आर्थिक मुक्ति के मार्क्सवादी फलसफे को अपने-आपमें ही इतना सम्पूर्ण मान लिया गया कि आदमी के टोहने की गुंजाइश ही खत्म कर दी गयी। जिस भौतिकवाद को पूँजीवाद ने आदमी की जबान पर सीधे-सीधे लगाम लगाये बिना चलाने की नीति अपनाई, ठीक उसी भौतिकवाद—अर्थात् चेतना पर वस्तुओं के द्वारा आधिपत्य के सिद्धांत—को मार्क्सवाद ने कुछ ऐसे पृथिवी पर उतारना चाहा, जैसे कि एक नयी सृष्टि होने जा रही हो। एक अपूर्व महाक्रांति ! इसी विप्लव

विह्वलता में सूरज ही नहीं, सलाम तक लाल हो गया, लेकिन आखिर-आखिर आदमी को पता चल ही गया कि लगाम का रंग कोई मायने नहीं रखता।

हम तुम्हारी सामाजिक-आर्थिक मुक्ति के लिये कृतसंकल्प हैं, और हम यह महाक्रांति करके ही रहेंगे, लेकिन अगर तुम हमारी शर्तों पर ईमान नहीं लाओगे, तो तुमको गोली से उड़ा दिया जायेगा—क्रांति की इस परिभाषा को एक-न-एक दिन धूल में लोटना ही था; क्योंकि आदमी को अनंतकाल तक के लिये झूठ के हवाले नहीं रखा जा सकता। आतंक और मुक्ति साथ-साथ सम्भव नहीं।

हमारा भौतिकवाद सामाजिक-आर्थिक मुक्ति की क्रांतिकारी लालिमा में डूबा हुआ है, इस मुगालते को मार्क्सवाद जितनी ज्यादा दूर तक चलायेगा, उतनी ही ज्यादा फजीहत अतत होगी जरूर, यह चिंता मार्क्सवादियों में शुरू से ही नदारद रही। यह चिंता किसी ने की ही नहीं कि सामाजिक उपार्जनों या कि उत्पादन के साधनों के अलावा व्यक्तियों के हाथों से फला व्यक्तियों के हाथों में प्रत्यांतरण के सिद्धांत से क्रांति का क्या वास्ता? पूंजीनिवेशियों के एकाधिपत्य का निदान पार्टीनिवेशियों में खोजने का मतलब?

पूजीवाद को तोड़ने का मतलब होगा, सम्पदा या साधनों के निजी एकाधिपत्य को खत्म करना। समाज की सम्पदा पर समाज के ही आधिपत्य की व्यवस्था करना। इसका एक ही रास्ता हो सकता है—राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण; क्योंकि राजतंत्र ही साधनों पर नियंत्रण का साधन है। पूजीवाद ने निजी एकाधिपत्य को बनाये रखने के लिए एक ऐसे तथाकथित लोकतंत्र का आविष्कार किया, जो समाज का बदोबस्त समाज के ही हाथों में होने की भ्रांति रच सके और खुद समय गवाह है कि पूंजीवाद अपने इस अभियान में पूरी तरह सफल रहा है।

इतना सबक लेना जरूरी होगा कि आदमी को दूर-दूर तक और ज्यादा-से-ज्यादा समझने-बूझने के बाद ही अपना काम बनाने की दूरदेशी ने ही पूंजीवाद को आदमी को ज्यादा लम्बे समय तक धोखा देने में समर्थ बनाया। मार्क्सवाद भी धोखे के सिद्धान्त पर ही टिका है, लेकिन उसमें दूरदेशी नहीं है। मार्क्सवाद की मनुष्यसंबंधी समझ अधूरी ही नहीं, बल्कि पूरी तरह अवैज्ञानिक है।

मार्क्सवाद मनुष्य को हाशिये, या परिधि पर और खुद को केन्द्र में रखता है। वह आदमी की सत्ता को पार्टी में अतर्लपित करने के कठसिद्धांत पर टिका और डंके की चोट पर इसका ढिंढोरा पीटता रहा है। पूंजीवाद खुद को अंतर्धान रखने की कला जानता है। पूंजीनिवेशियों को ठीक उसी तरह मंच पर नहीं देखा जा सकता, जैसे कम्युनिस्ट पार्टियों के बड़े लीडरों को। पूजीवाद अपने को नेपथ्य में करना जानता है। वह भौतिकवाद के काले पक्ष से अच्छी तरह परिचित है। वह काले को लाल साबित करने के चक्कर में नहीं पड़ता। वह आदमी को अपनी मर्जी से शामिल दिखाता है।

पूँजीवादी लोकतंत्र की यही खूबी उसे बरकरार रखे है कि वह स्वाधीनता को छीनता तो है, लेकिन मार्क्सवाद की तरह मंच पर कोड़े फटकारता हुआ नहीं। पूँजीवाद ने स्वाधीनता के अपहरण के इतने सूक्ष्म उपादान निर्मित कर लिये हैं कि धीरे-धीरे उसने आदमी के नाचने-गाने, खेलने कूदने, हँसने-रौने और सोचने-विचारने तक को अपनी गिरफ्त में ले लिया है, लेकिन इस तरह कि लोग मुगलते में बने रहें कि उनकी नियति खुद उनके हाथों में है।

पूँजीवाद आदमी के मुह में लगाम लगाने की बेवकूफी नहीं करता। पूँजीवाद आदमी को खुद उसकी शर्तों पर मूर्ख बनाता है। मार्क्सवाद ने नहीं माना कि आदमी की जबान में ताला जड़ने से बड़ी मूर्खता कुछ नहीं; क्योंकि यह उसे साफ-साफ यही बताना है कि तुम हमारे गुलाम हो। मार्क्सवाद को कभी ध्यान रहा ही नहीं कि आदमी को खुद के बोलने को इस्तेमाल नहीं किया जा सकता।

आदमी झोल नहीं है। उसकी पोल कोई नहीं पा सकता। वह प्रत्यक्ष से ज्यादा अप्रत्यक्ष है। सोवियत संघ के मौजूदा परिदृश्य में भी उसका अप्रत्यक्ष ही प्रकट हुआ है—अर्थात् कम्युनिस्ट पार्टी से ओझल।

मार्क्सवाद का सारा तथाकथित वैज्ञानिक भौतिकवाद सिर्फ प्रत्यक्ष के फलसफे पर टिका रहा है। अप्रत्यक्ष के नकार ने ही उसे इतना भी नहीं देखने दिया कि जब सामाजिक उपार्जनो का एकाधिपत्य कम्युनिस्ट पार्टी के हाथों में केन्द्रित हो जायेगा—और पार्टी का एकाधिपत्य व्यक्तियों के, तो यह समाजवाद की शर्तें आखिर पूरी कैसे करेगा? समाज की नियति को चंद व्यक्तियों के हाथों की सामग्री बनाने का फलसफा सिर्फ इस नैतिक अवगुठन की झिल्ली से कैसे सामाजिक-आर्थिक क्रांति के जनपथ खोल लेगा कि चूँकि ऐसा संकल्प मौजूद है? संकल्पों के किताबों, झण्डों या पोस्टरों में मौजूद होने से क्या होगा, जब कि समाज को पूँजीनिवेशी व्यक्तियों की जगह, पार्टीनिवेशी व्यक्तियों के सिपुर्द किया जाना हो? और कोढ़ में खाज यह कि हमारे इस झूठ के विरुद्ध कोई जबान खोलेंगा नहीं!

खबरदार, अगर जबान खोलोगे, तो—आदमी को इससे बड़ी धमकी कुछ नहीं। यह डके की चोट पर आदमी की सत्ता का विध्वंस है। आदमी अपने इस विध्वंस को भीतर से—या भीतर तक—कभी स्वीकार नहीं कर सकता, इसके लिए दूर जाने की जरूरत क्यों होगी? सोवियत संघ का रूस ही रह जाना खुद यही बोल रहा है।

रूस एक महान देश है और एक महान समाज भी। जो जितना विशद हो, उसके अंतराल भी बड़े होते हैं। बड़ा देश अपने-आप में, एक बड़ा काल भी होता है। रूस ने कई अंतराल झेले हैं और उनके बीच से खुद की वैश्विक हैसियत बनाई है। आज उसने फिर पूरे विश्व में हलचल उत्पन्न की है और हमें इसे ठीक-ठीक समझने के लिए इसकी आर-पार तक की गहराइयों में जाना होगा; क्योंकि हम भी ठीक उसी

नियति के हवाले हैं, जिससे गुजरकर सोवियत जगत में विस्फोट हुआ। हमारा मौजूदा राज्यतंत्र भी वास्तविकता को छिपाने और झूठ को सच बनाने पर ही ईमान रखता है। इसीलिये यों तो पूरे विश्व को, लेकिन हमें खासतौर पर सोवियत संघ के मौजूदा परिदृश्य को सचमुच बहुत ध्यान से देखना जरूरी है।

‘माक्सवाद आदमी के तोताज्ञान पर टिका है’, कहने से तात्पर्य यही था कि आदमी के मामले में अनुपात ही नहीं, बल्कि उपसर्ग-प्रत्यय का विवेक भी जरूरी है। उपसर्ग की जगह प्रत्यय और प्रत्यय की जगह उपसर्ग लगाते ही शब्द की सत्ता विरूपित हो जायेगी। आदमी के साथ भी नियम यही है। उसके वस्तु-विधान में चूक रह गयी, तो सारा वस्तुवाद धरा रह जाएगा, इस चिंता के नदारद होने से ही माक्सवाद में आर्थिक मुक्ति को पहले और वैचारिक स्वाधीनता के प्रावधान को अंत में जगह दी गयी। इस सचाई को भुला ही दिया गया कि स्वाधीनता अलग-अलग कतरनों में नहीं होती।

जिस फलसफे में मनुष्य की सामाजिक-आर्थिक मुक्ति का दावा हो, उसमें स्वाधीनता की समझ का गायब होना क्या सिद्ध करेगा? माक्सवाद, कुलमिलाकर, राज्यव्यवस्था का सिद्धांत है और राज्य जब चलता है, किसी किताब—या किताबी नियामत—से चलता है। अर्थात् संविधान से। माक्सवाद भी संविधान से ही चल सकता था। चलता आया...लेकिन जिस संविधान में स्वाधीनता का प्रावधान नदारद हो, वह अगर आदमी की मुक्ति का दावा करे, तो जाहिर है कि यह सिवा सफेद झूठ के कुछ नहीं होगा और रंग बदल देने से झूठ सच नहीं हो जाता।

जैसा कि पहले ही कहा, स्वाधीनता अलग अलग टुकड़ों में नहीं दी जा सकती। एक स्वाधीनता आज और दूसरी कल नहीं दी जा सकती। वैचारिक स्वाधीनता नदारद, तब आर्थिक स्वाधीनता कैसे विद्यमान होगी? हमें कौन बतायेगा कि हम आर्थिक रूप से स्वाधीन हो चुके? आदमी का स्वाधीन होना हर हाल में, खुद उसके बताने की बात है। स्वाधीनता दूसरों के द्वारा बतायी जाने वाली वस्तु न कभी थी, न आज है और न कभी भविष्य में होगी।

माक्सवाद स्वाधीनता की निहायत ही दुराग्रही, अधूरी और अवैज्ञानिक समझ के कारण ही राज्य के आतंक का पर्याय होकर रह गया। पूंजीवाद को उलटकर एक नया क्रांतिकारी विचारदर्शन चलाने की मुहिम में माक्सवाद ने पूंजीवाद की पूँछ, अर्थात् आर्थिक स्वाधीनता के सिद्धांत को आगे लगा लिया और अभिव्यक्ति व विचार की स्वाधीनता को पूँछ की जगह डाल दिया! पहले आर्थिक, तब वैचारिक स्वाधीनता की इस पेशकश ने ही कम्युनिस्ट पार्टियों के द्वारा अभिव्यक्ति और विचार की स्वाधीनता को कुचले जाने का सैद्धांतिक आधार निर्मित किया। इस प्रकार पूंजीवाद को ही उलट-पुलटकर क्रांति की भ्रांति रचने का यह स्वाभाविक दुष्परिणाम

हुआ कि हीगेल को, सिर की जगह, पांवों पर खड़ा करने का दावेदार मार्क्सवाद खुद शीर्षासन करता-करता, बिखर गया।

दक्षिणपंथी भौतिकवाद को वामपंथी भौतिकवाद से बेदखल करने की खाभखयाली ने इस सनातन सच को नहीं जाना कि बायीं आँख का काना दायीं आँख के काने से बेहतर नहीं हो सकता।

मार्क्सवाद के निरंतर घटित हो रहे पटाक्षेप को समझने को इस बुनियादी बात को भी समझना जरूरी होगा कि राज्य की अवधारणा ही स्वाधीनता के निमित्त की जाती है, इसलिये राज्य के संविधान में पहले ही पृष्ठ पर स्वाधीनता की गारण्टी जरूरी है। राज्य की संप्रभुता को नागरिक की स्वाधीनता से ऊपर करके नहीं देखा जा सकता। मार्क्सवाद सिर्फ राज्य (पार्टी) की सम्प्रभुता के हवाले होकर रह गया, जब कि पूंजीवाद ने अपने एकाधिपत्य पर समाज (अर्थात् जनता) के सम्प्रभुत्व की झिल्ली चढ़ाकर, लोकतांत्रिक पूंजीवाद के जनता के द्वारा और जनता के लिये होने की भ्रांति रचने में महारत हासिल करके दिखा दिया।

मार्क्सवाद के संदर्भ में स्वाधीनता की बात पर ज्यादा जोर देना खुद इसके ही हक में है; क्योंकि अगर मार्क्सवाद ने, अपने कथित वैज्ञानिक भौतिकवाद को पूंजीवाद से उधार लेते समय, स्वाधीनता के सवाल पर गहराई से विचार कर लिया होता, तो तथ है कि इसकी शक्ति वैसी कतई नहीं निकलती, जो कि प्रतिमाओं तक में घृण्य हो गयी है। सोवियत समाज के प्रतिमा-भंजन को उसके प्रतिमामण्डन के संदर्भ में ही देखना होगा।

जारशाही से मुक्ति को सोवियत समाज ने इस रूप में कदापि नहीं देखना चाहा होगा कि उसे पार्टीशाही का आखेट होना पड़े। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की वर्गसंघर्ष और आर्थिक-सामाजिक क्रांति की परिणति सोवियत समाज की जबान को कील दिये जाने में होगी, यह आशंका तो तब रूस से बाहर भी नहीं की गयी थी। सर्वहारा के नाम पर तानाशाही का सिलसिला 'गेस्टापो सिस्टम' तक पहुंचेगा और स्वाधीनता का तकाजा साइबेरिया के यातनाशिविरों के हवाले करेगा, यह अंदेशा रूस की जनता को हुआ होता, तो वे मार्क्स-लेनिन की प्रतिमाओं को इतना विशाल देखने की कामना कदापि नहीं करते कि उनका ढहना कुम्भकरण का नीचे गिरना जान पड़े।

मार्क्स मनुष्य की मुक्ति के महान् स्वप्नदृष्टा थे। उनका जीवन मनुष्यता के पक्ष में उत्सर्ग का एक महान् दृष्टांत है, लेकिन राज्य के चरित्र की ठीक-ठीक परिकल्पना वो कर नहीं पाये। राज्य सिर्फ रूप, या वस्तु या किताब नहीं, बल्कि अपने पूरे चरित्र से ही चल सकता है और उसके स्वविवेक पर आंख मूंदकर ईमान नहीं लाया जा सकता, यह सावधानी रही होती, तो यह बेपैदी का सद्विश्वास भी नहीं ही बन पाता कि कम्युनिस्ट पार्टी स्वतःसिद्ध रूप से जनसमाज की सामाजिक-आर्थिक मुक्ति को

प्रतिबद्ध होगी। कम्युनिस्ट पार्टी (राज्य) पर अंधविश्वास ही यह नौबत लाया कि मार्क्सवाद का मुखौटा भी मार्क्सवाद ही हो गया।

पूँजीवाद का निदान, जैसा कि पहले भी कहा, राजनीतिक सत्ता (राज्यव्यवस्था) के विकेन्द्रीकरण में ही खोजा जा सकता था, लेकिन मार्क्सवाद ने सत्ता का केन्द्रीकरण कम्युनिस्ट पार्टी में करके यह भ्रम उत्पन्न करना चाहा कि—कम्युनिस्ट पार्टी ही कम्युनिस्ट समाज भी है। इस तरह सत्ता के कम्युनिस्ट समाज को हस्तांतरण के सारे रास्ते समेट लिये गए और सर्वहारा की तानाशाही के नाम पर सत्ता का केन्द्रीकरण कम्युनिस्ट पार्टी में होता गया। सोवियत संघ का मौजूदा परिदृश्य समाज की सत्ता के पार्टी में केन्द्रीकरण की ही परिणति है।

स्वाधीनता की नितांत अवैज्ञानिक तथा समाजविरोधी अवधारणा को सैनिक तानाशाही के बूते पर आकार देने का ही यह परिणाम हुआ कि कम्युनिज्म की शक्ति तानाशाही से भी बदतर निकलती गयी। रूस की मौजूदा उथल-पुथल को मार्क्सवाद के इस बुनियादी अंतर्विरोध की गवाही में देखना जरूरी होगा। इस तर्क में कुछ दम नहीं कि मार्क्सवाद सिद्धांत रूप में सही है, सिर्फ परिपालन में गड़बड़ियां हुई हैं। आदमी की मुक्ति का ऐलान उसका मुंह दाबकर करना ठीक नहीं। अभिव्यक्ति की स्वाधीनता आर्थिक स्वाधीनता की बुनियादी शर्त है। अभिव्यक्ति की स्वाधीनता के हनन के कारण मार्क्सवाद की बुनियाद ही मानवविरोधी रही है, इस सचाई को झुठलाना बेकार है।

अभिव्यक्ति पर पाबंदी वास्तविकताओं को छिपाने, या झुठलाने के लिए ही लगायी जाती है। सचाइयों को पूँजीवाद भी झुठलाता है, लेकिन अभिव्यक्ति पर पाबंदी लगाकर नहीं, बल्कि दुरभिव्यक्ति के मुहाने खोलकर। अपसंस्कृति पूँजीवाद का सबसे बड़ा साधन है। वह जबान बाँधने की जगह, चेतना को गड़बड़ाने और सामाजिक-सांस्कृतिक उत्सों को नष्ट करने में विश्वास रखता है।

हमारी मौजूदा व्यवस्था भी वास्तविकताओं को झुठलाने और मनुष्य के सामाजिक-सांस्कृतिक स्रोतों को नष्ट करने का काम ही कर रही है, इसलिये रूस में मार्क्सवाद का पटाक्षेप हमारे लिये उत्सव का विषय नहीं हो सकता; क्योंकि एक झूठ का खत्म होना, दूसरे झूठ को सच में नहीं बदल सकता। मार्क्सवाद का पटाक्षेप पूँजीवाद के सर्वग्रासी होने का सूचक तो हो सकता है, लेकिन समाजवाद का विकल्प भी पूँजीवाद में ही अंतर्भूत होने का नहीं। मार्क्सवाद का पटाक्षेप अंततः एक महाशून्य उत्पन्न करेगा जरूर।

सोवियत संघ का विखराव इस बात का दृष्टांत भी है कि सिर्फ राजनीतिक शक्तिधरता से देश को एकजुट रखना संभव नहीं। संस्कृति ही देश और समाज का सबसे बड़ा साधन है और संस्कृति ही समाज की आत्मा। सोवियत गणराज्यों के संदर्भ में सांस्कृतिक एकात्मता के अकाल को साफ देखा जा सकता है। भारत के लिए इसे

गम्भीर चेतावनी का विषय होना ही चाहिये, क्योंकि यहां भी सांस्कृतिक एकात्मता को तहस-नहस किये जाने की मुहिम सतत जारी है। जाति, धर्म और सम्प्रदायों की राजनीति भारत के सांस्कृतिक-सामाजिक विखंडन की प्रक्रिया को लगातार तेज करती जा रही है और इस सचाई को देश की जनता से छिपाया जा रहा है। जिस दिन राजनीति का झूठ पूरी तरह पककर फूटेगा, भारत की स्थिति सोवियत संघ से बदतर ही दिखाई पड़ेगी। इसलिये मार्क्सवाद का उसकी पितृ भूमि रूस में ही हो रहा पटाक्षेप हमारे लिये कोई सामान्य घटना नहीं हो सकता।

मार्क्सवाद का यह पटाक्षेप खुद पूंजीवाद के लिये भी एक गम्भीर चुनौती है; क्योंकि मार्क्सवाद का पूरी तरह खात्मा भी हो गया तो, इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होगा कि शोषण, उत्पीड़न और अन्याय के विरुद्ध आदमी के संघर्ष का सिलसिला खत्म हुआ। पूंजीवाद की बुनियाद में भी मनुष्य का विरोध है। वस्तु को चेतना पर लादने की इसकी मुहिम भयानक तथा भयावह रूप से मानवविरोधी है। यह सिर्फ अपने लचीलेपन की बदौलत टिका है, लेकिन मार्क्सवाद के पटाक्षेप से आदमी की चेतना के बंध भी खुलेंगे जरूर। मार्क्सवाद का पटाक्षेप यह सिद्ध करेगा कि पूंजीवाद का सामना करने को कोई दूसरा रास्ता खोजना होगा और इसका प्रस्थान-बिंदु स्वाधीनता की इस वैज्ञानिक समझ से प्रारम्भ होगा कि आदमी के तंतुजाल को बंदूक की नली से नहीं सुलझाया जा सकता। आदमी का मूल स्वर संवेदना है। उसे बंदूक के सहारे ही खड़ी होने में समर्थ सिद्धांतबाजियों से ज्यादा दूर तक नहीं हांका जा सकता; क्योंकि जब उसकी जबान पर लगाम हो, तब भी वह चित्त की लौ को स्वाधीन है।

स्वाधीनता को जितना पूंजीवाद बाधित करता है, इससे बड़े पैमाने पर तहस-नहस करने के कारण ही मार्क्सवाद की दुर्गति हुई है। आदमी सब-कुछ छोड़ सकता है, स्वाधीनता को नहीं; क्योंकि स्वाधीनता ही उसका प्राण है। इसलिये आज भी इतना बिल्कुल कहा जा सकता है कि सोवियत संघ में कम्युनिज्म के लाल सूरज का डूबना भी अंततः आदमी के चैतन्य की ही गवाही देगा, उसकी चेतना के डूब रहे होने की नहीं ! क्योंकि यह उसके द्वारा अपनी पुस्त में ही गलत किताब को पहचान लिये गए होने का प्रमाण है।

तब फिर कहना होगा कि मार्क्सवाद का पटाक्षेप मनुष्य के संघर्ष का पटाक्षेप नहीं है। यह उसकी एक विराट भ्रांति का अंत है, चेतना का नहीं। आदमी का सूरज सारे घटाटोपों के बावजूद उसमें ही विद्यमान रहता है। वह कभी नहीं डूबता और कदापि नहीं डूबता।

□□

['राष्ट्रीय सहारा' : 9 सितम्बर, 1991]

धर्मनिरपेक्षता का पाखण्ड और भाजपा

धर्मनिरपेक्षता का ढिंढोरा पीटने और भाजपा पर शुद्ध हिंदू साम्प्रदायिक धार्मिक राजनैतिक दल होने का आरोप लगाने में कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टियों, दोनों का समान जोर रहा है। ये दोनों खेमे भाजपा पर 'हिन्दू राज्य' की स्थापना की स्वप्नदर्शिता की तोहमत भी थोपते रहे हैं, लेकिन सवाल है कि क्या ये खुद धर्मनिरपेक्ष हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं कि मिया फजीहत ही नसीहतें बांटते फिर रहे हों ?

कौन राजनैतिक पार्टी धर्मनिरपेक्ष है, कौन नहीं, इसके लिए धर्मनिरपेक्षता, अथवा धर्मनिरपेक्ष राज्य, की एक स्पष्ट अवधारणा करनी ही होगी, जो कि दुर्भाग्य से स्वयं 'भारतीय संविधान' तक में नहीं है। इसमें धर्मनिरपेक्षता की उद्घोषणा-मात्र है, विवेचना नहीं। यह कारण है कि हमारे शिखर विधिवेत्ता और बौद्धिक तक प्रायः यही कहते पाये जाते हैं कि अभी हमारे पास धर्मनिरपेक्षता (सेक्यूलरिज्म) या धर्मनिरपेक्ष राज्य (सेक्यूलर स्टेट) की कोई बहुत स्पष्ट अवधारणा नहीं है। ये यह भी स्वीकार करते हैं कि बाद में पुछल्ले की तरह जड़ा गया 'सर्वधर्मसमभाव' भी समस्या का हल नहीं ही बन पाया।

अब सवाल है यह कि 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' की अवधारणा सिर्फ संविधान में पूरी तरह स्पष्ट नहीं है, या हि हमारे ये शिखर बौद्धिक भी इसमें असमर्थ ही हैं ? क्योंकि अगर माने कि संविधान में स्पष्ट नहीं, तो प्रश्न उपस्थित होगा कि 'अस्पष्ट' को शामिल करना ही क्या झूठ को शामिल करना नहीं ? कदाचित कहे कि विधिवेत्ताओं-बौद्धिकों के सामने स्पष्ट नहीं, तो जानना जरूरी होगा कि ये क्यों झूठ बोल रहे हैं ? क्योंकि कोई भी वस्तु शब्द के समेत तभी अस्तित्व में आती है, जबकि अवधारणा स्पष्ट हो। बिना अवधारणा के शब्द असम्भव है। तब, 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द इस्तेमाल भी करना और इसकी अवधारणा के पूरी तरह स्पष्ट नहीं होने की बात भी कहना, इस दोमुँहेपन को क्या समझा जाय ?

जाहिर है कि हमारे ये शिखर विधिवेत्ता तथा बौद्धिक (जिनमें लेखक, पत्रकार और विचारक सभी शामिल हैं) 'भारतीय संविधान' के धर्मनिरपेक्ष नहीं होने की बात कहने का जोखिम नहीं उठाना चाहते। इन्हें सत्य के मुँह पर जड़े गए स्वर्णपट्ट को उठाते भय लगता है; क्योंकि इस स्वर्णपट्ट की दमक इनको भी ठीक वैसे ही लुभाती है, जैसे राजनेताओं को। सच बोलते ही राज्य की स्वर्णमुद्राएं जाती रहेंगी, इस डर

में इनकी वाणी ने अर्द्धसत्य का यह नुस्खा खोज निकाला कि —अभी हमारे सामने धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा पूरी तरह स्पष्ट नहीं।

जानते हुए भी नहीं जानते होने के नाटक का यह सिलसिला सतत चालू है और इधर धर्मनिरपेक्षता का पाखण्ड लगातार देश की सांसत बनता जा रहा है। कौरवसभा के विद्वानों की प्रकृति के मूर्खन्य बौद्धिकों की पातें कैसे सत्य का मुंह ढॉपने में इस्तेमाल होती हैं, धर्मनिरपेक्षता के मुद्दे ने इस बात को साफ उजागर करके रख दिया है। अन्यथा 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' पद से ही स्पष्ट है कि यह एक ऐसी राज्यव्यवस्था की अवधारणा और स्थापना से जुड़ा है, जो धार्मिक आधार पर शासन करने से इकार करता हो। अर्थात् जो अपने संविधान में धार्मिक कानूनों का समावेश कदापि नहीं करे, क्योंकि धार्मिक कानूनों का संविधान में प्रक्षेपण ही धर्मनिरपेक्षता की कब्र खोदना है।

अब सवाल जरूरी होगा यह कि 'भारतीय संविधान' में धार्मिक कानूनों को शामिल किया गया है, या नहीं? यदि जवाब हो कि नहीं शामिल किया गया है, तो 'पर्सनल ला' की शृंखला (सीरीज) की विवेचना करनी होगी। देखना होगा कि क्या कानून 'पर्सनल' (व्यक्तिगत) भी हो सकते हैं? और अगर कानून 'पर्सनल' हो सकते हैं, तो संविधान 'पर्सनल' क्यों नहीं हो सकता?

जांच यह भी जरूरी होगी कि जिन्हें 'पर्सनल लॉ' की संज्ञा देकर संविधान में शामिल किया गया है, इनकी मूल प्रकृति क्या है? यानी कि ये अपने मूल चरित्र में धार्मिक-मजहबी और साम्प्रदायिक हैं, या कि व्यक्तिगत?

जाहिर है कि 'भारतीय संविधान' में धर्मनिरपेक्षता की तो क्या, खुद कानून तक की कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं है; क्योंकि कानून व्यक्तिगत या धार्मिक नहीं, बल्कि सामाजिक वस्तु है। एक हाथ से जब ताली तक नहीं बजती, तो भला कानून क्यों बजेगा? हमें भूलना नहीं चाहिए कि कानून में भी आवाज होती है; क्योंकि वह व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामाजिक टकराहट में से उत्पन्न होता है। सिर्फ चोर से कोई कानून नहीं बनता, जिनके घर चोरी हुई हो — और इसकी धमक जहां तक जा सकती हो, इस पूरी टकराहट में से कानून बनता है। नाना प्रकार के धार्मिक रीति-रिवाजों और नियम-निर्देशों को कानून की शक्ल में संविधान में शामिल करना धर्मनिरपेक्ष नहीं, बल्कि साम्प्रदायिक-धार्मिक और मजहबी संविधान बनाना है। धार्मिक नियमों-निर्देशों को 'व्यक्तिगत कानून' के मुखौटे में संविधान तक लाने की वास्तविकता यही है।

झूठ एक ऐसी बला है, जिसे आप अगर सिर्फ पूँछ से बांधिये, तो सींगों तक भी अपना असर डालेगा जरूर। धर्मनिरपेक्षता के मामले में ठीक यही स्थिति हमारे संविधान

की है। धार्मिक कानूनों ने इसके धर्मनिरपेक्षता के दावे को हास्यास्पद बना छोड़ा है और धर्मनिरपेक्ष राज्य की सारी लंतरानियां हवा में झूलती रह गई है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि वस्तु को वही होना भी चाहिए, जो कि उसे बताया गया हो। कुछ अंशों में नहीं, बल्कि पूरी तरह। कुछ तत्त्व प्याज-मूली-अदरक-बैंगन के भी मौजूद हों, तो आलू आलू नहीं रह जायेगा। जिस पर पेड़ खड़े हों, उसे आसमान कहना कठिन होगा।

सचाई की यह शर्त है कि धपला नहीं हो। धर्म राज्य की उत्पत्ति नहीं। न ही धर्म राज्य का विषय है। धार्मिक राज्य धर्म के सारतत्वों को नहीं, बल्कि सिर्फ अपनी सरहदों को फैलाते हैं। इसलिये जब हम धर्मनिरपेक्ष राज्य की बात करें, तो धार्मिक आधार पर शासन से इंकार को बुनियादी शर्त के तौर पर मौजूद होना चाहिये।

तब जानना जरूरी होगा कि भारत सरकार, या इसके धर्मनिरपेक्ष होने की पक्षकार राजनैतिक पार्टियों का जवाब क्या हो सकता है? क्या यह कि 'भारतीय, संविधान' में धार्मिक कानूनों का समावेश कहीं नहीं किया गया है? या यह कि धार्मिक कानूनों के बावजूद राज्य पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष हो सकता है? या यह कि कुछ अंशों में धार्मिक होने से कुछ खास फर्क नहीं पड़ना?—लेकिन तब नये सिरे से फिर ये सवाल उठेंगे जरूर कि शाहबानो मामले में कौन-सा कानून लागू हुआ? मुसलमानों को चार और हिन्दुओं को एक विवाह की व्यवस्था किस कानून के तहत की गई है? और ये अलग-अलग धार्मिक कानून नहीं, तो सबके प्रति समान क्यों नहीं हैं; जबकि संविधान में कानून के सबको, या कि कानून के सामने सबके, समान होने की घोषणा मौजूद है?

सवाल उपस्थित होगा यह भी कि जिसकी दुम सतरंगी हो, वह रंगनिरपेक्षता का दावा कैसे करेगा? और अगर करेगा, तो उसे 'रंगा सियार' क्यों नहीं कहा जायेगा? क्योंकि अगर दावा रंगनिरपेक्षता का हो, तो इससे क्या फर्क पड़ेगा कि रंगों की बहार सींग नहीं; बल्कि दुम की तरफ है? यह कैसे तय होगा कि सींगों की तरफ रंग होने से फर्क पड़ सकता था, लेकिन दुम की तरफ होने से नहीं पड़ेगा? या कि पड़ेगा भी, तो कुछ खास फर्क नहीं पड़ेगा? क्योंकि अगर आज जो साम्प्रदायिक-धार्मिक मर्कट संग्राम सामने उपस्थित हुआ पड़ा है, यह कुछ खास नहीं, तो खास की शक्ति क्या होगी? तब तक हम किस मुकाम पर पहुंच चुके होंगे?

ऐसे में आज जब धर्मनिरपेक्षता का मुद्दा एक शिखर राष्ट्रीय मुद्दे के तौर पर सामने उपस्थित है, तो इसे बहुत ही ध्यान और धैर्य से देखना जरूरी होगा; क्योंकि जाति-निरपेक्षता का मुद्दा भी इससे बिल्कुल जुड़ा है। संविधान में जाति-आधारित आरक्षण की मूल प्रकृति, धार्मिक कानूनों की ही भांति, जातिवादी कानूनों के सिवा और कुछ नहीं है। इस प्रकार धार्मिक तथा जातिवादी कानूनों के समावेश ने 'भारतीय संविधान' को पूरे देश की सांसत बना छोड़ा है; क्योंकि सारे धार्मिक और जातिवादी

अभियान बाकायदे संवैधानिक तौर पर चलाये जा सकते हैं। चलाये जा रहे हैं।

क्या सचमुच विलक्षण बात नहीं कि धर्मनिरपेक्षता पर राष्ट्रीय बहस की मांग न किसी कांग्रेसी नेता की ओर से की गई, न ही किसी कम्युनिस्ट पार्टी की तरफ से? जिस भाजपा के ऊपर धर्मनिरपेक्षता का एकमात्र शत्रु होने का आरोप है, उसके ही शिखरनेता लालकृष्ण आडवाणी के द्वारा धर्मनिरपेक्षता पर राष्ट्रीय बहस की मांग से क्या सिद्ध होता है?

स्पष्ट है कि इस वास्तविकता से कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टियां भली भांति अवगत हैं कि अगर बहस हुई, तो धार्मिक-मजहबी चरित्र वाली पार्टियों की शक्ति इनकी ही निकलेगी, भाजपा की नहीं। क्योंकि जो भी राजनैतिक पार्टी धार्मिक-मजहबी कानूनों की मांग या इसका समर्थन करती हो, उसे धर्मनिरपेक्ष राजनैतिक पार्टी कोई अंधा-बहरा तक नहीं ही मानेगा। भाजपा ने धार्मिक कानूनों की मांग नहीं की है।

हालांकि अपने दुलमुलपन में भाजपा ने 'भारतीय संविधान' की वास्तविकता को पूरी तरह खोलने से मुंह चुराया है, लेकिन उसकी धर्मनिरपेक्षता पर राष्ट्रीय बहस की मांग अपनी जगह पर पूरी तरह प्रासंगिक और अचूक है। कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टियों के इस बहस से भागने से स्पष्ट है कि इन्हें अपने दामन के दाग पता है, और इनका डर यही है कि बहस से सचाई सामने आ जायेगी।

कहना जरूरी नहीं होना चाहिये कि जहां तक धर्मनिरपेक्षता का प्रश्न है, सिर्फ हिन्दू ही धर्मनिरपेक्ष राज्य के वास्तविक दावेदार हो सकते हैं। भारत में धार्मिक राज्य की स्थापना तो दूर, धार्मिक राज्य की अवधारणा तक 1948 से पहले कहीं नहीं मिलेगी। न पुरामिथक काल में, न हिन्दू या मुसलमान शासकों के राज्यकाल में ही। औरंगजेब-जैसे कट्टरपंथी मुगल शासक को भी 'जजिया' वापस लेना पड़ा। ब्रिटिश हुकूमत के दौर में भी सामाजिक मुद्दों पर धर्म-पंथों के हिसाब से ऐसे अलग-अलग कानून नहीं बनाये गये, जो सामाजिक स्तर पर व्यापक प्रभाव रखते।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि विवाह धार्मिक नहीं, बल्कि सामाजिक वस्तु है। विवाह की पद्धतियां धार्मिक हो सकती हैं, प्रकृति या परिणाम नहीं। मुहम्मद साहब ने भी मुसलमानों के लिये चार विवाह की पेशकश मजहबी नहीं, बल्कि सामाजिक आधार पर ही की थी। इस प्रकार भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य की हजारों वर्ष पुरानी परम्परा को छिन्न-भिन्न करने की पहल कांग्रेस पार्टी के द्वारा की गई। धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा को ध्वस्त करने का प्रस्थानबिन्दु कांग्रेस से प्रारम्भ हुआ। रा. स्व. संघ, जनसंघ या भाजपा से नहीं।

आश्चर्य कि कांग्रेस की इस राष्ट्रघाती भूमिका का प्रतिरोध, और तो और स्वयं भाजपा की ओर से भी नहीं हुआ। परिणाम है यह कि 'उल्टे चोर कोतवाल को

डांटे' मुहावरा चरितार्थ हो रहा है। भारत की धर्मनिरपेक्ष राज्य की हजारों वर्ष पुरानी परम्परा को ध्वस्त करने वाली कांग्रेस उलटे भाजपा पर धर्मनिरपेक्ष नहीं होने का आरोप लगा रही है और इस नाटक में कांग्रेस का साथ दे रही है, वो कम्युनिस्ट पार्टियां, जिनके कि धर्मनिरपेक्ष होने की तब भी कोई गुंजाइश नहीं होती, जबकि ये सचमुच मार्क्सवादी होतीं।

कौन नहीं जानता कि कम्युनिस्ट पार्टियों ने लगातार धार्मिक कानूनों का समर्थन किया है और इसके पीछे सिर्फ 'मुस्लिम जनाधार' की तलाश रही है। जबकि न इस्लाम में धर्मनिरपेक्षता की कोई गुंजाइश होगी, न ही ईसाइयत में। मार्क्सवाद भी धर्मनिरपेक्षता नहीं, बल्कि धर्म के निषेध के सिद्धांत पर आधारित है। निरपेक्षता और निषेध एक नहीं। निरपेक्षता सह-अस्तित्व की बुनियाद पर ही टिक सकती है। मार्क्सवाद ने, रूस में, ईसाइयत के साथ सह-अस्तित्व का सम्बंध नहीं बनाया। ईसाइयत या धर्म की सांत्वना को नहीं दबा पाने के कारण ही मार्क्सवाद चिटख गया और आखिर उसकी वापसी को 'ग्लासनोस्त' की खिड़की से रास्ता देना पड़ा।

सरोकार नहीं रखना, शामिल नहीं होना, या नहीं करना, लेकिन निषेध भी नहीं करना, यह भी सम्बंध बनाये रखना है। सह-अस्तित्व की यह स्वीकृति ही निरपेक्षता को भी सकारात्मक बनाती है। एक-दूसरे को स्थान देने की यह सदाशयता ही धर्मों-वर्णों के सह-अस्तित्व की भूमिका को आकार देती है। भारत में धर्मनिरपेक्षता की परम्परा का रहस्य इसी में है। इटली के जिस 'सेक्यूलर स्टेट' की बात की जाती है, वह भी धार्मिक सहअस्तित्व की बुनियाद पर टिका नहीं है।

हिन्दुओं की पृष्ठभूमि धार्मिक न होकर, वैदिक रही है। अर्थात् आध्यात्मिक-वैचारिक। अध्यात्म और विचार, ये दोनों सामाजिक प्रत्यय हैं। इनका मूल स्रोत स्वाधीनता है। वेदों में 'विचरण की स्वाधीनता' के प्रतिबम्ब साफ दिखाई पड़ते हैं। यह प्रवाह ही आचरण की स्वाधीनता के दोआबे तक जाता है। अध्यात्म मूलतः आत्मा का विषय है, अर्थात् स्वाधीनता का। और अपनी इस विराट आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के कारण ही हिन्दू को धर्म की किसी चौखट में नहीं कसा जा सकता। उसका हिन्दू होना धर्म की सरहदों से बंधा नहीं। किसी धर्म पर ईमान लाना, या नहीं लाना, ईश्वर को मानना, या नहीं मानना, यह उसके आत्मनिर्णय का विषय रहा है।

पैगम्बर-आश्रित नहीं, बल्कि प्रजातिमूलक होने के कारण, धर्म हिंदू की अपरिहार्य शर्त नहीं बन सका। उसके जगद्गुरु संज्ञाधारी शंकराचार्य तक उसके नाम कोई फरमान या फतवा या धर्मादेश जारी करने की हैसियत नहीं बना पाये। धर्म को स्वाधीनता के अपरहण की हद तक आने की छूट नहीं देने की एक सुदीर्घ

आध्यात्मिक-वैचारिक परम्परा ने हिन्दू को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की गहन प्रतीति से जोड़ा। ...कालांतर में आई रूढ़ियों-विकृतियों के अम्बार के बीच भी परम्परा की यह आलोकरेखा अभी विलुप्त नहीं हुई है और अगर भारत में धर्मनिरपेक्षता की परम्परा को बनाये रखना है, तो उस वैदिक उत्स का फिर से अवगाहन जरूरी होगा, जिसने कि धार्मिक राज्यों की स्थापना को रास्ता नहीं दिया।

वेदों में धार्मिक राज्य की अवधारणा नहीं होने से ही, औपनिषदिक युग में भी स्वाधीनता के राज्य की वस्तु होने के सिद्धान्त को कोई आकार नहीं मिल सका। अब जाकर कांग्रेस पार्टी-विरचित तथाकथित धर्मनिरपेक्ष संविधान के लागू होने के बाद यह कठसिद्धांत अस्तित्व में आया कि स्वतंत्रता राज्य के द्वारा ही दी जाती है, इसलिए इसे वापस लेने का भी राज्य को पूरा अधिकार है।

यह पेशकश कांग्रेसी हुकूमत का रवैया रही है और धर्म को समाज का विषय मानने के संदर्भ में देखना जरूरी होगा कि जहां भी धर्म या विचार राज्य का विषय होगा, वहां स्वाधीनता की क्षति होगी जरूर ! इस्लाम और मार्क्सवाद इसके उदाहरण हैं। एक धर्म को राज्य का विषय मानने के सिद्धान्त पर जोर देता है, तो दूसरा विचार (धारा) को राज्य का विषय मानने पर। धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा इसी अर्थ में एक स्वाधीन समाज की अवधारणा को भी आकार देती है। जिसे हम लोकतंत्र करके जानना चाहते हैं, वह भी धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा पर ही टिका है।

बड़ी गीज आदमी है और आदमी को जरूरी है स्वाधीनता। राज्य की कसौटी यही है कि वह इस नैतिक-सामाजिक अनुबंध को स्वीकार करता है, या नहीं। धर्मनिरपेक्षता की बहस को, इसीलिये, इसके पूरे सामाजिक संदर्भों में देखना जरूरी होगा।

भाजपा पर धार्मिक पार्टी होने का आरोप लगाने से पहले अन्य सभी राजनैतिक पार्टियों को अपने-अपने अंगवस्त्र भी टटोल जरूर लेने चाहिए; क्योंकि रूप ही वस्तु का प्रमाण नहीं। भाजपा का कमजोर पक्ष दूसरा है। उसके शिखर नेताओं के पास राष्ट्र और राष्ट्रीयता के उद्घोष तो प्रभूत मात्रा में हैं, लेकिन राष्ट्र या राष्ट्रीयता की कोई ऐसी पारदर्शी अवधारणा नहीं, जो प्रत्येक को स्पर्श कर सके। राष्ट्रीयता की अवधारणा के मामले में भाजपा का हाल लगभग वही है, जो कांग्रेस का धर्मनिरपेक्षता के मामले में। दोनों के पास टुकड़ों में चिह्न हैं। सांगोपांगता नहीं है।

कदाचित् भाजपा राष्ट्रीयता की एक पारदर्शी अवधारणा को आकार दे सके, तो उसे 'हिन्दू लहर' की तलाश नहीं रहेगी। ऐसे तमाम मुसलमान-सिख-ईसाई और पारसी भाजपा से जुड़ना शुरू कर देंगे, जो कांग्रेस तथा कम्युनिस्ट पार्टियों के छलावों का साक्षात्कार कर चुके हैं। यह एक सचाई है कि कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टियों ने

हिन्दू और मुसलमान के साझे को कोई दिशा कतई नहीं दी है, बल्कि इसे लगातार तोड़ा है।

हिन्दू-मुस्लिम साझेदारी का एक लम्बा इतिहास भारत में मौजूद है और इसके सबूत भारतीय संस्कृति तक में मौजूद मिलेंगे। भारत की राष्ट्रीय संस्कृति को संवारने में मुसलमानों की एक अद्भुत भूमिका रही है और अगर भाजपा राष्ट्रीयता की एक पारदर्शी आवधारणा को आकार दे सके, तो वह कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टियों के उस खतरनाक सिलसिले को बिलकुल तोड़ सकती है, जिसमें मुसलमानों को हिन्दुओं से दोफाड़ रखना जरूरी होता गया है। जैसा कि श्री आडवाणी ने कहीं कहा कि हम मुसलमान को ठीक वही दर्जा देंगे, जो कि हिन्दू का है। न इससे कम, न इससे ज्यादा। अगर भाजपा इस बात पर टिकती है, तो ऐसे तमाम मुसलमानों का रुख उसकी तरफ होगा जरूर, जो मजहब को देश से बड़ा मानने के कठसिद्धांत पर ईमान न रखते हों। जो देश को ही आधार मानने का विवेक रखते हों। जो इतना अनुभव करते हों कि समान हक और समान भागीदारी का इसके सिवा कोई रास्ता नहीं।

तब धर्मनिरपेक्षता की बहस में मुसलमान को भी उतनी ही गहरी भूमिका निभानी होगी, जितनी कि हिन्दुओं को। धर्मनिरपेक्षता का ठेका सिर्फ हिन्दुओं के मत्थे मढ़ने से बात बनेगी नहीं। आज अगर भाजपा धर्मनिरपेक्षता पर राष्ट्रीय बहस की मांग उठा रही है, तो इसका जवाब बहस में हिस्सा लेकर ही दिया जा सकता है और अगर इतमीनान हो कि भाजपा धर्मनिरपेक्षता की सबसे बड़ी विरोधी है, तब इससे अच्छा अवसर और क्या हो सकता है? क्योंकि अगर भाजपा सचमुच धर्मनिरपेक्ष नहीं है, लेकिन धर्मनिरपेक्षता पर राष्ट्रीय बहस जरूर चाहती है, तो जाहिर है कि भाजपा 'आ बैल मुझे मार' मुहावरे को चरितार्थ करने जा रही है।

ऐसे में तमाम धर्मनिरपेक्षतावादियों को चाहिये कि वो भाजपा को उसके ही कठघरे में खड़ा करें और बतायें कि धर्मनिरपेक्षता के बुनियादी सारतत्व क्या हैं। यह भी कि ये उनमें हैं, भाजपा में नहीं। तब ही यह भी तय हो पायेगा कि धर्मनिरपेक्ष राज्य में धार्मिक कानूनों की भूमिका क्या हो सकती है। अन्यथा धर्मनिरपेक्षता के पाखण्ड को अब और ज्यादा दूर तक खींच ले जाना कठिन ही होगा; क्योंकि पाखण्ड जब उघड़ने लगता है, तो उसका मलबा उन्हीं पर सबसे पहले गिरता है, जो उसे चला रहे होते हैं।

□□

['स्वतंत्र भारत' : 22 जुलाई 1991]

धरमजुध का क्षेत्र

महाभारत के 'धर्मक्षेत्र' शब्द से इतना तो स्पष्ट है कि धर्म और क्षेत्र भी आपस में ठीक उसी तरह अंतर्ग्रथित है, जैसे खेती और जमीन। यानी न बिना 'स्थान' के किसी वस्तु का कोई अस्तित्व है—न बिना वस्तु के किसी स्थान का।... 'धर्मक्षेत्र' में धर्म की जगह, कुरु (करो) जोड़ते ही इसकी आकृति 'कुरुक्षेत्र' की निकल आती है। कहे कि स्थान और वस्तु, दोनों का स्वरूप अंततः आदमी से तय होता है। किसी वस्तु को वह किस निमित्त बरतता है, और किस प्रकार, इससे ही तय होता है उस 'क्षेत्र' का स्वरूप भी, जिसमें कि उसने किसी धर्म या कर्म को प्रतिफलित किया होता है। आज जब अपनी मूल अवधारणा में 'हिन्दू धर्मरक्षक' का चोला धारण करने वाले सिख 'धरमजुध' की घोषणा करते फिर रहे हैं, तब सिर्फ उद्घोषकों की संख्या और राष्ट्र की अखंडता के बीच ही समीकरण बिठाते रहने की जगह, उस 'क्षेत्र' पर भी विचार करना जरूरी होगा, जिसके निमित्त 'धरमजुध' की रणभेरी बजायी जा रही है।

अब यहां यदि हम ध्यान से देखें, तो चंद सिरफिरे खालिस्तानपंथियों के ही नहीं, प्रत्येक के 'धरमजुध' का उद्देश्य एक ही होता है— 'जो हमारा धर्म है, वही हमारा क्षेत्र भी होगा।'...

पाकिस्तान की निर्मिति ही एक इसी बुनियाद पर हुई कि अलग महजब के लिए अलग मुल्क चाहिए। और यह जो 'खालिस्तान' का नारा है, इसमें भी 'पृथक राज्य' का ठीक वही तर्क काम कर रहा है और यदि हम इसकी नैतिक बुनियाद का सवाल उठाएँ, तो वह पाकिस्तान की निर्मिति की नैतिक बुनियाद से कमजोर कतई नहीं है। जबकि हम अपने सविधान में ही अनेकानेक धर्मों की विधिमान्य पृथकता को अभी भी ज्यों-का-त्यों कायम रखे हुए हैं। फर्क यहां सिर्फ बीच में लार्ड माउण्टबेटन के न होने का है, अन्यथा खालिस्तान भी ठीक वैसे ही बनता, जैसे कि पाकिस्तान बना। लार्ड माउण्टबेटन के दिवगत हो चुके होने के इतमीनान में इस खतरे को सदैव के लिए टला मानने से काम चलेगा नहीं; क्योंकि इतिहास अपने मोहरे स्वयं उत्पन्न करता रहता है। 'धरमजुध' की अंतिम परिणति 'क्षेत्र' है और जब तक यह 'धरमजुध' बाहर की जमीन में कायम नहीं हो जाता, तब तक धर्मविशेष के जुझारियों के भीतर जड़ें डालता रहता है। इसलिए बुनियादी सवाल धर्म के उस प्रकार के चरित्र को समझने, या न समझने, का है जिसमें कि उसकी मांग अंततः एक पृथक क्षेत्र (राज्य) की सरहदों

तक जाती है। 'भारतीय संविधान' में विभिन्न धर्मों के इसी प्रकार के चरित्र को अंगीकार, अधिनियमित और अंतर्भूत किया गया है; क्योंकि वहां विभिन्न पृथक्-पृथक् धार्मिक विधियों को संवैधानिक स्तर पर विधिमान्यता प्रदान की गयी है। यह भलीभांति जानते-बूझते भी कि पृथक् कानूनों की पगडंडियां आखिर-आखिर पृथक् राज्य की तरफ ही फूटती हैं।

यदि हमारे तथाकथित राष्ट्रीय राजनैतिक नेतृत्व ने 'भारतीय संविधान' के स्वरूप को जान-बूझकर पृथक्तावादी नहीं रखा, तो भी हम इतना जरूर कहना चाहेंगे कि इससे कभी फर्क नहीं पड़ता कि आत्मविनाश के द्वार कोई जान-बूझकर उघाड़ते फिरता है, या कि नासमझी में।

'खालिस्तान' के 'धरमजुध' के दीवानों को पृथक्तावादी करार देने से पहले, या कम-से-कम इनके साथ-साथ, उन तमाम लोगों को भी पृथक्तावादी करार देना जरूरी होगा, जिन्होंने कि 'अलग मजहब के लिए अलग मुल्क' के ऐतिहासिक हादसे से कोई सबक नहीं लिया और 'एक राष्ट्र के लिए एक कानून' की नैसर्गिक अपरिहार्यता को खदर की नेपकिन में लपेटकर कूड़ेदान में फेंकते, और अनेकानेक धर्मों की पौराणिक भिन्नताओं को बाकायदा कानूनी पृथक्ताओं का संवैधानिक जामा पहनाते, हुए धर्म और क्षेत्र के इस बुनियादी अंतस्सम्बन्ध को बिल्कुल आंखओझल कर दिया कि जब धर्म को राज्य के स्तर पर पृथक्ता का दर्जा दिया जायेगा, तब धर्म के हिसाब से पृथक् राज्य की मांग, आज नहीं तो कल, कभी-न-कभी उठेगी जरूर।.. क्योंकि, जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया, किसी भी वस्तु का अस्तित्व, 'स्थान' से ही सम्भव है और जब धर्म के पृथक्तावादी स्वरूप को राज्य-द्वारा मान्यता दी जा रही हो, तब आखिर उसके लिए 'स्थान' की जरूरत भी पड़ेगी जरूर !

धार्मिक पृथक्तावाद की क्षेत्रीय पृथक्ता में परिणति के इतने संघातक हादसे, पाकिस्तान, के बावजूद, जो लोग लगातार तमाम धार्मिक पृथक्तावादियों को संवैधानिक मान्यता का टोपा पहनाते चले आ रहे हैं, उन्हें राष्ट्रवादी मानने वालों को खालिस्तान के धरमजुध की घोषणा करने वालों को पृथक्तावादी करार देने का कोई नैतिक अधिकार नहीं। जहां तक 'राजनैतिक प्राधिकार' का प्रश्न है, वह लोकोत्तर वस्तु नहीं। राज्य के प्राधिकार को लोकोत्तर की सरहदों तक खींच ले जाना तानाशाही कायम करना है। इसलिए यदि हम कहना चाहते हैं कि राष्ट्र की एकात्मकता के लिए धार्मिक पृथक्तावाद को संवैधानिक मान्यता प्रदान करने के अपकृत्य से बचना जरूरी है, तो यह खालिस्तान के पृथक्तावादियों का पक्ष लेना नहीं, बल्कि उनके 'धरमजुध' के उन बुनियादी आधारों की छान-पटक और पड़ताल किये जाने की मांग करना है, जिनका निराकरण किये बिना ऊपर-ऊपर तमाम सिखों के दाढ़ी-केश से विहीन हो जाने पर भी 'धरमजुध' रुकेगा नहीं, क्योंकि आदमी के सिर्फ बाहर नहीं भीतर भी

बहुत बड़ा 'क्षेत्र' होता है और जब उसे बाहर के क्षेत्र से हँकाल दिया जाय, तब वह अपने इसी भीतरी क्षेत्र में तम्बू-कनात लगाता है।

हम बिल्कुल-बिल्कुल यही कहना चाहते हैं कि पंजाब से सिर्फ खालिस्तानी पृथकतावादियों को हँकाल फेंकना ही पर्याप्त कदापि न होगा, बल्कि पृथकतावाद के उन तमाम अंतर्गुल्मों का उच्छेद जरूरी होगा, जहां से कि इस रोग को खुराक मिलती है। अन्यथा तथाकथित धर्म-निरपेक्ष राज्य की 'सत्ता की पालकी' को भांति-भांति के धार्मिक पृथकतावादों के कंधों पर लादे रखने की राजनीति आखिर-आखिर सिर्फ देश ही नहीं, पालकी को भी विनाश के उस कगार पर पहुंचायेगी जरूर, जहां 'हाथी, घोड़ा, पालकी,' के गवैये ही, 'सबकी यही गत है' कहते हुए, कंधों पर से टिकटी उतार देते हैं ! यह कभी अल्पसंख्यकों और कभी बहुसंख्यकों के धार्मिक पृथकतावाद को चंवर डुलाते चलने की जो तथाकथित राष्ट्रीय कूटनीति है, यह सिर्फ देश को ही संकट में नहीं डालेगी; क्योंकि क्षेत्र और कर्म सचमुच अविच्छिन्न रूप से अंतर्ग्रथित हैं। एक की क्षति से बरी दूसरा कभी नहीं। हमारा दुर्भाग्य कि भारतीय संविधान के निर्माताओं ने सिर्फ सत्ताकेन्द्र के हिसाब से संविधान का 'रूप' गढ़ा, राष्ट्र की चिंता उन्हें बिल्कुल नहीं व्यापी; अन्यथा धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा करने वाले संविधान की खूटियों पर बहुरंगी धार्मिक पृथकतावाद के घाघरे टंगे नहीं दिखाई पड़ते। 'पृथक धर्म के लिए पृथक क्षेत्र' के राष्ट्रघाती मजहबी जुनून की परिणति पाकिस्तान में होने के बाद जब धार्मिक पृथकतावाद के लिए भारत राज्य में कोई स्थान नहीं होता, तब खालिस्तान के 'धरमजुध' का 'धर्म के हिसाब से क्षेत्र' का वह बुनियादी आधार भी खुद-ब-खुद ध्वस्त हो जाता, जो कि पाकिस्तान के निर्माण में नींव का पत्थर बना।

संविधान-निर्माताओं ने गांधी के सारे संघर्ष और चिंतन को कूड़ादान में डालकर, पूरे राष्ट्र को जिन अवश्यम्भावी विखण्डनों की भूसी के हवाले कर दिया, आज उसमें लपटे उठती दिखाई देने लगी हैं, तो इसकी जिम्मेदारी कहीं-न-कहीं इस देश के उन तमाम तथाकथित मूर्खन्य राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों पर भी जरूर है, जिनके बारे में गांधी ने 1930 में ही कह दिया था कि ये राष्ट्र और समाज के प्रति नितात सवेदनजड और निजी स्वार्थों के प्रति सतत जागरूक लोग हैं और इनके इस अवसरवादी, समाजनिरपेक्ष चरित्र का खतरा आजादी के बाद और बढ़ेगा। गांधी ने कांग्रेस के संस्थागत स्वरूप को समाप्त कर दिये जाने की मांग यों ही हवा में नहीं उठाई थी। गांधी ने कांग्रेस के संस्थागत मूर्खन्यों की भारत के विभाजन में सक्रिय भागीदारी को प्राणांतक वेदना के साथ देखा और झेला था। खालिस्तान के धरमजुध की शक्ति में जो संकट शेष भारत की आत्मा पर गिद्धों की तरह मंडराते दिखाई पड़ रहे हैं, इसकी पूर्वकल्पना गांधी में बिल्कुल थी; क्योंकि उन्होंने कांग्रेस के संस्थागत चरित्र के नरक को स्वयं भोगा था।

तथाकथित राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों के चरित्र की जो पहचान गांधी जी ने की थी,

वह सोलह आने सही साबित हुई और अपनी मूल अवधारणा में ही धार्मिक पृथकतावाद की खिचड़ी रांधने के अचूक शस्त्र की शक्ति में भारतीय संविधान अस्तित्व में आया, तब न जाने कितनों ने इसे पंचम वेद तक की संज्ञा दे डाली और इस प्रकार सत्ताकेन्द्र के आगे राष्ट्रीय बुद्धि-जीवियों के क्रीतदासों की शक्ति में उपस्थित होने की वह संघातक परम्परा शुरू हुई, जो आज भी कायम है और चेतनाहीनता के दयनीय मोड़ तक पहुँच चुकी है।

सारे देश को सत्ता की राजनीति खेलने वाले शतरंजियों के हवाले करके मात की तरफ जाती राजव्यवस्था को भी शह के मुगालते में रखने वाले इन मूर्खन्य राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों के चलते ही 'भारतीय संविधान' के घातक अंतर्विरोध आज तक बहस के मुद्दे नहीं बन पाये, जबकि लोकतंत्र की अवधारणा में ही तंत्र की लोक-द्वारा पड़ताल का सिद्धांत अंतर्भूत है। कदाचित्त तभी अगर इतना ध्यान से देख लिया गया होता कि भारतीय संविधान में राज्य और धर्म के मामले को कैसे परिभाषित किया गया है, तो आज खालिस्तान का मसला धरमजुध की शक्ति कदापि न ले पाता।

सिखों के लिए पृथक क्षेत्र का सवाल तब भी हवा में उठा जरूर था, जबकि अलग मजहब के लिए अलग मुल्क की मंजूरी पर स्वयं राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपनी मुहर लगाई थी। कहना जरूरी नहीं कि तब राज्य की धर्मनिरपेक्षता के तर्क से ही सिख नेतृत्व को राष्ट्र की मुख्यधारा में बने रहने को तैयार किया गया था, लेकिन कालांतर में यह एक राष्ट्रीय झासा-मात्र सिद्ध होकर रह गया; क्योंकि राज्य का वास्तविक स्वरूप धर्म-निरपेक्षता का न रहकर, वाया सर्वधर्म समभाव, सभी धार्मिक पृथकतावादियों के सत्ता-समीकरण में इस्तेमाल की विकृति तक पहुँच गया।

धार्मिक विधियों को संवैधानिक मान्यता प्रदान करने वाला राज्य किस मुंह से धर्मनिरपेक्षता का दावा कर सकता है? जब धार्मिक पृथकतावाद बरकरार ही नहीं रखा जायेगा, बल्कि उसे लगातार सत्ता राजनीति के फुँकौने से फू-फू किया जाता रहेगा, तब क्षेत्रीय पृथकतावाद का खतरा क्योंकर सामने नहीं आयेगा? जब प्रत्येक वस्तु स्थान छेकती है, तब धर्म ही क्यों नहीं अपने लिए क्षेत्र छेकेगा? मान लें कि राजनैतिक करिश्मे से धार्मिक पृथकतावाद को हवा में ही टांगे भी रखा गया, तो क्या हवा का अस्तित्व बिना क्षेत्र के ही हुआ करता है? और जब धर्म की पृथकता के तर्क से क्षेत्र की पृथकता का मामला एक बार पृथक राज्य (पाकिस्तान) का नक्शा बाकायदे अमल में ला चुका, तब आगे किसी भी कीमत पर न आने देने की हवाई प्रतिभूति का भरोसा क्यों करे कोई? जबकि किसी भी कीमत पर भारत का विभाजन न होने देने के प्रतिभूतिकारों (गारण्टियर्स!) के ही खुशनुमा दस्तखत हिंदुस्तान-पाकिस्तान के बंटवारे के लाटसाहबी विरासतनामे पर बाकायदे मौजूद हों?

ये तमाम सुलगते सवाल मूर्खन्य राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों के महाभोज में व्यस्त होने के कारण ही नेपथ्य में टंगे रह गये और एक इतनी सामान्य-सी जिज्ञासा भी

भारतीय समाज की चेतना से ही निरस्त हो गई कि जो राज्य धार्मिक अंधकानूनों को सवैधानिक मान्यता प्रदान करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय के फैसलों ही नहीं, बल्कि संविधान की स्वयंकथित 'मूल आत्मा' तक को भाड़ में झोंकने को तैयार रहता हो, वह इस कोटि की धर्म-निरपेक्षता का आचरण क्यों कर पायेगा, जिसमें कि धर्म को राज्य नहीं, बल्कि आत्मा का विषय माना जाना जरूरी हो ? धर्म को समाज-सापेक्षता की सरहदों पर से हटाकर राजगदियों के नीचे इस्तेमाल करने के मुकाम तक पहुंचाने वाले लोग ही आखिर कैसे यह तय करेंगे कि धर्म का क्षेत्र राज्य नहीं, समाज रहेगा ?

आखिर कैसे वे लोग ही इतना सुनिश्चित करेंगे कि किसी भी धर्म को राज्य के सत्ता-समीकरण के हिसाब से नहीं, बल्कि समाज और राष्ट्र की सापेक्षता में देखा जायेगा ? और किसी भी धर्म की ऐसी किसी प्रकृति को मान्य नहीं किया जायेगा, जोकि राष्ट्र और समाज के हितों का अतिक्रमण करती हो ? जो इस चश्मदीद सच्चाई पर ही मिट्टी डालने में जुटे हो कि बहुरंगी धार्मिक कानूनों को विधिमान्यता प्रदान करना ही भांति-भांति के धार्मिक पृथक्तावाद की पीठ ठोंकते रहना है, वे क्योंकर इस वास्तविकता को स्वीकार करेंगे कि जब-जब धर्म और राज्य में गंठबधन हुआ है, तब-तब इतिहास के पृष्ठ रक्तरंजित हुए हैं —और जब-जब धर्म और समाज में समन्वय, तब-तब इतिहास का अंधेरा भी आलोकित हुआ है ?

अब यहीं हम 'धर्म और क्षेत्र' के आधारभूत प्रश्नों को कूड़ादान में डालने की चार दशक लम्बी तथाकथित राष्ट्रीय नीति पर कुछ बहस चाहेंगे ।

इस भौतिक जगत में कुछ भी स्वतःसंगत या विसंगत नहीं । संगति या विसंगति तय होती है, परिणाम से । धार्मिक पृथक्तावाद की अभिरक्षक राज्य व्यवस्था को धर्म-निरपेक्ष राज्य करार देने वाले डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन भी, 'सभी धर्मों का बुनियादी उद्देश्य मानव कल्याण है', के श्रुतिभावन सुभाषित तक ही पहुंचकर रह गये, इस तथ्य को उन्होंने भी पूरी तरह, और जान-बूझकर, आंख-ओझल कर दिया कि किसी भी वस्तु का आत्यंतिक मूल्य उद्देश्य-मात्र नहीं, बल्कि परिणाम से तय होता है । और कि जब भी परिणाम विसंगत निकलें, तब उद्देश्य और प्रक्रिया, दोनों को फिर से जांचा जाना चाहिये ।

भारत की राज्य व्यवस्था की तथाकथित धर्मनिरपेक्षता के जो दुष्परिणाम हमारे सामने लगातार शैतान की आंतों की तरह प्रकट होते गये हैं, कहते दुख है कि इनसे किसी ने कोई सबक नहीं सीखा । न तथाकथित मूर्खन्य राष्ट्रीय नेताओं ने, न तथाकथित मूर्खन्य राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों ने । किसी में भी यह चिन्ता आज तक गोचर नहीं हुई कि जब सभी धर्मों का बुनियादी उद्देश्य मानव कल्याण है, और ये 'बुनियादी

उद्देश्य' स्वतःसम्पूर्ण तथा प्रश्नातीत हैं, तब आखिर हमारे यहां सभी धर्मों के नारकीय परिणाम क्यों प्रकट हो रहे हैं ? बुनियादी उद्देश्य की यह मानवकल्याणकारिता अगर आज फिर भारत-पाकिस्तान के विभाजन के समय की नृशंसता और जातीय संहार की पैशाचिकता के मोड़ तक पहुंच गई है, तो आखिर कहा हैं इसकी जड़ें ? धर्मों के बुनियादी उद्देश्यों में ? या विभिन्न धर्मों के बुनियादी उद्देश्यों के राजनैतिक इस्तेमाल को धर्मनिरपेक्षता का लबादा ओढ़ाने की राजनीति में ?

क्योंकि इतना तो तय है कि या हिन्दू, मुस्लिम और सिख-ईसाई आदि धर्मों के बुनियादी उद्देश्यों में ही भयंकर खामियां हैं और या इनकी चूलें अत्यंत ही घातक किस्म के उन लोगों के हाथों में हैं, जिनके लिए धर्म का क्षेत्र आदमी का अंतःकरण नहीं, बल्कि 'तख्तेताऊस' है ! दो में से एक बात सच है और इस सवाल की तरफ पीठ फेरना ही पृथक्तावादी, तथा रुख करना ही राष्ट्रीय एकात्मता की चिन्ता में होने का सबूत देना हो सकता है ।

धर्म के बुनियादी उद्देश्यों से भी पहले धर्म की खुद की बुनियादी समझ को समझ लेना जरूरी है । सवालों से अलगा दिया गया प्रत्येक धर्म और विचार, हमेशा, मठवादियों की गिरफ्त में चला जाता है और वो 'चूंकि ऐसा अलां ने कहा था, चूंकि ऐसी फलां ने ताकीद कर रखी थी' के कठसिद्धान्तों से धर्म और विचार को खानगी धंधे की शक्ल देते रहते हैं । जबकि इस जगत में कुछ भी आदमी के सवालों से ऊपर नहीं और बाबा आदम के कहे की छान-पटक और पड़ताल देशकाल और प्रसंग के अनुसार करते-करते ही आदमी आज के मुकाम तक पहुंचा है और उसके यहां तक पहुंचने के इतिहास के सारे गंदे और विकृत पहलू वो हैं, जो 'चूंकि अलां ने ऐसा कह दिया था' और 'फलां ने ऐसी तजवीज कर दी थी' से स्वयं के अपकृत्यों की औचित्यसिद्धि के कठसिद्धान्तों को शक्ल देने वालों के काले कारनामों की देन है । जो कुछ गुणात्मक है, वह हर क्षेत्र में उसकी छान-पटक और पड़ताल करके, तब ही स्वीकार करने की जिजीविषा की देन है ।

संविधान में अल्पसंख्यक समुदायों के लिए अलग से प्रावधान करते, या उनके धार्मिक विश्वासों का प्रसंग उठाते, हुए इस तथ्य को पूरी तरह नजरअंदाज कर दिया गया कि अल्पसंख्यकों की अवधारणा में ही उनके बहुसंख्यक वर्ग के उपजीवी होने का इंगित अंतर्भूत है । देखा जाय, तो अल्पसंख्यक वर्गों के निमित्त प्रस्तावित प्रावधानों ने ही बहुसंख्यकवर्ग के समीकरण में उनके सम्भावित राजनैतिक इस्तेमाल की पृष्ठभूमि निर्मित की और उनके राष्ट्र की तथाकथित मुख्यधारा में समायोजन की शर्त ही यह बन गई कि जब तक तो ये सत्ताकेन्द्र की गद्दी की पाये मजबूत करते पाये जायेंगे, तब तक इनके कानों में राज्य नाना भांति के झुनझुने बजायेगा, लेकिन जिस दिन इस सत्ता-समीकरण में इस्तेमाल होने से इंकार करे कोई, तब उसे 'राष्ट्र की मुख्यधारा' से कटा हुआ घोषित करके, उसकी नसें ठीक से बिठा दी जायेंगी ! जब तक ये सत्ता-

केन्द्र की कुहनियों के नीचे गावतकिये की औकात में रहेगे, तब तक राज्य इनके अधविश्वासों के भी अभिरक्षण की प्रतिभूति देगा, लेकिन कुहनियों के नीचे से हटते ही इन्हे 'पृथकतावादी' करार दिया जायेगा।...सत्ताकेन्द्र के इस गणित में ही, राष्ट्र के नागरिकों को 'अल्पसंख्यक बनाम बहुसंख्यक' वर्गों में संवैधानिक स्तर पर बांटा गया और 'एकता में अनेकता' की इस तथाकथित राष्ट्रीय बंदरबाट ने एक ही राष्ट्र में बहुरंगी कानूनों और नागरिक संवर्गों के उस भेड़ियाधसान को जन्म दिया, जिसकी अवश्यम्भावी परिणति के रूप में ही आज 'खालिस्तान' का धरमजुध सिर पर है, कल न जाने और कौन धरमजुध सामने खड़ा होगा। एक ही राष्ट्र के नागरिकों को पृथक-पृथक संवर्गों में बांटकर, चुनावी अष्टारिष्ट तैयार करने की यह विधि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की जूठन के सिवा कुछ न थी, लेकिन इसे डंके की चोट पर संवैधानिक मान्यता प्रदान की गयी और अफसोस कि इस महादेश के तमाम तथाकथित राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई; क्योंकि आखिर जू भी वहीं रेंगती है, जहां सवेदना बरकरार हो।

वास्तविकता यह है कि हमने 'धर्मनिपेक्ष राज्य' की घोषणा तो की, लेकिन स्थापना नहीं। कर चुके होते, तो आज खालिस्तान के धरमजुध की बुनियाद ही ढह गयी होती, क्योंकि तब न हिंदू राष्ट्र में अल्पसंख्यक वर्गों के धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक हितों के संरक्षण की गुंजाइश नहीं होने का आरोप कोई वजन रखता, न नाना धर्म राजनैतिक हथियारों की शक्ति में इस्तेमाल की वस्तु बनते, और न ही कोई धार्मिक विवाद राष्ट्र की सरहदों के आड़े आता। तब सारे धार्मिक विवादों का निपटारा भी राज्य की विधि के दायरे में होता, पृथक-पृथक धर्मों की निजी विधियों के हिसाब से नहीं। तब न स्वर्णमंदिर में सेना या पुलिस को किसी भी कीमत पर प्रवेश की इजाजत न देने की नौटंकी जरूरी होती और न बाबरी मस्जिद बनाम राम जन्मभूमि के बवंडर पर 'मुस्लिम महिला विधेयक' का चढ़ोबा तानने की नौबत आती। संविधान में सारे धर्मों को सत्ताकेन्द्र की चुनावी शतरंज के मोहरों की शक्ति देने का चोरदरवाजा खुला छोड़कर, जो लोग धर्मनिपेक्ष राज्य की कागजी अवतारणा इस महादेश में कर रहे थे, वो सचमुच धन्य थे।

जैसा कि पहले ही कहा 'धर्म' को भी 'स्थान' चाहिये और यदि यह स्थान पाने की प्रक्रिया संविधान में बरकरार रखी गई, तो अंततः राज्य धरमजुधों का अखाड़ा फिर एक न एक दिन बनेगा जरूर। अलग धर्म के लिए अलग क्षेत्र की परिणति पाकिस्तान को सामने देखते भी, जिन्होंने इस सच्चाई पर छद्म धर्म-निरपेक्षता का आच्छादन डाल दिया, उन्हीं के पातकघट अब फूटने लगे हैं और यह मकरस्नान एक न एक दिन सबको भारी पड़ेगा। धर्म को मनुष्य की अंतरात्मा के क्षेत्र से खींचकर तख्तोताऊस के क्षेत्र के हवाले करने वालों को भी, और धर्मों को राजगद्दी मढ़ने की सामग्री समझने वालों को भी। इसका एकमात्र दुखद पहलू है यह कि जब तक मैं इनको किये का भोग

मिलेगा, तब तक मे न जाने कितने निर्दोष नागरिक धमरजुधों की बलि चढ़ चुके होंगे और निष्कंध राष्ट्र को न जाने अभी और कितने अंग-भंग झेलने होंगे।

धर्म, विचार, अर्थ, काम, मोक्ष कुछ भी ऐसा नहीं, जिसमें आदमी के सवालोंने आलोक उत्पन्न न किया हो और कठमुल्लेपन ने सड़ांध न पैदा कर दी हो। हर वस्तु में उसकी प्रामाणिक तथा सारभूत चमक वही आदमी उत्पन्न करता है, जो सवाल करता है। 'भारतीय संविधान' की शक्ति जंगलगे चक्के की सी निकल आई है, तो इसीलिए कि उसे सवालों के ऊपर करके रखा गया है, ताकि इसके वास्तुकार सवालों से ऊपर रह सकें और संविधान को भी कठसिद्धान्तों के पिटारे की तरह इस्तेमाल करती भानमती, इसे राष्ट्र के नागरिकों के तंतुवितान से जोड़ने की जगह, सत्ताकेन्द्र की संदूकची बनाये रख सके !

धर्मग्रन्थ हो कि संविधान अथवा विचारधारायें, जब भी इन्हें 'सदूकची' का आकार दिया जाय, इनकी विसंगतियों और दुष्परिणामों से बचना संभव नहीं। स्वयं हिंदू धर्म इसी नियति का आखेट हुआ। जो धर्म शस्त्र नहीं, शास्त्र, राज्य नहीं, आत्मा और तलवार-बदूक नहीं, बल्कि सतत तर्क और विचार की वस्तु मानने पर आधारित था, वही धर्म जब मठवादियों का निमित्त बन गया, तब जातिवाद और छूआछूत का कोढ़ फूटा और अंततः पूरा 'भारतवर्ष' आत्मघाती चारित्रिक अधःपतन के इस महारोग (कैंसर) की गिरफ्त में आकर, इतना छिन्नप्राण हो गया कि आज तक सभल नहीं पाया है। धर्म की मूल धारणा में ही उसके 'क्षेत्र' का सवाल भी धर्म के हिसाब से तय हो जाता है। 'दूसरों का स्थान' न घेरने की प्रतिज्ञा ही धर्म को उसके 'स्व-स्थान', यानी मनुष्य की आत्मा और उसके लोकाचरण में केन्द्रित करती है। जहां 'धर्म' के हिसाब से क्षेत्र का सिलसिला शुरू हुआ, धर्म लोकाचरण की जगह, राज्य का विषय बन जाता है।

आज जो 'हिन्दू राष्ट्र' के नारे को पानी पी-पीकर कोसते हैं, उन्हें शायद, इतना स्मरण नहीं रह गया कि यह 'मुस्लिम राज्य' की एक नितांत स्वाभाविक तथा अवश्यभावी परिणति थी—और है—इसलिए यदि हम अब 'शेष भारत' को सचमुच एक ऐसे धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र की एकात्मकता में देखना चाहते हैं, जहां कि प्रत्येक धर्म लोकाचरण और अंतरात्मा के आलोक का प्रतीक रहे, सत्ता के भूखे राजनैतिक-धार्मिक मठाधीशों के नितम्बों के नीचे लगाने की वस्तु नहीं, तब हमें धर्म और क्षेत्र के इस बुनियादी रिश्ते को ध्यान में रखना होगा कि जब धर्म आदमी के भीतर जड़ें जमाता है, तब उसके पूरे जीवनप्रवाह को आलोकित और उदात्त करता है। और जब-जब धर्म बाहर के क्षेत्रमें पैठ बनाता है, तब-तब अंततः राज्य के

इस्तेमाल की वस्तु बनता है; क्योंकि पैठ ही 'घुसपैठ' का कारण होती है।

जब धर्म अपने नैसर्गिक क्षेत्र से हटकर, राज्य के क्षेत्र में 'स्थान' तलाशता हो, राज्य के द्वारा उसका इस्तेमाल अवश्यम्भावी है और इतना तो हर कोई जानता है उसे जानना चाहिये कि घाघरे में गोटे घाघरे के लिए नहीं, बल्कि उसके खुद के इस्तेमाल के निमित्त लगाई जाती हैं।

धर्म के आधारभूत मूल्यों को नेपथ्य में करके उनके तमाम बहिरंग उपादानों को विस्तार देने में, राज्य यो ही रुचि नहीं लेता। जो जितना बहिरंग होगा, वह उतना ही राज्य की गिरफ्त में होगा, यह अभिज्ञान ही राज्य को नाना भांति के धार्मिक वितान तानने में खुद का भी हाथ लगाने की कूटनीति में ले जाता है।

हमने यहा धर्म और क्षेत्र का सवाल इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए उठाया है, किन्तु जैसा कि हमने स्वयं कहा, सवाल से ऊपर कुछ नहीं। बहस उपस्थित होने पर यह बात स्वतः सामने आयेगी कि सवालों को आंख दिखाना ही कठमुल्लापन और तानाशाही है, और सवालों को खुली आंखों उनके पूरे प्रसंग में देखना ही धर्मप्राणता। और कि लोकतंत्र में बहस का निषेध नहीं। धर्म स्वतः ही बहस की वस्तु है; क्योंकि उसका वितान अनेक तक जाता है और जो-कुछ एक से अनेक तक जाता हो, उसकी छानफटक और पड़ताल जरूरी है; क्योंकि बहस से इंकार करना ही खोट कायम रखना है। धर्म के संदर्भ में आज इतना जानना बिल्कुल जरूरी है कि उसका 'क्षेत्र' क्या होगा। मनुष्य के अंतर्जगत का आलोक मण्डल और लोकाचरण की आध्यात्मिक भूमि, या कि राज्य का भूगोल?

अंत में, हम फिर इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि मौजूदा केन्द्र सरकार का खालिस्तान के सूत्रधारों को पृथक्तावादी करार देना, 'खुद मियां फजीहत, दीगरे नसीहत' के सिवा कुछ नहीं। इतना कह लेने की अनुमति रहे कि नाना प्रकार के धार्मिक पृथक्तावादों को अपनी चुनावी रणनीति के मोहरों की शक्ति देते हुए तमाम धार्मिक कठमुल्लाओं को मेढ़े लड़ाने वालों की भूमिका में बरकरार रखना, यह न तो धर्म-निरपेक्षता बरतना है, न सर्वधर्मसमभाव। यह तो सर्वधर्ममठवाद का विखण्डनकारी शक्तियों के द्वारा इस्तेमाल है। पृथक्तावाद की भित्तियों पर ही जिनका राजमहल टिका हुआ है, वो खालिस्तानवादियों को पृथक्तावादी करार देते हुए, हमें इस सचाई से बेखबर क्यों रखना चाहते हैं कि हिन्दू-मुस्लिम पृथक्करण की मुहिम बाकायदे यही सरकार कायम रखे है और यह हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक पृथक्तावाद भी अंततः 'जो हमारा धर्म, वही हमारा क्षेत्र' के ही मुकाम तक पहुंचेगा; क्योंकि जैसा कि पहले भी कहा—धर्म और क्षेत्र दोनों एक-दूसरे से अविच्छिन्न रूप में अंतर्ग्रथित हैं।...और कहीं ऐसा न हो कि जब तक में किसी तरह खालिस्तानियों के 'धरमजुध'

से 'पिण्ड' छूटे, तब तक में कोई और 'धरमजुध' सामने खड़ा हो ! क्योंकि कल अगर हिन्दू भी धर्म के हिसाब से ही क्षेत्र का मसला तय करने के मुकाम पर पहुंचा दिये जायेंगे, तब अन्य धार्मिक समुदाय भी अपने-अपने धर्म के हिसाब से 'क्षेत्र' मांगने की उसी सरहद पर खड़े होंगे, जहां से पाकिस्तान शुरू हुआ था ।

कहना हमें सिर्फ इतना है कि जब तक नाना धर्म राज्यसत्ता की घुड़चढ़ी के उपादान बने रहेंगे, तब तक 'धरमजुध' का क्षेत्र भी बरकरार रहेगा जरूर ! इसलिये धर्म के हिसाब से देश की जगह, देश के अनुकूल धार्मिक आचरण को आधार बनाना ही होगा ।

□□

['दैनिक जागरण' : 5 अगस्त 1991]

धर्म और धर्मनिरपेक्षता का राजनीतिक धंधा

कहने से पहले उसके तात्पर्य को ठीक-ठीक समझ लेना जरूरी है, ताकि सवाल किये जाने पर दूसरो को भी समझाया जा सके, लेकिन इस नियम का पालन वो लोग नहीं कर सकते, जिन्हें कि झूठ फैलाना हो, क्योंकि झूठ का मतलब समझाना असम्भव है, अगर कि उसे सच साबित करना हो। धर्मनिरपेक्षता के मामले में हमारी राजनीतिक पार्टियों का हाल यही मिलेगा। इनमें से किसी का भी धर्म या धर्मनिरपेक्षता के वास्तविक तात्पर्य से कोई सरोकार नहीं। इन्होंने धर्म और धर्मनिरपेक्षता, दोनों को खुद का राजनीतिक धंधा बना लिया है।

यह बात अब पूरी तरह उजागर हो चुकी कि देश की आर्थिक-सामाजिक दुरावस्था के लिए ये राजनीतिक पार्टियां ही जिम्मेदार हैं, जिन्होंने खुद को देश-काल और समाज से ऊपर कर लिया है। इस वास्तविकता से लोगों का ध्यान हटाने के लिए ही जाति और धर्म के सवाल को हवा में उछाल दिया गया है, ताकि किसी को कुछ भी साफ-साफ दिखायी ही नहीं पड़े। लोगों को जात और धर्म के तबेलों में बांटने, और उनमें एक-दूसरे के प्रति नफरत पकाने, का यह खेल दिन-दिन और ज्यादा खतरनाक होता जा रहा है। इससे उदासीन पड़ा रहना ठीक नहीं।

धर्मनिरपेक्षता की डुगडुगी बजाते घूमने वाली किसी भी राजनीतिक पार्टी को इस बात से कोई वास्ता नहीं कि उसका तात्पर्य क्या है। इधर प्रधानमंत्री नरसिंह राव भी लगातार धर्मनिरपेक्षता की बात कर रहे हैं। उनका भी यही मानना है कि देश को बचाये रखने के लिए यही एक रास्ता है, लेकिन यह रास्ता आता कहा से और जाता कहाँ को है, इससे उन्हें भी कोई लेना-देना नहीं; क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा, जिन्हें झूठ फैलाना हो, वो तात्पर्य पर नहीं जाते। वो जानते हैं कि सच्चाई उनका साधन नहीं है।

कांग्रेस और जनता दल आदि से लेकर कम्युनिस्ट पार्टियों तक, सभी को पता है कि इन्हें कुल मिलाकर धर्म और जाति की राजनीति ही करनी है, लेकिन हिंदूवाद का झण्डा उठाकर नहीं। इन्होंने भाजपा-विरोध को खुद के धर्मनिरपेक्षतावाद का सबूत बना लिया है, बिना इस वास्तविकता में गये कि इतना पर्याप्त नहीं हो सकेगा। मुस्लिम मतों की राजनीति भी धर्म की राजनीति और पिछड़ी-निचली जातियों की राजनीति भी अंततः हिंदू राजनीति ही है। इस सच्चाई से इंकार का इनके पास कोई

तर्क नहीं है, सिवाय धर्मनिरपेक्षता का मुखौटा लगाये रहने के। अन्यथा ये इस सवाल का जवाब देते जरूर कि तब मौका पड़ते ही भाजपा से नाल जोड़ना अपरिहार्य क्यों हो जाता है ? गैर-कांग्रेसी पार्टियां भाजपा से दो बार प्रत्यक्ष गठबंधन कर चुकी हैं और कांग्रेस पर भाजपा से अप्रत्यक्ष गठबंधनों का आरोप भी मौजूद है। यह बात एक उदाहरण है कि जब लक्ष्य एक हो, तो सारी विचारधारात्मक भिन्नताएं कैसे एक-दूसरे की पूरक बन जाती हैं।

लेकिन एक-न-एक दिन बताना जरूरी होगा कि धर्मनिरपेक्षता से हमारा वास्तविक तात्पर्य क्या है ? अभी तो किसी धर्मनिरपेक्षतावादी पार्टी को इतना भी पता नहीं कि धर्मनिरपेक्षता की बात सिर्फ राज्य के संदर्भ में ही की जा सकती है; क्योंकि 'धर्मनिरपेक्ष समाज' असम्भव है। दृष्टान्त के लिए सोवियत रूस का 'ग्लासनोस्त' और 'पेरस्ट्रोइका' से पहले, और 1917 की साम्यवादी क्रांतिके बाद, का इतिहास सामने मौजूद है। और अब तो यह तथ्य भी सामने आ चुका कि सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी को मसीही धर्म के निषेध के कारण ही तडकना पड़ा; क्योंकि उसका यह रुख ईसाइयत के लिए संक्रामक खतरे का रूप ले चुका था। सोवियत रूस के साम्यवादी ढांचे के विरुद्ध सारे मसीही मुल्कों की एकजुटता के तार, कहीं न कहीं, ईसाइयत के नक्शे के सिकुड़ते जाने के अंदेशों से भी जुड़े रहे हैं।

देखा जाए तो धर्म, अपने बुनियादी स्वरूप में, राज्य का विषय है ही नहीं। राज्य-रूपी सिक्के का दूसरा पहलू कानून है, धर्म नहीं। धर्म राज्य की उत्पत्ति, या उसके अस्तित्व की शर्त नहीं है। राज्य का काम धर्म के बिना भी चल सकता है, इसके उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं। धर्म को तो बाद में 'राज्य के विस्तार के नैतिक आधार' के रूप में इस्तेमाल किया गया। लेकिन, जैसा कि पहले ही कहा, चूंकि धर्म राज्य का मूल तत्व नहीं, इसलिए धार्मिक राजनीति की शक्ति, हमेशा धर्म के राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल की ही निकलती रही है। इस तर्क से दोट्टक कहा जा सकता है कि धर्म के राजनीतिक इस्तेमाल का नैतिक आधार निर्मित करना असम्भव है, किन्तु यह तर्क जितना भाजपा पर चस्पां हो सकता है, उतना ही दूसरे राजनीतिक दलों पर भी। सारी राजनीतिक पार्टियों को पता है कि हमाम में सभी नंगे हैं।

पहले ही कहा कि राज्य का दूसरा पहलू, अर्थात् उसका बुनियादी आधार, कानून है, धर्म नहीं, इसलिए धार्मिक मामलों में उसकी शिरकत या दखलंदाजी का कोई भी वस्तुगत तर्क तभी वजन रख सकता है, जबकि धर्म या कहें कि धार्मिक क्रियाकलापों से कानून का अतिक्रमण होता हो। गहराई में जाकर देखें, तो राज्य का धर्म के मामलों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप प्रकारांतर से समाज की स्वाधीनता में दखल के सिवा कुछ नहीं। जिसे हम लोकतंत्र के नाम से जानना चाहते हैं, उसके मूल में समाज की

स्वाधीनता का तर्क ही काम कर रहा होता है, राज्य की सम्प्रभुता का नहीं। धर्म अथवा अध्यात्म को नागरिक का स्वयं का विषय मानना ही लोकतंत्र की बुनियाद है। इस अर्थ में लोकतंत्र अपनी मूल अवधारणा और अधिरचना में ही सामाजिक कार्य-कलापो में राज्य के मनमाने हस्तक्षेप के अस्वीकार पर टिका है।

धर्म को मानने या नहीं मानने, दोनों में से किसी भी बात के लिए दवाब डालना, स्वाधीनता में दखल देना है। जो भी राज्य इस तरह की दखलदाजी करे, वह खुद के धर्मनिरपेक्ष होने का दावा नहीं कर सकता।

इस्लाम के परचम वाले राज्यों की बात क्या की जाए, ईसाइयत के मूलाधार वाले लोकतंत्रों तक को इस शर्त से बच निकलना भारी पड़ सकता है। इसलिए, धर्मनिरपेक्षता के मामले में, इस एक मूल तथ्य को तो हर हाल में स्वीकारना ही होगा कि जहां तक समाज का सवाल है, उससे सिर्फ धार्मिक सहिष्णुता, या सद्भाव की अपेक्षा ही की जा सकती है, धर्मनिरपेक्षता की नहीं, क्योंकि समाज आदमी का समवेत है और आदमी क्या मानना चाहेगा, क्या नहीं, इसे नैतिक या कानूनी किसी भी तौर पर राज्य का विषय नहीं बनाया जा सकता। स्वाधीनता आदमी का मूल नैतिक पक्ष है, और तर्क की दृष्टि से देखे, तो इसमें राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता; क्योंकि स्वाधीनता, अर्थात् आदमी के नैतिक या कि नैसर्गिक पक्ष में हस्तक्षेप ही तानाशाही है।

राज्य का हमसे सिर्फ कानून का नाता है, हमारे किसी भी मामले में उसे सिर्फ तभी हस्तक्षेप करना चाहिए, जब कि कानून का अतिक्रमण होता हो। यह हमारी मर्जी का सवाल है कि हम धर्म को मानें, या नहीं मानें और मानें, तो किस रूप में। समाज का धर्म को मानने वाले, या नहीं मानने वाले, दोनों को खुला होना जरूरी है। सिवा इसके वास्तविक स्वाधीनता असम्भव है।

धार्मिक अथवा धर्मनिषेधी, दोनों प्रकार के राज्य स्वाधीनता को बाधित करते हैं। साम्यवादी और इस्लामी, दोनों राज्यव्यवस्थाओं का बुनियादी चरित्र इस मामले में एक है कि ये खुद से असहमत को स्थान नहीं देते। इनमें सह-अस्तित्व का विधान नदारद ही मिलेगा, जबकि सह-अस्तित्व स्वाधीनता का मूल बिन्दु है।

भारत की तमाम तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी पार्टियों को न धर्म की समझ है और न ही आदमी या समाज अथवा देश की। इन्हें यह भी पता नहीं कि धार्मिक कानून बनाना ही धर्मनिरपेक्ष राज्य, या कहें कि राज्य की धर्मनिरपेक्षता, से इंकार करना है। अभी कुछ ही अरसा पहले प्रायोजित 'उपासना विधेयक' की भी बुनियादी प्रकृति 'धार्मिक हस्तक्षेप', अर्थात् 'धार्मिक कानून', की ही है। राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद विवाद को इसके दायरे से बाहर रखकर सरकार ने कानून की समदर्शिता की अवधारणा का अतिक्रमण ही किया है। या तो यह विधेयक लाया ही नहीं जाना चाहिए था और या रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद और जम्मू-कश्मीर को भी इसके

दायरे में ही रखना जरूरी था। कानून को खुद के मतलब और मौके-भर के हिसाब से नहीं देखा जा सकता।

इतना आज भी दावे के साथ कहा जा सकता है कि यदि कृष्णजन्मभूमि या काशी विश्वनाथ वाले मामले में हिंदू समाज में व्यापक पैमाने पर प्रतिक्रिया हुई, तो कांग्रेस पार्टी 'उपासना विधेयक' में फिर रद्दोबदल करेगी जरूर... क्योंकि धार्मिक दबावों को कानून की शक्ति देते रहने का उसका अभ्यास काफी पुराना है।

कहना जरूरी होगा कि भारतीय संविधान में प्रक्षिप्त सारे निजी कानून मूलतः धार्मिक कानून ही हैं; क्योंकि कानून का निजी होना असम्भव है। 'पर्सनल लॉ' का सारा प्रक्षेपण कानून की सत्ता का अतिक्रमण और विलोपन करने वाला है। शाहबानो मामला और उपासना विधेयक, दोनों इसी तथ्य के चाक्षुस उदाहरण हैं कि जिनकी मूल प्रकृति धार्मिक हो, वो जब भी संविधान में जगह लेंगे, धार्मिक कानूनों की हैसियत में ही लेंगे। इसलिए सभी तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादियों को इस बुनियादी तथ्य को ठीक-ठीक समझ लेना जरूरी है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य का तात्पर्य धार्मिक आधारों पर शासन, अर्थात् धार्मिक कानूनों, से इंकार ही हो सकता है, धार्मिक कानूनों को निजी कानूनों की नकाब में पेश करना नहीं।

भाजपा पर धर्म की राजनीति खेल रहे होने का आरोप लगाने वाले यह भुला देना चाहते हैं कि धार्मिक कानूनों की राजनीति का खेल इससे अलग नहीं। इस प्रकार साफ देखा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षतावाद भी अपने बुनियादी चरित्र में, धार्मिक-साम्प्रदायिक राजनीति के सिवा कुछ नहीं। भाजपा इसे छद्म धर्मनिरपेक्षतावाद तो करार देती है, लेकिन चूंकि कांग्रेस तथा कम्युनिस्ट पार्टियों की धार्मिक-साम्प्रदायिक राजनीति के बाद अब जनता दल की जाति की राजनीति ने उसके सामने धर्म की राजनीति के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं छोड़ा है, इसलिए खुद की सारी गवॉक्ति तथा चुनौतियों से भरी घोषणाओं के बावजूद, धर्मनिरपेक्षता की खुली राष्ट्रीय बहस में उसकी भी कोई खास दिलचस्पी नहीं। उसका भी सारा उफान, इस मामले में, घोषणाबाजियों की रणनीति तक ही सीमित है; क्योंकि उसे पता है कि इस बहस में जहां तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादियों के चेहरों पर के मुखौटे खड़खड़ा सकते हैं, वहीं उसकी खुद की शक्ति के भी बहुत बेहतर निकल पाने की कोई गुंजाइश नहीं होगी। जब तक कि उसका राष्ट्रीयता का आंदोलन अपना पूरा स्वरूप नहीं ले ले।

लगता है, कहीं-न-कहीं 'मुसलमान मतदाताओं' को नाराज नहीं करने की सावधानी भाजपा भी बरतना चाहती जरूर है।....जबकि नीति, शायद, सिर्फ हिंदुओं को खुश करने की नहीं होनी चाहिये। इसके लिये ही राष्ट्रीयता की एक ऐसी सम्यक् और पारदर्शी अवधारणा आवश्यक है, जो धर्म, मजहब और जाति-वर्णों के हिसाब

से नीतियों के निर्धारण के खतरनाक सिलसिले को रोक सके। एक देश में एक-से कानूनों के मामले में भाजपा की भूमिका बिलकुल सही है, लेकिन पहलू और भी हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भाजपा में विचारधारात्मक स्तर पर भी अभी वह व्यापकता कतई नहीं, जो राष्ट्रीयता की सभी शर्तों को पूरा कर सके। उसके चिंतन में राष्ट्र और राज्य के बीच के अंतरालों का अभिज्ञान नदारद है। उसका 'हिन्दू राष्ट्र' का अवधारणात्मक विधान 'हिन्दू राज्य' की सरहदों का पूरा अतिक्रमण करता दिखायी नहीं पड़ता। किन्तु जहां तक भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य का प्रश्न है, भाजपा को उसकी हिंदू राजनीति के आधार पर बिरादरी-बाहर करने की सारी रणनीतियां तब तक निष्प्रभावी ही रहेंगी, जब तक कि मजहब और जाति की राजनीति का सिलसिला जारी हो। हिन्दू साम्प्रदायिकता के विरोध की अब तक की सारी मुहिमों ने भाजपा को और ज्यादा मजबूत ही बनाया है; क्योंकि इन विरोधी-राजनीतिक पार्टियों का खुद का चरित्र साम्प्रदायिक है।

भूलना नहीं चाहिए कि धर्मनिरपेक्षतावाद की राजनीति में भाजपा को अछूत करार देने का मतलब करोड़ों हिन्दुओं को हाशिये पर रखने की मूर्खतापूर्ण साजिश के सिवा कुछ नहीं। करोड़ों हिन्दुओं को साम्प्रदायिक करार देकर भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य का स्वप्न देखने-दिखाने के परिणामों का सकारात्मक होना असम्भव है; क्योंकि धर्मनिरपेक्ष राज्य सिर्फ हिन्दूबहुलता के बीच ही सम्भव है। सिवा हिन्दुओं के धर्मनिरपेक्ष राज्य की परम्परा किसी के पास नहीं। धर्म को राज्य का विषय मानने से इंकार का इतिहास सिर्फ हिन्दुओं का है।

जाहिर है कि धर्म और धर्मनिरपेक्षताबाजी, दोनों को सत्ता और विपक्ष की मिली-जुली राजनीति का मुख्य साधन बनाये रखने वाली ये राजनीतिक पार्टियां धर्म या धर्मनिरपेक्षता की खुली और आर-पार की बहस को कभी तैयार नहीं होंगी; क्योंकि सभी के हाथ काले हैं। सिर्फ रूप का अंतर है, चरित्र एक है। इनमें सिर्फ पेशे की स्पष्टता है। गहराई में देखें, तो भारत में सत्ता और विपक्ष की राजनीति सत्ता के लाभों में आपसी साझे की शर्तों पर टिकी है और इसी से मौकापरस्ती ही लगभग हर राजनीतिक दल का मूल आदर्श है। इसी से, साझा स्वार्थों के मामलों में, न धर्मनिरपेक्षतावादियों को भाजपा से कोई परहेज हुआ करता है और न ही मजहब या जातिवादियों से भाजपा को। सांसदों की सदाबहार और सनातन वृत्ति (पेंशन) के मामले में भी यही राजनीतिक साझा अपना करिश्मा दिखा चुका है।

भारत की लगभग सभी मौजूदा राजनीतिक पार्टियों के सारे आपसी झगड़े फुटपाथ पर के उन पट्टीदारों की याद दिलाने वाले हैं, जिनके बीच अपना-अपना माल अपने ढंग से बेच खाने का अनुबंध ही मुख्य भूमिका रखता है और एक-दूसरे

की भद उड़ाना भी इसी अनुबंध का अंग होता है। अन्यथा धर्मनिरपेक्षताबाजी की राजनीति खेलने वाली पार्टियों के लिए कुछ भी कठिन नहीं होता कि भाजपा के राजनैतिक अस्तित्व पर पूर्णविराम लगा दें।

इन सभी का यह दावा है कि भाजपा के पास सिवा धर्म, अर्थात् हिंदू साम्प्रदायिकता, के और कोई राजनैतिक मुद्दा है ही नहीं। इन्हें यह भी पता है कि भाजपा की सारी हिंदू धार्मिक साम्प्रदायिक मांगों का कुल जमा पक्ष अब सिर्फ तीन मंदिरों का रह गया है। तब इन तीन मंदिरों को हिन्दुओं को सौंपकर, भाजपा की हिंदू साम्प्रदायिक राजनीति को सदैव के लिए नेस्त-नाबूद करने में इतनी हिचकिचाहट क्यों ? इस मुद्दे पर तो मुसलमान भी खुलकर साथ दे सकते हैं कि अगर इतने से भाजपा की हिंदू राजनीति को हमेशा-हमेशा के लिए ध्वस्त किया जा सकता हो, तो सौदा महंगा नहीं !

.....लेकिन मामला कुछ और है। धर्म, जाति और मजहब की राजनीति से पूरे देश को मूर्ख बनाते चलने में सबकी भागीदारी समान है। धर्मनिरपेक्षता की सारी नौटंकी इसी अभिज्ञान में है कि भाजपा के हिंदूवाद को बरकरार रखकर ही खुद की धर्मनिरपेक्षताबाजी को भी अक्षुण्ण रखा जा सकता है।

इस प्रकार धर्म और धर्मनिरपेक्षतावाद, दोनों ही राजनैतिक धंधे का मुख्य अवलम्ब बन गये हैं। हिंदू साम्प्रदायिकता का हौवा जितना ज्यादा फैलाया जाएगा राजनीति में भाजपा की जड़ें भी उतनी ही गहरी होती जाएंगी, इस रहस्य से भलीभांति अवगत होते हुए भी अगर सारे देश में हिंदू साम्प्रदायिकताविरोधी अभियानों को लगातार प्रायोजित किया और 'बाबरी मस्जिद के ऊपर परिंदा भी पर नहीं मार सकेगा', की चुनौतिया देकर हिंदुओं को बाबरी-मस्जिद के गुम्बदों को रौंदने को उकसाया गया, तो यह इसी 'साझे की राजनीति' का ही करिश्मा है और यह भी निश्चित है कि करिश्मा आगे भी चालू रहेगा।...इसीलिए धर्म, जाति, मजहब या धर्मनिरपेक्षता की खुली बहस में न भाजपा कोई वास्तविक कारगर पहल करेगी, न ही भाजपा पर झाग उगलने वाली कोई अन्य राजनीतिक पार्टी; क्योंकि धंधा सभी का राजनीति का है। जबकि आज की पहली राष्ट्रीय जरूरत यही है कि धर्म, जाति और मजहब की इस साझा राजनीति का रास्ता रोका जाए; क्योंकि यह अब देश का नासूर बन चुकी है। जाहिर है कि यह काम सिर्फ राष्ट्रीयता की अवधारणा को आर-पार तक पारदर्शी बनाकर ही किया जा सकता है, लेकिन देश का दुर्भाग्य कि स्वयं भाजपा भी अभी इस दिशा में कोई बड़ी या निर्णायक पहल करती दिखाई नहीं पड़ती। जबकि यही काम करके वह वास्तविक राष्ट्रीय दल बन सकती है।

□□

['राष्ट्रीय सहारा': 19 अक्टूबर 1991]

धर्मनिरपेक्षता का ढोंग

एक प्रसिद्ध मुहावरा है, खुद मियाँ फजीहत, दीगरे नसीहत। लगता है चुनाव आयोग इस मुहावरे को ही अपना प्रतीक मानकर चलना चाहता है। अपनी तथाकथित आदर्श चुनावी सहिता में राजनैतिक पार्टियों से धर्म-निरपेक्षता की अपेक्षा रखने वाले चुनाव आयोग के मुख्य आयुक्त श्री टी. एन. शेषन से अगर कोई धर्मनिरपेक्षता का मतलब पूछ ले, तो निश्चित है कि वो कुछ भी बता नहीं पायेगे; क्योंकि जिस संविधान के प्रावधानों के तहत वो 'आदर्श आचार सहिता' को चला रहे हैं, वह स्वयं ही एक शुद्ध धार्मिक (मजहबी) संविधान है। बल्कि साम्प्रदायिक कहना ज्यादा संगत होगा।

ऐसे में विभिन्न राजनैतिक दलों की साम्प्रदायिकताविरोधी याचिकाओं पर धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त की कसौटी के आधार पर निर्णय करने वाले चुनाव आयोग को पहले यह आत्मनिरीक्षण कर लेना जरूरी था कि उसकी अपनी हकीकत क्या है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि धार्मिक (मजहबी) रीतिरिवाजों को कानून के तौर पर सिर्फ धार्मिक (मजहबी) राज्य के संविधान में ही मान्यता प्राप्त हो सकती है; क्योंकि कानून पूरी तरह राज्य का विषय है, धर्म या सम्प्रदाय का नहीं। कैसा भी वृहत् धार्मिक सम्प्रदाय कानून नहीं बना सकता।

चुनाव आयोग को इतना पता होना चाहिये था कि धार्मिक (मजहबी) रीति-रिवाजों को कानून की हैसियत सिर्फ कबीलाई व्यवस्था या मजहबी राज्य में दी जा सकती है। 'भारतीय संविधान' में यही किया गया है। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और पारसी आदि 'निजी कानूनों' के रूप में भारतीय संविधान में धार्मिक-साम्प्रदायिक रीति-रिवाजों को बाकायदे कानून का दर्जा दिया गया है। कानून की इस दोमुंही व्यवस्था के चलते ही भारतीय संविधान देश की सामाजिक एकात्मकता के मामले में पूरी तरह नाकारा सिद्ध हो चुका है।

किसी भी ऐसे देश के संविधान में, जो कि विधि के राज्य का संकल्प (और ऐसा दावा) करता हो, 'निजी कानूनों' के चोर-दरवाजों का औचित्य क्या होगा? शाहबानो मामले में हम देख चुके हैं कि कैसे सरकार ने राज्य के कानून के ऊपर मुस्लिम निजी कानून को वरीयता प्रदान की थी। राज्य के कानून पर शरीयत को वरीयता प्रदान किये जाने को मान्यता देने वाले संविधान का धर्मनिरपेक्ष होने का दावा सिवा सफेद झूठ

के और क्या कहा जायेगा ?

आज पूरा देश साम्प्रदायिकता और जातिवाद की जिस आग के हवाले हो गया है, इसमें सबसे खतरनाक भूमिका भारतीय संविधान के अंतर्विरोधों की है, इस कटु सत्य को स्वीकार करने में जितना और विलम्ब किया जाएगा, राष्ट्र की उतनी ही गम्भीर क्षतियां अवश्यम्भावी हैं; क्योंकि साम्प्रदायिक संविधान के द्वारा सामाजिक एकात्मकता या राष्ट्रीय एकता की कल्पना तक करना व्यर्थ है। ऐसे में भारतीय जनता पार्टी की मान्यता को धर्मनिरपेक्षता के अतिक्रमण के आरोप के आधार पर निरस्त किये जाने की विभिन्न राजनैतिक दलों की याचिकाओं पर विचार करने बैठने से पहले, चुनाव आयोग को स्वयं अपनी धर्मनिरपेक्षता को निश्चित करना जरूरी था।

दृष्टान्त के लिये, सिर्फ एक हिन्दू-मुस्लिम एकता के मामले को ले लें, तो मौजूदा संविधान के चलन में रहते यह बिलकुल असम्भव है। लोगों को इस वास्तविकता से अवगत कराया जाना जरूरी है कि हिन्दू-मुस्लिम एकता सिवा एक दिवास्वप्न के कुछ नहीं। एक ही देश और राज्य में कानून की दोहरी व्यवस्था के कायम रहते एकता या एकात्मकता की बात सिवा ढोंग और मक्कारी के कुछ नहीं।

हिन्दू और मुसलमानों के बीच में एकता या सामाजिक समरसता की एक ही शर्त होगी—दोनों से समान व्यवहार। दोनों की समान नागरिक हैसियत। दोनों के समान सामाजिक अधिकार। दोनों की नागरिक की हैसियत की सामाजिक भूमिका और साझेदारी। जाहिर है कि भारतीय संविधान में इसके ठीक उलट व्यवस्था की गयी है। इसमें हिन्दू और मुसलमान को कभी एक नहीं होने देने का गम्भीर षड्यन्त्र किया गया है।

हमें भूलना नहीं चाहिये कि कानून में एक नहीं होना ही अधिकारों में समान नहीं होना भी है। इसलिये जो लोग वास्तव में हिन्दू-मुसलमान के बीच एकता चाहते हों, जो इस सच्चाई से अवगत हों कि हमारी राष्ट्रीय एकता और शक्ति का एक ही रास्ता है, हिन्दू और मुसलमान के बीच की साझेदारी, ऐसे सारे लोगों को संविधान में से निजी कानूनों को हटाये जाने की मांग उठानी ही चाहिये।

भारतीय जनता पार्टी के रामजन्मभूमि के चुनाव का मुद्दा बनाने पर आपत्ति प्रकट करने वालों को इस सच्चाई को पर्वत-ओट नहीं कर देना चाहिये कि राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह के मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू करने के शुद्ध जातिवादी राजनैतिक हथकण्डों के बाद ही भाजपा की रथयात्रा का मुहूर्त निकला था। धर्म की ही भांति, जाति भी कानून का आधार कतई नहीं हो सकती; क्योंकि कानून का जन्म परिस्थितियों से होता है, जातियों से नहीं। जाति के आधार पर कानून बनाना, या बरतना शुद्ध जातिवादी राजनीति खेलना है और जो लोग जाति की राजनीति खेलना जरूरी समझते हों, उन्हें धर्म की राजनीति से आपत्ति का कोई नैतिक अधिकार कदापि नहीं हो सकता।

चुनाव आयोग को यदि धर्म की राजनीति पर वास्तव में रोक लगानी हो, तो पहले जाति की राजनीति पर अंकुश लगाना, और मण्डल आयोग को लागू करने का चुनावी वादे करने वाले राजनैतिक दलों की मान्यता को निरस्त करना होगा। अन्यथा भाजपा पर एकतरफा कार्यवाही कभी की गयी, तो यह व्यापक हिन्दू समाज की अस्मिता से जान-बूझकर खिलवाड़ करने के सिवा और कुछ नहीं माना जायेगा।

इसके अलावा, आज की परिस्थितियों में इस सवाल में जाना भी जरूरी होगा कि राष्ट्रीयता के बुनियादी आधार अथवा चिह्न क्या माने जाएँ? आखिर कौन-सा वह रास्ता हो सकता है, जिसके सहारे देश को साम्प्रदायिकता तथा जातिवाद के राष्ट्रघाती हादसों से उबारा जा सके? तब हिन्दू साम्प्रदायिकता पर एकतरफा कीचड़ उछालने से पहले इस बात का उत्तर भी आवश्यक होगा कि अगर कल अनुपात उलट जाये, अर्थात् देश में हिन्दुओं की आबादी का प्रतिशत बारह और मुस्लिम आबादी का प्रतिशत अस्सी हो जाय, तो क्या तब भारतवर्ष की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक हैसियत ज्यादा बेहतर होगी? तब अल्पसंख्यक मुसलमानों की तुलना में अल्पसंख्यक हिंदुओं, सिखों, ईसाइयों या पारसियों आदि को ज्यादा राजनैतिक-सामाजिक और धार्मिक स्वाधीनता प्राप्त होगी?

हमें भूलना नहीं चाहिये कि साम्प्रदायिकता की राष्ट्रव्यापी समस्या को हिन्दुओं के प्रति घृणा फैलाकर हल नहीं किया जा सकता। इसके लिये हिन्दू और मुसलमानों को बड़े पैमाने पर आगे आना और ऐसे रास्तों को खोजना होगा, जो दोनों की सामाजिक समरसता की संभावनाओं को उजागर कर सके। दोनों को ही अपनी-अपनी उन हठधर्मिताओं का त्याग करना ही होगा, जो साथ चलने में बाधक हों। चुनाव आयोग की आचार संहिता इस मामले में कोई सहायता नहीं कर पाएगी; क्योंकि ये हाथी के दिखाने के दांतों के सिवा कुछ नहीं। साम्प्रदायिकता जंगल की आग का रूप ले चुकी है और इस पर अब एक ऐसी गहरी राष्ट्रीय बहस की जरूरत है, जो राजनैतिक स्वार्थों की कुत्सा से मुक्त हो।

आज भारत के राजनैतिक पटल पर भाजपा-संघ गंठजोड़ के केन्द्र में आ जाने को लेकर, सिर्फ कांव-कांव करने से कुछ नहीं होगा। इस उपस्थित परिदृश्य को बहुत ध्यान से देखना होगा। तय है कि राजनैतिक दलों को रामजन्म भूमि के मुद्दे पर हिन्दुओं का 'वोटबैंक' के रूप में धुवीकरण होता दिखाई दिया और चुनाव आयोग की आदर्श आचार संहिता के आगे याचिकायें लिए उपस्थित होने के पीछे यही हड़बड़ाहट रही, लेकिन मुस्लिम या कथित पिछड़ी जातियों के वोट बैंकों के जनरल मैनेजर्स का ध्यान इस बात पर क्यों नहीं कि तावा कभी-न-कभी पलटता जरूर है?

ऐसे में हिन्दू पुनरुत्थान, या हिन्दू साम्प्रदायिकता के विरुद्ध हल्ला बोलने से पहले इन सभी को अपने-अपने गिरेबानों में भी झांकना और देश में एक ऐसी राज्यव्यवस्था की अवधारणा पर जोर देना चाहिए, जो देश और समाज के हितों को केन्द्र में रख सके। जिसमें सचमुच कानून का राज्य हो और कानूनों को लोगों को भेड़ों की तरह हांकने के लिए अलग-अलग लाठियों की शक्ति नहीं दी गई हो।

हिन्दू साम्प्रदायिकता के मामले को लेकर यह भी देखना जरूरी होगा कि जिस एक बात को रा. स्व. संघ के द्वारा फैलाये जाने वाले साम्प्रदायिक जहर की संज्ञा देते तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादियों की जीभ कभी थकती ही नहीं, वह मुसलमानों के चार-चार शदियां करने की छूट पर आपत्ति उठाना है। अगर पूछा जाय कि इस छूट का आधार क्या है, तो उन तमाम लोगों को जवाब देने की पहल करनी ही चाहिए, जो इसके पक्ष में हो। उन्हें बताना चाहिए कि इसका कारण क्या है। और अगर उनका जवाब सिर्फ यही तक जाता हो कि चूंकि हदीस या शरीयत में ऐसी व्यवस्था की गई है, तो जवाब इस बात का भी उन्हें देना ही चाहिए कि तब हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों में दी गई व्यवस्थाओं को कानून की हैसियत देने से इन्कार का तर्क क्या होगा?

जो लोग मुस्लिम शासकों और अंग्रेजों की राज्य व्यवस्था के हवाले और मुस्लिम शासकों के दौर में हिन्दू-मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक दंगे नहीं होने का सबूत दिया करते हैं, उन्हें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि इनके जमाने में हिन्दुओं के एक से अधिक विवाह करने पर कोई कानूनी पाबंदी नहीं थी। 1947 के बाद भी, जब तक कि हिन्दू कोड बिल लागू नहीं हो गया, यह छूट वर्षों तक बनी रही। इस मामले का सबसे पेचीदा पहलू है यह कि जब-जब मुसलमानों की आबादी बढ़ रहे होने के आंकड़े सामने आयेंगे, तब-तब हिन्दुओं में हौवा खड़ा करने के अवसर भी भुनाये जायेंगे जरूर! और परिणामस्वरूप न सिर्फ यह कि दोनों के बीच की दरारें चौड़ी होंगी, बल्कि जनसंख्या नियंत्रण का सारा अभियान ही मिट्टी में मिल जायेगा।

इसे सिवा दुर्भाग्य के और क्या कहा जाय कि हमारी तथाकथित राष्ट्रीय स्वाधीनता का श्रीगणेश ही इस सफेद झूठ के साथ हुआ कि शेष भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य का स्वरूप दिया जाएगा। इतना कोई आंखों का अंधा भी बता देगा कि धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा, संकल्पना और स्थापना का एक ही उपाय हो सकता है, धर्मनिरपेक्ष संविधान की रचना। एक ऐसे संविधान की रचना, जिसमें धर्म को राज्य का विषय मानने से इंकार किया गया हो। जिसमें देश के सारे नागरिकों के लिए एक कानून की व्यवस्था हो, ताकि भेदभाव की गुंजाइश ही नहीं रहे। लेकिन देश के सारे मूर्खन्य विचारक, राजनेता, लेखक और पत्रकार एक शर्मनाक राष्ट्रीय झूठ में शामिल होते गये और भारतीय संविधान को पंचमवेद करार देकर इसकी आड़ में आगे बोयी

जाने वाली फूट-फुटव्वल और साम्प्रदायिकता तथा जातिवाद की अफीम की खेती के रास्ते खोल दिए गए।

इस बात पर फिर पूरा जोर देना जरूरी होगा कि चुनाव आयोग के पास इस सवाल का जवाब होना ही चाहिए कि जिस संविधान में धार्मिक (मजहबी) रीति-रिवाजों को कानून का दर्जा प्राप्त हो, उसे धर्मनिरपेक्ष माने जाने का आधार क्या होगा ? जाहिर है कि भारतीय संविधान के मौजूदा स्वरूप के कायम रहते चुनाव आयोग को किसी भी राजनैतिक दल की धर्मनिरपेक्षता की कसौटी पर विवेचना करने का कोई नैतिक अधिकार कतई नहीं रह जाता।

जब तक कानून में एकरूपता नहीं लाई जाती, झगड़े खड़े होंगे जरूर। सरकार पर मुसलमानों के तुष्टीकरण का आरोप लगाने वालों को निरुत्तर करने के लिए भी यह आवश्यक होगा कि सरकार इस बात का कोई पूरी तरह युक्तिसंगत जवाब दे कि संविधान में निजी कानूनों की व्यवस्था के पीछे का तर्क क्या है और कैसे मुसलमानों को चार-चार शादियां करने का कानूनी अधिकार दिया जाना साम्प्रदायिक भेदभाव को खुराक पहुंचाना नहीं है।

आंकड़े गवाह हैं कि हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों में जान-माल की ज्यादा क्षति मुसलमानों की होती रही है और केन्द्र अथवा राज्य सरकारों ने इस दिशा में कोई प्रभावी कदम आज तक नहीं उठाया है। ऐसे में स्वयं मुस्लिम समाज के हितैषियों को भी इस बात पर गहराई से विचार करना चाहिए कि फांस कहाँ है।

विवाह, धार्मिक से ज्यादा, एक सामाजिक तथ्य है और इस मामले में धार्मिक व्यवस्था की आड़ लेना हरहाल में दूसरे पक्षों को एक चुनौती देना है। अगर हम सचमुच की राष्ट्रीय एकता और एकात्मता चाहते हों, तो हमें एक ऐसे राज्य की अवधारणा और स्थापना का लक्ष्य सामने रखना ही होगा, जिसमें नागरिक और नागरिक के बीच धर्म, जाति या सम्प्रदाय के आधार पर कोई विभेद कतई नहीं किया जाए। बिना ऐसे आदर्श राज्य की स्थापना किये, किसी भी प्रकार की आदर्श आचार संहिता लागू करना सिवा एक पाखण्ड के और कुछ नहीं होगा।

हमारे वर्तमान चुनाव आयोगों का सच यही है।

□□

[‘जागरण’: 26 अप्रैल 1991]

साम्प्रदायिकता की भानुमती का पिटारा कहाँ है ?

भारत की राजनीतिक पार्टियों को इनकी पूरी सक्रियताओं में सिर्फ तभी देखा जा सकता है, जबकि मामला या कि मौसम चुनावी मुद्दों का हो। लोगों को लुभाने, या कि खुद के दावे पुख्ता करने को 'छवि' बनाना जरूरी है, इसी अभिज्ञान में तमाम राजनीतिक पार्टियों में छविनिर्माण की होड़ शुरू हुई। आजकल काँग्रेस, रामो और वामो, इन सभी का ध्यान खुद की छवि को साम्प्रदायिकताविरोधी बनाने में लगा हुआ है; क्योंकि भाजपा के बढ़ते प्रभामण्डल को ध्वस्त करने को, शायद, तत्काल कोई और रणनीति सूझ नहीं रही। स्पष्ट है कि साम्प्रदायिकताविरोध से, सीधे-सीधे, तात्पर्य, मुख्य तौर पर 'हिंदू साम्प्रदायिकता' के विरोध से ही हुआ करता है; क्योंकि यह अहसास सभी राजनीतिक पार्टियों को गहराई से हो चुका कि भाजपा के मौजूदा बढ़ाव और विस्तार का रहस्य उसके 'हिंदू साम्प्रदायिकता के धुवीकरण' में ही छिपा है। सारी गैरभाजपा राजनीतिक पार्टियों का साम्प्रदायिकताविरोधी संयुक्त मोर्चा इसी राजनीतिक नासमझी की देन है।

लगता है, इन तमाम साम्प्रदायिकताविरोधी पार्टियों को इस बात का कोई ज्ञान ही नहीं कि चालाकी हमेशा, या हर स्थिति में, साथ नहीं देती। चालाकियों से कुछ दूर, या कुछ समय तक ठगा तो जा सकता है, लेकिन किसी भारत-जैसे विशाल देश की समस्याओं के हल नहीं खोजे जा सकते। मृग जब खुद की नाभि में की कस्तूरी को वन में ढूँढ़ता फिरता है, तो चालाकी नहीं खेल रहा होता। लेकिन जब खुद धर्म, मजहब, पंथ और जातियों की राजनीति खेलनेवाली पार्टियाँ भाजपा में हिंदू साम्प्रदायिकता खोजती घूमें, तो इसे सिवा राजनीतिक धूर्तता के और क्या कहा जायेगा ?

जो तात्कालिक सफलताओं या असफलताओं के पार नहीं देख सकते, वो कभी भी किसी देश, काल या समाज के सवालों को सही-सही देख ही नहीं सकते। जबकि भारत की सारी मौजूदा राजनीतिक पार्टियों का जोर तत्काल पर है। समाजवाद और गरीबी हटाओ के छलावे दम तोड़ चुके हैं। 'गद्दी की स्थिरता' के तर्क में भी अब कोई दम नहीं रहा। मण्डल का शिगूफा राजनीतिक बण्डलबाजी साबित होकर रह गया है। मजहब और जातियों के वोट बैंकों की राजनीति को हिंदू सम्प्रदाय की राजनीति से

संकट बढ़ता जा रहा है। जाहिर है कि भारत के वर्तमान परिदृश्य में चुनावी राजनीति का खेल आसान नहीं रह गया, लेकिन क्या इसका निदान सिर्फ भाजपा की हिंदू साम्प्रदायिकता से आमने-सामने के संघर्ष में ही है ? और अगर हाँ, तो साम्प्रदायिकता बनाम साम्प्रदायिकता की इस टकराहट से भी हर हाल में, क्या साम्प्रदायिकता की ही जड़े मजबूत नहीं होंगी ?

इस सचाई से मुँह मोड़ने में अब कुछ नहीं रखा कि यह तथाकथित साम्प्रदायिकताविरोधी संयुक्त मोर्चा खुद अपने में ही विभिन्न साम्प्रदायिकताओं के गँठजोड़ के अलावा और कुछ नहीं है। जिसे आज 'हिंदू साम्प्रदायिकता' करार दिया जा रहा है, यह खुद की गद्दी के जुगाड़ में नाना पंथ, मजहब और जातियों की साम्प्रदायिकता के इस्तेमाल की ही एक नितांत स्वाभाविक परिणति है। व्यापक हिंदू समाज में जगह-जगह और तरह-तरह से दरारें डालकर उसके लिये अस्तित्व का ही संकट उत्पन्न कर देने के बाद, अब इन तमाम गैरभाजपा तथाकथित साम्प्रदायिकताविरोधी राजनीतिक पार्टियों में से किसी को भी कोई नैतिक हक कतई नहीं कि हिंदू साम्प्रदायिकता का हौवा खड़ा करती घूमे।

पहले 'ब्लूस्टार ऑपरेशन' और फिर नवम्बर 1984 करवाकर, सिखों को हिंदुओं से दोफाड़ किया और बाद में मण्डल आयोग का आग का दरिया बहाकर, पूरे हिंदू समाज को अतर्ध्वस के कगार पर पहुँचा दिया गया। हिंदू और मुसलमान के बीच की दरारें पहले ही मौजूद थीं। हिंदुओं के प्रजातिक ढाँचे के विध्वंस का ऐसा चौतरफा भयावह परिदृश्य भारत के अब तक के इतिहास में पहली बार उपस्थित हुआ है, तो उथल-पुथल तो मचनी ही थी और भीतर-भीतर एक गहरे विक्षोभ ही नहीं, बल्कि दहशत से गुजरते हिंदुओं के सामने भाजपा के सिवा कोई विकल्प नहीं, अगर इस वास्तविकता को गैरभाजपा पार्टियाँ अभी भी नहीं रचीकार करना चाहतीं, तो तय है कि इनका यह भानुमती के कुनबे की तरह जोड़ा गया नूतन संयुक्त मोर्चा भी भाजपा के 'हिंदू आधार' को और ज्यादा मजबूत ही करेगा।

'हिंदू साम्प्रदायिकता, हिंदू साम्प्रदायिकता' चिल्लाते समय ध्यान इस बात का भी रखना जरूर चाहिये कि अगर भाजपा को वोट देने वाला हरेक हिंदू साम्प्रदायिक है, तो अब देश में साम्प्रदायिक टकरावों के सिवा और कुछ रास्ता है ही नहीं; क्योंकि भारत के पूरे इतिहास में धार्मिक और साम्प्रदायिक सहअस्तित्व का श्रेय सिर्फ हिंदुओं को है। पाकिस्तान तो हिंदूबहुल नहीं है और न बंगला देश या ईरान-तूरान-इराक—वहाँ धर्मनिरपेक्ष राज्य क्यों नहीं है ? याद रहे कि धार्मिक-साम्प्रदायिक अस्तित्व की अवधारणा ही, पूरे विश्व इतिहास में, सिर्फ हिंदुओं की देन है। खुद आधुनिक विज्ञानयुग के दावेदार इंग्लैण्ड-अमेरिका-फ्रांस आदि योरोपीय देशों की धर्मनिरपेक्षता की वास्तविकताएँ भी किसी से छिपी नहीं है। ऐसे में 'हिंदू

साम्प्रदायिकता-हिंदू साम्प्रदायिकता' चिल्लाने से पहले आईना देख लेना जरूरी होगा।यह एक सचाई है कि आज हिंदुओं में भी साम्प्रदायिकता जड़ें पकड़ रही है, और यह सब खुद हिंदू समाज के लिये घातक है, लेकिन साम्प्रदायिकता हिंदुओं की पहल कतई नहीं है।

हिंदू साम्प्रदायिकता का सॉप फुककार रहा है, अजगर अंगड़ाइयाँ ले रहा है, या कि जहर फैला रहा है, इस तरह के आरोपों की अब कोई प्रासंगिकता कतई नहीं रह गई; क्योंकि इस प्रकार के आरोपों के सारे नैतिक आधार पहले ही नष्ट हो चुके हैं। अन्यथा जहाँ तक भाजपा की हिंदू साम्प्रदायिकता की राजनीति का सवाल है, इसके हिंदू राष्ट्रवाद का प्रस्थानबिंदु तो काफी पुराना हो चुका। जनसंघ के रूप में भाजपा का हिंदूवाद ज्यादा कट्टरपंथी रहा है और ऐसा नहीं कि तब इसके पास संघाधार नहीं रहा हो, लेकिन अभी कुल जमा चार-पाँच वर्ष पहले भी भाजपा की भारत की राजनीति में कोई स्वच्छंद प्रभावी हैसियत नहीं थी, तो इसका कुछ-न-कुछ तो कारण होगा जरूर ? क्योंकि जिस हिंदू उद्वेलन की लहरों के बूते भाजपा ने आज संसद में अपना उपाध्यक्ष बिठाने में सफलता प्राप्त की है, यह कोई दैवी या प्राकृतिक घटना नहीं है। यह एक शुद्ध राजनीतिक पट-परिवर्तन है और इसका सारा श्रेय इन्हीं तथाकथित साम्प्रदायिकताविरोधी धड़ों को है, जो भाजपा पर हिकारत बरसाते हुए, इस सचाई को भूल ही जा रहे हैं कि जिनके चेहरों पर खुद कालिख पुती हो, उन्हें दूसरों के पीछे आईना लिये दौड़ते देखकर, लोग सिर्फ मजाक ही उड़ा सकते हैं।

देखते-देखते, तमाम तथाकथित साम्प्रदायिकताविरोधियों के मुखौटे तार-तार हो चुके हैं और असली चेहरे बाहर तक निकल आये हैं, लेकिन देश की जनता को मूर्ख समझने के बुनियादी सिद्धांतों की मुरीद राजनीतिक पार्टियों को अभी भी यह भ्रांति बिलकुल है कि लोग इन्हें धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक पार्टियाँ ही समझते होंगे। इन्हें इतनी भी समझ नहीं कि अगर लोग सचमुच ऐसा ही मानते होते, तो आज इन्हें भाजपा-जैसी एकपहलू राजनीतिक पार्टी के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा खोलने की बातें सोचने की नौबत ही क्यों आती ? अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग ही पकाने के मुरीद गैरकांग्रेसवाद के विरासतदार भी अगर आज चुनावों में भाजपा के विरुद्ध कांग्रेस, रामो और वामो के संयुक्त मोर्चे की बात करने लगे हैं, तो इतना ही यह बताने को काफी है कि सभी को, यहाँ तक कि कांग्रेस को भी, पाँवों-तले की धरती धँसती जाती साफ अनुभव होने लगी है। लेकिन इतना ही कड़ुवा सच यह भी है कि अब यह धर्मनिरपेक्ष ताकतों की एकजुटता की ठगविद्या चलेगी नहीं; क्योंकि धर्मनिरपेक्षता के मुखौटों की आड़ में की गई मजहब, पंथ, चर्च और जातियों की वोटों की राजनीति के सारे पत्ते खुल चुके हैं। साफ कहें, तो इनकी धर्मनिरपेक्षता नंगी हो चुकी है।

भारत-जैसे विभिन्न धर्म, मजहब और पंथों वाले देश में सिर्फ राज्य के ही धर्मनिरपेक्ष होने की बात की जा सकती थी; क्योंकि भारतवर्ष को धर्मनिरपेक्ष देश

कहना सिर्फ मूर्खता का परिचय देना है। सामाजिक या लोकव्यवहार के स्तर पर भारत को सर्वधर्मसमभाव या धार्मिक सहअस्तित्व का प्रतीक ही कहा जा सकता है, लेकिन राज्य अगर सर्वधर्मसमभाव पर चलेगा, तो सिवा धार्मिक राज्य के और कुछ नहीं बनेगा।

धर्मनिरपेक्षता की बुनियादी शर्त सहअस्तित्व है और सहअस्तित्व सिर्फ वही हो सकता है, जहाँ कि धर्म, मजहब या पंथ के मामलों में राज्य की दखलंदाजी नहीं हो। जहाँ धर्म के मामलों में राज्य का दखल होगा, वहाँ आगे-पीछे धर्म का राजनीति में इस्तेमाल होगा जरूर और तय है कि तब इस या उस धार्मिक समुदाय से राज्य का गंठ जोड़ भी बनेगा ही। खास तौर पर वहाँ तो हर हाल में, जहाँ कि ससदीय लोकतंत्र की नकाब जरूरी हो।

बोट की राजनीति जिस गढ़े मुकाम पर पहुँच चुकी है, इसमें अब तथाकथित ससदीय लोकतंत्र का चरित्र 'नकाब' से ज्यादा कुछ रह नहीं गया है; क्योंकि गद्दी की राजनीति के हमाम में सभी नंगे खड़े हैं। धर्म, मजहब, पंथ और जातियों तथा भ्रष्टाचार के सिवा किसी भी राजनीतिक पार्टी के पास अब कोई ऐसा नैतिक आधार बचा ही नहीं है कि वह सामाजिक-आर्थिक मुद्दों की राजनीति कर सके। जो खुद साम्प्रदायिक हैं, वो भाजपा की हिंदू साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा खोलने का नाटक करते घूम रहे हैं, तो इसे सिवा राजनीतिक दीवालियेपन के और क्या कहा जाय ?

आज की वास्तविकता यही है कि पूरा देश एक भयावह राजनीतिक दीवालियेपन से गुजर रहा है। राष्ट्र और राष्ट्रीयता की राजनीति की दावेदार भाजपा के पास भी कोई ऐसी दूरदर्शी राजनीतिक अधिरचना नहीं है, जिससे कि वह एक वास्तविक राष्ट्रीय दल के रूप में खुद की जड़ों को गहराई तक डाल सके, इसलिये इतना तय है कि अगला कुछ समय और अधिक बुरा ही साबित होने वाला है। राजनीति के अपराधीकरण ने राष्ट्रीय नेतृत्व के मूल आधारों को ही ध्वस्त कर दिया है। लगता है, बिना किसी बड़े विनाश से गुजरे आत्मावलोकन की प्रक्रिया तक का प्रारम्भ कठिन ही है। सकारात्मक परिवर्तन की बात ही व्यर्थ है; क्योंकि वर्तमान में किसी भी राजनीतिक पार्टी के पास हमें देने को सिवा प्रपंच और पाखण्ड के और कुछ नहीं है।

तथाकथित साम्प्रदायिकताविरोधी संयुक्त मोर्चे या कि धर्मनिरपेक्ष ताकतों की एकजुटता का आह्वान कर रही गैरभाजपा राजनीतिक पार्टियों के नेताओं को कौन समझाये कि एक काने का दूसरे काने को काना बताना, और लोगों को यह समझाना कि अगर काना रास्ता काटे, तो अनिष्ट करेगा जरूर—यह खुद को हास्यास्पद

बनाने के सिवा कुछ नहीं। इन तमाम गैरभाजपा पार्टियों में कौन है, जो कि खुद के धर्मनिरपेक्ष या असाम्प्रदायिक होने का दावा कर सके ? सारी राजनीतिक पार्टियों की निष्ठा भारतीय संविधान में है, और 'भारतीय संविधान' धार्मिक, साम्प्रदायिक तथा जातिवादी कानूनों का पुंज ! जब संविधान ही धर्म, महजब, पंथ, चर्च या जातिनिरपेक्ष नहीं है, तो इस पर ईमान लाने वाली संसद या राजनीतिक पार्टियों के धर्म, सम्प्रदाय या जाति से निरपेक्ष होने की गुंजाइश कहाँ होगी ?

आखिर कब तक और कहाँ तक ढोया जाएगा यह झूठ कि भारत का संविधान धर्मनिरपेक्ष है ? अगर भाजपा धर्म की राजनीति खेल रही है, तो क्यों नहीं इसे धर्मनिरपेक्ष संविधान का अतिक्रमण मान लिया जाए ? अगर किसी धार्मिक-साम्प्रदायिक राजनीतिक पार्टी के चुनावी प्रक्रिया में भाग लेने पर प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता, तो संविधान की धर्मनिरपेक्षता के दावे को सिवा झूठ और पाखण्ड के क्या कहा जाय ? या मानना होगा कि केन्द्र सरकार की भाजपा से मिलीभगत है और याकि केन्द्र सरकार ही पूरी तरह नाकारा है और उसमें संविधान के परिपालन की क्षमता ही नहीं।...लेकिन तब संयुक्त मोर्चा कायम करने के नाटक की जगह, खुद रामो-वामो सर्वोच्च न्यायालय में मामला क्यों नहीं ले जाते कि चूँकि भाजपा एक शुद्ध साम्प्रदायिक राजनीतिक पार्टी है, इसलिये इसे प्रतिबंधित कर दिया जाए ?

अगर भाजपा वास्तव में एक हिंदू साम्प्रदायिक पार्टी है, और इसके पक्के सबूत हैं, तो इसे प्रतिबंधित करवाने में कोई कठिनाई होनी ही नहीं चाहिये, खास तौर पर जबकि खुद केन्द्र सरकार धर्मनिरपेक्ष और साम्प्रदायिकताविरोधी हो।...लेकिन सवाल फिर वही आड़े आयेगा कि हमाम में से बाहर कौन निकले ! अगर इन तथाकथित साम्प्रदायिकताविरोधी और छद्मधर्मनिरपेक्षतावादी राजनीतिक पार्टियों में नैतिक साहस होता, तो ये जहाँ बाहर भाजपा की हिंदू साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा खोलतीं, वहीं सर्वोच्च न्यायालय में भी मामला दायर करतीं जरूर। सिवा इसके इनको कोई हक नहीं कि ये भाजपा को हिंदू साम्प्रदायिक पार्टी करार देते घूमें।

देश के लोगों को शरीहन मूर्ख बनाने के दिन लद चुके। अब इस रहस्य को जानने वाले लोगों की संख्या कम नहीं कि कोरी लफ्फाजियों से भ्रांतियाँ रचने की जरूरत क्यों है। जिन आधारों पर भाजपा को साम्प्रदायिक करार दिया जा सकता हो, उनसे खुद की शक्तें भी सिवा साम्प्रदायिक, मजहबी और जातिवादियों के और कुछ नहीं निकलनी, यह सचाई ही तमाम तथाकथित साम्प्रदायिकताविरोधी और छद्म धर्मनिरपेक्षतावादी पार्टियों के गले में फँसी हड्डी बनी हुई है और कौन नहीं जानता कि गले की हड्डी आसानी से बाहर नहीं आती !

सीधी-सी बात, जब तक धर्म, पंथ, मजहब और जातियों के आधार पर अपने-अपने वोट बैंक बनाने की गंदी राजनीतिबाजी का सिलसिला बंद नहीं किया जाता, तब तक तथाकथित साम्प्रदायिकताविरोध या कि छद्म धर्मनिरपेक्षतावाद की

नौटंकियों से भाजपा के रास्ते नहीं ही रोके जा सकेंगे। ज्यों-ज्यों तथाकथित साम्प्रदायिकताविरोधी पार्टियों का छद्म धर्मनिरपेक्षतावाद जोर पकड़ता गया, त्यों-त्यों भाजपा की राजनीतिक स्थिति पहले से और ज्यादा मजबूत ही हुई और इस स्थिति में आगे भी तब तक कोई परिवर्तन कठिन ही होगा, जब तक कि मुखौटे खूंटियों पर टंगेंगे नहीं।

आज कौन नहीं जानता कि खुद संसद ही साम्प्रदायिकता की भानुमती के पिटारे के सिवा कुछ नहीं; क्योंकि वहां जो भी पहुंचा है, पहुंचा है, किसी-न किसी सम्प्रदाय या जाति की पूँछ पकड़कर ही ! इसके बावजूद अगर धर्मनिरपेक्ष ताकतों की एकजुटता का आह्वान कर रहे साम्प्रदायिकताविरोधी संयुक्त मोर्चे के लोगो को यह भ्रांति हो कि ऐसा करके वो खुद को वास्तव में धर्मनिरपेक्ष भी सिद्ध कर सकते हैं, तो इस पुरानी दंतकथा को भी, अप्रासंगिक नहीं ही कहा जा सकेगा।

कथा इस प्रकार है —

एक समय जंगलों में शूकरों का राज्य स्थापित हो गया। तब चिंता हुई कि 'स्थिरता' का क्या होगा ? 'छवि' ठीक नहीं होने से आगे संकट आयेगा जरूर। सुअर क्या राज चलाएँगे, ऐसा कहने वालों की कोई कमी नहीं थी। तब ज्ञानसभा में तय हुआ कि 'छवि का संकट' टालने को यह सिद्ध करना जरूरी है कि—हम सुअर नहीं हैं !

दूसरी भोर ही रैलियाँ शुरू हो गई और इन दसों दिशाओं में धूमती रैलियों का नारा एक ही था—सुअरों से सावधान रहो ! सुअरों से सावधान रहो !! सुअरों से सावधान रहो !!!

हो सकता है, मौजूदा प्रसंग में, यह दृष्टांतकथा किंचित् कठोर दिखाई पड़े, लेकिन उस दृष्टांत का भी तो कोई मतलब नहीं, जो कि हमारे समय की वास्तविकताओं को उजागर नहीं कर सके ? जब खुद धर्म, मजहब, पंथ, जाति और माफिया की राजनीति खेलने वाले ही हिंदू साम्प्रदायिकता के विरुद्ध जुलूसबाजी शुरू करेंगे, तो इसे देश के लोग भानुमती के तमाशों के सिवा और समझेंगे भी क्या ? क्योंकि इतना तो आज लोगों को भी पता ही है कि पनाले कहाँ से निकल रहे हैं ! अर्थात् कि भानुमती का पिटारा कहाँ है !

□□

['संडे आब्जर्वर' : 1991]

उपासनास्थल विधेयक का उद्देश्य

आखिर 'उपासना स्थल विधेयक' 1991 का उद्देश्य क्या है ?

सरकार के अनुसार — साम्प्रदायिक सौमनस्य की स्थितियों को सम्भव बनाना, अर्थात् धार्मिक टकरावों के रास्ते रोक देना । सरकार ने इसे ही धर्मनिरपेक्षता की प्रतिभूति (गारण्टी) भी बताया है । यानी कि सरकार ने मान लिया है कि पहले तो विभिन्न धार्मिक समुदायों के लोग 'उपासना स्थल विधेयक' को स्वतः ही अंगीकार कर लेंगे — अगर नहीं, तो 'उपासना स्थल विधेयक' के उद्देश्यों को विधिक उपचारों के द्वारा पूरा कर लिया जायेगा । यहां सवाल उठता है कि क्या सचमुच ?

सभी धर्मावलम्बियों के द्वारा इसे — अर्थात् 'उपासना स्थल विधेयक' को — स्वेच्छा से स्वीकार कर लिये जाने की संभावनाएं तो भाजपा ने पहले ही ध्वस्त कर दी हैं । विश्व हिंदू परिषद के 'अब काशी-मथुरा की वारी है ।' के नारे को भाजपा ने खुला समर्थन दे दिया है । भाजपा के इस रुख को साम्प्रदायिक या धर्मनिरपेक्षताविरोधी करार देने की छूट हो सकती है, लेकिन भूलना नहीं चाहिए कि धर्मनिरपेक्षता के मामले में भाजपा को हाशिये पर फेंकना असम्भव है ।

आज लोकसभा में भाजपा के उपाध्यक्ष की उपस्थिति भाजपा के हिन्दू समाज की नाडी को स्पंदित करने में समर्थ सिद्ध होने की कहानी ही सुना रही है । दूसरे, भारत में धर्मनिरपेक्षता के बुनियादी आधारों को एक व्यापक हिन्दू समाज को हाशिये पर डालकर पुख्ता नहीं बनाया जा सकता । इसलिए अगर उद्देश्य धार्मिक टकरावों को बचाना ही हो, तो धर्मनिरपेक्षता के कुछ ऐसे संवैधानिक रास्ते खोजने जरूरी होंगे, जो कि व्यापक हिन्दू समाज को भी ठीक उसी तरह मान्य हो सकें, जैसा कि 'उपासना स्थल विधेयक' के मामले में मुस्लिम सहमतियों के तौर पर दिखायी दिया है । 'उपासना स्थल विधेयक' को लेकर हिन्दू बहुसंख्यकों के गुमसुमपन (या उनके बीच तने सत्राटे) को संसदीय बहुमत के गुमान (या कि ऐसे इत्मीनान) में आंख-ओझल कर देना राजनयिक दूरंदेशी का सबूत नहीं बन सकेगा; क्योंकि राजनीति में एक बैल की खेती कारगर नहीं हुआ करती ।

अगर एक पक्ष में सत्राटा खिंचा हो, तो समझ लेना चाहिए कि उपचार सही नहीं है । सत्तादल के हिन्दू सांसदों की सहमति का, 'उपासना स्थल विधेयक' के मामले में, कोई निर्णायक महत्त्व बन नहीं पायेगा; क्योंकि 'हिन्दू संवेदना के प्रतिनिधित्व'

के मामले में भाजपा के सासदों का पलड़ा ही भारी सिद्ध होगा, इस वास्तविकता से इन्कार तो, शायद, खुद केन्द्र सरकार भी नहीं करना चाहेगी। राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद मामले को 'उपासना स्थल विधेयक' की परिधियों से बाहर रखकर, सरकार ने अपने इसी आकलन की पुष्टि की भी है।

'राम जन्मभूमि' के विवाद को 'उपासना स्थल विधेयक' के दायरे में लाते ही हिन्दू मत बड़े पैमाने पर घपले में पड़ जायेगा और उपचुनावों में कांग्रेस का बहुमत का सपना तक खटाई में पड़ सकता है—स्पष्ट है कि इस चतुरता में ही 'उपासना स्थल विधेयक' को 'मन्दिर वहीं बनायेंगे' के उद्घोषों की बाधा बनने से रोक लिया गया है। अर्थात् हिंदुओं की अप्रसन्नता का भय ही 'राम जन्मभूमि' विवाद को 'उपासना स्थल विधेयक' के दायरे से बाहर रखने का एकमात्र कारण है और इसका कोई विधिक आधार नहीं है।

अगर विधि की दृष्टि से देखा जाय, तो राम जन्मभूमि विवाद या कश्मीर को, उपासना स्थल विधेयक के दायरे से बाहर नहीं रखा जा सकता। 'राम जन्मभूमि' मामले को इसलिए नहीं कि अपनी मूल प्रवृत्ति में यह मामला कृष्ण जन्मभूमि या काशी विश्वनाथ मन्दिर के मामलों से भिन्न कतराई नहीं है। भिन्न यह सिर्फ 'आन्दोलन' की उग्रता के अनुपात की दृष्टि से है। कहने का तात्पर्य कि अगर कदाचित् हिन्दू उद्वेलनों को मामले में कृष्ण जन्मभूमि और काशी विश्वनाथ मन्दिर का मामला भी राम जन्मभूमि के बराबर ही तूल पकड़ चुका होता, तो केन्द्र सरकार के हाथ-पांव फूल जाते और तब बिल्कुल सम्भव है कि वह इन दोनों उपासना-केन्द्रों को भी 'उपासना स्थल विधेयक' की पहुंच से दूर ही मान लेती।

'उपासना स्थल विधेयक' का खतरनाक पक्ष हिन्दू समाज के सामने यह चुनौती फेंकते दिखायी पड़ना है कि अगर चाहते हो कि इन दो उपासना स्थलों को भी 'उपासना स्थल विधेयक' की चारदीवारियों से बाहर कर लिया जाए, तो पहले इन्हें लेकर भी ठीक उतने ही बड़े धार्मिक बवण्डर उत्पन्न करो, जैसा कि 'राम जन्मभूमि' के मामले में किया। इस अर्थ में प्रस्तुत विधेयक की शक्ति 'उपासना स्थल विधेयक' की जगह 'उकसावा विधेयक' की ही ज्यादा दिखायी पड़ती है। अन्यथा या तो राम जन्मभूमि, काशी विश्वनाथ और मथुरा तीनों को विधेयक की चौहद्दी में लाया जाना चाहिए था और या तीनों को बाहर; क्योंकि समान प्रकृति के मामलों में समान विधिक प्रक्रिया जरूरी है।

दूसरे, 'उपासना स्थल विधेयक' ने भाजपा की राजनीतिक सम्भावनाओं को सदाबहार बनाने में ही सहायता की है, जबकि दावा भाजपा की धर्मनिरपेक्षताविरोधी साम्प्रदायिकताओं के रास्ते रोकने का है। इसीलिए फिर कहना होगा कि उद्देश्य भी सिर्फ उद्देश्य के चौखटे में ही देखने की वस्तु नहीं। देखना जरूरी है यह भी कि

उद्देश्य के उपाय क्या हैं। अगर उपाय उद्देश्य के विपरीत पडने वाले हों, तो सिर्फ इस बात पर ता-ता-थैया ठीक नहीं कि 'उद्देश्य महान् है।' कैसे भी महानतम उद्देश्यों की कोई प्रासंगिकता नहीं, जब तक कि रास्ते भी सही नहीं हों। चूंकि मौजूदा 'उपासना स्थल विधेयक' धार्मिक-मजहबी राजनीति के रास्तों को और ज्यादा चौड़ा करने वाला है, इसलिए इस मियां-मिट्ठूपन के बहुत देर, या दूर तक टिक पाने की गुंजाइश भी कम ही होगी कि 'उपासना स्थल विधेयक' के द्वारा धार्मिक-मजहबी टकराहटों के रास्ते बंद कर दिये गए हैं।

कश्मीर को अलग रखने का तर्क भी बेबुनियाद है। अगर धारा 370 कश्मीर को कानून के दायरे से ही बाहर रखने के मुकाम तक जाती हो, तो फिर भारत से करोड़ों-अरबों की आर्थिक अनुपूर्तियों को भी रोकना होगा; क्योंकि जहां कानून नहीं जाएं, वहाँ राजस्व को ले जाना अमानत में ख्यानत के सिवाय कुछ नहीं। भूलना नहीं चाहिए कि विशेष कानूनों का तर्क नागरिकता की मूल शर्तों का अतिक्रमण नहीं कर सकता। कश्मीर और भारत की नागरिकता के अलग-अलग होने से ही कश्मीर अपनी अंतर्वस्तु में एक 'स्वतंत्र राज्य' का दृष्टान्त बन गया है और यह सिलसिला ही इसे 'भिन्न देश' की मांग की तरफ भी ले जा रहा है। कश्मीर के उपासनास्थलों की स्थिति भारत के उपासनास्थलों से भिन्न तभी हो सकती है, जबकि कश्मीर का नक्शा भारत के नक्शे से अलग हो। इस रूप में 'उपासना स्थल विधेयक' कश्मीर के मामले को भी अधिक कुहासे से ढँकने वाला ही साबित हो सकता है। धारा 370 को सिर्फ मनचाहे मामलों में प्रभावी मानना, हर हाल में, भारत के नागरिकों को धोखा देना है। अरबों-खरबों रुपया झोंकने में धारा 370 कभी बाधक नहीं बनी, इसका रहस्य क्या है ?

'उपासना स्थल' विधेयक' का एक गहरा अन्तर्विरोध यह भी है कि यह सामुदायिक सौमनस्य, एकात्मता या कि धर्मनिरपेक्षता के सरकार के द्वारा ही सम्भव हो सकने की निष्पत्ति तक जाता है; क्योंकि इसके साथ धार्मिक टकरावों के रास्तों के सरकार के द्वारा बंद कर दिये गये होने का दावा अभी से नत्थी कर दिया गया है, जो कि स्पष्ट है कि वोट की राजनीति, या चुनावी रणनीति, की उत्पत्ति-मात्र है और साम्प्रदायिक सौमानस्य की सम्भावनाओं को धार्मिक-मजहबी राजनीति की चौखटों में खोजने की मूर्खता, शायद, कोई अक्ल का अन्धा भी नहीं ही करना चाहेगा।

सरकार को सारे मुस्लिम नेताओं से दोटूक कह देना चाहिए था कि इस तरह का कोई विधेयक वह कदापि नहीं लायेगी; क्योंकि इससे हिंदू और मुसलमानों के बीच अपने विवादों को पारस्परिक तौर पर सुलझाने की प्रक्रिया समाप्त हो जायेगी। दोनों के बीच का संवाद घपले में पड़ जायेगा। जहां तक 'यथास्थिति' का प्रश्न है, यह तो 'उपासना स्थल विधेयक' से पहले ही बनी हुई थी ? राम जन्मभूमि में मंदिर नहीं बन पाया, तो इसीलिए कि कानूनी अड़चनें थी। ताला भी जब कांग्रेस सरकार ने खुलवाया,

तभी खुला। विहिप या बजरंगदल वालों ने तो ताला तोड़ा नहीं।

ध्यान रहे कि 'रामजन्मभूमि' का मामला न्यायालयों और कानून के दायरे से बाहर है, यह तर्क (या नारा) हिंदू संगठनों की ओर से पहले कभी नहीं दिया गया। लोग बाहर खुले में कीर्तन-पूजन करते रहे, लेकिन ताले को किसी ने नहीं तोड़ा। जब शाहबानो मामले में मुस्लिम धार्मिक आस्था को कानून और न्यायालयों के क्षेत्र से बाहर मान लिया गया, तब ही यह तर्क हिंदू संगठनों की ओर से भी आया कि जब मुस्लिम नहीं, तब हिंदू धार्मिक आस्था क्यों कानून के दायरे में होगी? इस सवाल का कोई जवाब न केन्द्र सरकार के पास है और न ही भाजपाविरोधी पार्टियों के। चल अथवा अचल सम्पदा के विवाद हर हाल में कानून के मामले हैं। सार्वजनिक हित-अहित के सवाल भी कानून से बाहर नहीं। ऐसे में पहले खुद ही ताला खुलवाना और फिर खुद ही 'उपासना स्थल विधेयक' लाने की राजनीति का मतलब? यह मुस्लिम वोटों की सरकारी खरीद की कूटनीति के सिवाय और है क्या?

'उपासना स्थल विधेयक' के पहले ही ऐसी सारी कानूनी व्यवस्थाएँ मौजूद थीं, जिनसे कि किसी मन्दिर या मस्जिद को तोड़ फोड़ से बचाया जा सके। सरकार को साफ कह देना चाहिए था कि जब कोई तोड़-फोड़ होगी, तो हम बिल्कुल कानूनी कार्यवाही करेंगे, लेकिन 'उपासना स्थल विधेयक' के चोर-दरवाजे से धर्म और मजहब में दरखलंदाजी ठीक नहीं; क्योंकि इस तरह की राजनीतिक दरखलदाजियों से एक-न-एक पक्ष में विक्षोभ भड़केगा जरूर।

रह गया 'उपासना स्थल विधेयक' के द्वारा धर्मनिरपेक्षता की बुनियाद को और मजबूत बना दिये गये होने का दावा, यह सिवा झूठ के कुछ नहीं; क्योंकि धर्म और मजहब के मामलों में राज्य की चौधराहट का मतलब ही धर्म और मजहब का राजनीतिक इस्तेमाल होता है। 'उपासना स्थल विधेयक' भी मजहबी जज्बातों के राजनीतिक इस्तेमाल में ही है। यह उपासनाओं को राजनीति और राजनीति को उपासनाओं में सानने की नुस्खेबाजी ठीक नहीं।

यह जो हिंदुओं का मुसलमानों और मुसलमानों का हिंदुओं पर से विश्वास खत्म कर देने की राजनीति है, इस जहर की काट खोजे बिना काम चलेगा नहीं। एक-दूसरे के विश्वासों व संवेदनों के प्रति सहिष्णु और उदार होकर ही सौमनस्य का वातावरण बनाया जा सकता है। जहाँ जिसका हक और लगाव ज्यादा हो, वहाँ उपद्रव खड़ा नहीं करना—सिवा इसके भाईचारा असम्भव है। राम जन्मभूमि व काशी-मथुरा मामले में हिंदुओं से मेल-मिलाप की जगह, सरकार की शर्तों पर चलना बता रहा है कि मुस्लिम नेतृत्व खुद का हक ज्यादा होने के प्रति खुद ही आश्वस्त नहीं है।

धार्मिक-मजहबी अथवा सामुदायिक हकों के लिए सत्ता की राजनीति पर खुद के थोक वोटों का दबाव बनाना आपसी सद्भाव और साझे के रास्तों को बंद कर देता है।

राजनीति के साथ की इस तरह की सौदेबाजियों के परिणाम 'ब्लू स्टार ऑपरेशन', नवम्बर 1984 और मंडल आयोग के रूप में सामने आ चुके हैं। सरकार की इस तरह की प्रत्येक कूटनीति ने देशवासियों के बीच गहरी दरारें ही उत्पन्न की हैं, जिनका रुख एकतरफा रहा है। 'उपासना स्थल विधेयक' भी यही करेगा; क्योंकि यह भी एक 'राजनीतिक ऑपरेशन' ही है। अन्यथा जहां तक यथास्थितियों का प्रश्न है, इसके लिए 'उपासना स्थल विधेयक' कतई अपरिहार्य नहीं था और यदि हिन्दू समाज ने एक स्वर में यथास्थिति के विरुद्ध हल्ला बोला, तो भी 'उपासना विधेयक' कुछ कर नहीं पायेगा। यही नहीं, अगर संसदीय बहुमत की धौंस से मुस्लिम विधेयक लागू किये जा सकते हैं, तब हिंदू विधेयकों को रोकने का तर्क क्या होगा ?

धार्मिक-मजहबी मामलों को सरकार के हाथों में समेटते चले जाने के इन राजनीतिक हथकंडों ने ही सामुदायिक परस्परता और सौमनस्य के सेतु तोड़ दिये हैं। मुसलमानों का यह खुद के हितों की सुरक्षा सरकार के साथ के गंउजोड़ों में खोजना उन्हें निरंतर हिंदू समाज से काटता चला जा रहा है। राम जन्मभूमि या मथुरा-काशी के मामलों में खुद मुसलमानों को साफ कह देना चाहिए था कि ये मसले हम हिंदू भाइयों के साथ मिल-बैठकर सुलझाएंगे।

राजनीति ने पूरे देश की नियति को खुद की मुट्ठी में बंद कर लिया है। 'उपासना स्थल विधेयक' इस गिरफ्त को और मजबूत करेगा। धार्मिक-मजहबी मामलों में सरकार को ही सरपस्त बनाने के परिणाम जब निकालेंगे, हिंदू और मुसलमानों के पारस्परिक सौमनस्य के विरुद्ध ही निकलेंगे।

हिंदुओं में मुसलमानों के प्रति असहिष्णुता बढ़ाने में 'उपासना स्थल विधेयक' निमित्त बनेगा जरूर; क्योंकि यह बहुसंख्यकों के चित्त को उद्धिग्न करेगा। धर्मनिरपेक्ष होने का दावा करने वाली सरकार को चाहिये कि वह धार्मिक-मजहबी मामलों के निपटारे को खुद के हाथों में भूलकर भी नहीं ले। जबकि 'उपासना स्थल विधेयक' की पेशकश के पीछे राजनीतिक जोड़-तोड़ की ही मुख्य भूमिका है। इस तरह जाति, मजहब या धर्म की राजनीति खेलने को लाये जाने वाला हर विधेयक संविधान की आत्मा को विदीर्ण ही करेगा और ऐसे सारे विधेयक अंततः संविधान के क्षेपक ही सिद्ध होंगे, जो संवैधानिक प्रक्रिया को दूषित करते हों।

हमें भूलना नहीं चाहिये कि उपासना, प्रार्थना, नमाज या अर्दास आदि के विवाद किसी धर्मनिरपेक्ष राज्य की चौधराहट का विषय नहीं हो सकते। लोगों में यह प्रभाव बनाने की हिमाकत ठीक नहीं कि लो, तुम्हारे सारे धार्मिक-मजहबी या पंथिक विवादों और टकराहटों के रास्ते कानून के द्वारा बंद कर दिये गये। इन मामलों में सरकारी मर्कट फैसलों की किसी-न-किसी पक्ष में गलत प्रतिक्रिया होगी जरूर। 'उपासना विधेयक' को कानून की शक्ल देना हर हाल में एक धार्मिक-मजहबी कानून बनाना है। लोगों के धार्मिक-मजहबी लगावों के मामलों को हाथों में लेना ठीक नहीं। यह

काम सरकार का नहीं। सरकार को सिर्फ कानून के अतिक्रमण का तर्क रखना चाहिये।

अगर स्वयं की धार्मिक-मजहबी आस्थाओं, लगावों और संवेदनों के मामलों को पारस्परिक संवाद, सद्भाव और साझे से हल करने की प्रक्रिया विभिन्न समुदायों के बीच नहीं बनी, तो कानून से इन समस्याओं का हल सिर्फ धार्मिक-मजहबी और पंथिक राज्यों की स्थापनाओं के बाद ही सम्भव होगा।

□□

[‘राष्ट्रीय सहारा’ : 11 अक्टूबर 1991]

शुद्ध साम्प्रदायिकता के छद्म धर्मनिरपेक्ष लबादे

जब हम किसी बात को 'शुद्ध सफेद झूठ' करार देते हैं, तो तात्पर्य यही बताना होता है कि झूठ को सच बनाने की साजिश की जा रही है। हिंदी के जाने कितने कठविद्वान एक लम्बे अरसे से साम्प्रदायिकता को धर्मनिरपेक्षता के लबादों के भीतर ओझल बनाये रखने की मुहिम में उन राजनीतिक पार्टियों का हाथ बंटाते चले जा रहे हैं, जो साम्प्रदायिकता की खेती ठीक वैसे ही करते हैं, जैसे की अफीम बोई जाती है। साम्प्रदायिकता के ऊपर धर्मनिरपेक्षता के आवरण करने की इस कला (बाजी) ने ही उस सारी मुहिम को 'शुद्ध साम्प्रदायिकता' के मुकाम पर पहुंचा दिया है, जो छद्म धर्मनिरपेक्षता के लबादों के भीतर ही पनप सकती थी।

आश्चर्य कि झूठ, झूठ के रूप में नहीं, बल्कि सच के रूप में खतरनाक होता है, इतनी अच्छी तरह जानते भी हिंदी के कुछ शुद्ध सम्प्रदायवादी बुद्धिजीवी 'व्यवस्थित झूठ' से अपना कोई दूर का भी वास्ता कतई नहीं होने का सबूत 'अव्यवस्थित सच' से देने की चतुराई दिखाना चाहते हैं। शायद, उन्हें पता नहीं कि झूठ को व्यवस्थित करने की तिकड़मों से ही सच अव्यवस्थित होता चला जाता है। तब कहना होगा कि अगर व्यवस्थित (या व्यवस्थित ढंग से बोला गया) झूठ जब समाज में जड़ें जमाता चला जाता है, तो शब्दों के अर्थ उलट देता है, इतना अगर मालूम हो, तो खुद ऐसा नहीं कर रहे होने की गवाही सिर्फ इस बात से ही दी जा सकती है कि शब्दों का उल्टा-सीधा इस्तेमाल करने की चालाकी से बचा जाय; क्योंकि 'उल्टा-सीधा' इस्तेमाल भी आखिर उल्टा ही साबित होता है, सीधा नहीं। साम्प्रदायिकता तब और खतरनाक होती जाती है, जब इसे धर्मनिरपेक्षता के लबादों के भीतर से चलाया जाये। शब्दों का अर्थ उलटना, दरअसल वस्तुओं का अर्थ उलटना भी है। साम्प्रदायिकता को धर्मनिरपेक्षता की शक्ल में चलाने की इस मुहिम में हिंदी के उन तमाम बुद्धिजीवियों की एक गहरी भूमिका है, जिन्होंने साम्प्रदायिकता को धर्मनिरपेक्षता बताये जाने में कोई एतराज कतई नहीं किया। अगर अपनी अंतर्वस्तु में पूरी तरह जातिवादी और साम्प्रदायिक-धार्मिक अंग-उपागों वाला संविधान धर्मनिरपेक्ष साबित होता चला गया, तो इसमें शब्दों का अर्थ उलटने का षडयंत्र बिल्कुल मौजूद था, लेकिन इसकी ओर हिंदी के उस किसी भी अलां या फलां

तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी बुद्धिजीवी ने कभी कोई इशारा तक नहीं किया, जो आज हमें यह समझाना चाहता हो कि झूठ का व्यवस्थित होते जाना समाज के वर्तमान ही नहीं, बल्कि भविष्य के लिये भी खतरनाक होता है।

झूठ को खतरनाक मानते हुए भी उसके व्यवस्थित होते जाने के विरुद्ध कोई आवाज कतई नहीं करना भी झूठ को व्यवस्थित बनाने में हाथ बंटाना ही है। साम्प्रदायिकता के नासूर बनते चले जाने के पीछे सिर्फ राजनीति के लोगों ही नहीं, बल्कि उन तमाम कथित कठविद्वानों की भी एक भूमिका है जरूर, जिन्होंने एक ऐसे संविधान के विरुद्ध कोई आवाज कभी नहीं उठायी, जिसमें धर्मनिरपेक्षता का जिल्दसाजी के स्तर पर भी लोप मिलेगा।

इस एक बात को हमें समय रहते ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए कि साम्प्रदायिक-धार्मिक घात-प्रतिघातों को रोकने का सिर्फ और सिर्फ एक ही रास्ता है—**धर्मनिरपेक्ष राज्यव्यवस्था**। जब राज्यव्यवस्था का चरित्र ही धार्मिक-साम्प्रदायिक हो, तब समाज में साम्प्रदायिकता का जहर बढ़ेगा ही; क्योंकि साम्प्रदायिक-धार्मिक घात-प्रतिघातों पर सिर्फ वही राज्य अंकुश लगा सकता है, जो धार्मिक-साम्प्रदायिक आधारों पर शासन करने से इंकार करे। जो एक ऐसे संविधान से चले, जिसमें धार्मिक-साम्प्रदायिक रीति-रिवाजों या नियमों को राज्य के कानून बनाने का षडयंत्र नहीं किया गया हो। जिसमें धार्मिक-साम्प्रदायिक नेताओं के लिये बाकायदे संविधान में चोर-दरवाजे नहीं रखे गये हों।

धर्मनिरपेक्षता की बात उस साम्प्रदायिकता-विरोध की शुद्ध साम्प्रदायिकता को उजागर करके ही की जा सकती है, जो कांग्रेस-कम्युनिस्ट गँठजोड़ की उपज है, भाजपा की नहीं। साम्प्रदायिकता के मामले में भाजपा एक खुली किताब है। हिन्दू समाज की राजनीतिक अगुवाई, यह उसकी जरूरत भी है और सीमा भी।

भारत की मौजूदा राज्यव्यवस्था का चरित्र क्या है ? तमाम-तमाम धार्मिक-साम्प्रदायिक तथा जातिवादी नेताओं का अभयारण्य बनी हुई संसद से अगर कोई उम्मीद करे कि उससे देश को कोई ऐसी दिशा मिले, जिसमें धार्मिक-साम्प्रदायिक घात-प्रतिघातों के ठेकेदारों को कोई खुराक कतई नहीं मिलेगी, तो जाहिर है कि इसे सिवा भ्रांति के और कुछ नहीं कहा जा सकेगा। तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावाद के रंगारंग मायामृगों की भ्रांति विचरण करते हिंदी के साम्प्रदायिकताविरोध के स्वयंभू शिल्पकार बुद्धिजीवियों से यह सवाल पूछा ही जाना चाहिए कि झूठ के उस महापुंज पर इन्हें कोई एतराज आखिर क्यों नहीं हुआ, जहां से कि सारे धार्मिक-साम्प्रदायिक और जातिवादी घात-प्रतिघातों को मंच सुलभ कराये जाते हैं ?

इस सच्चाई को कोई कभी और कतई नहीं उलट पायेगा कि जब तक धर्म, सम्प्रदाय और जाति-जैसे सामाजिक-सामूहिक प्रत्यय राज्य की दखलंदाजी को खुले

रहेंगे, तब तक धार्मिक-साम्प्रदायिक अथवा जातिवादी घात-प्रतिघातों का सिलसिला भी बरकरार रहेगा जरूर। भारत की मौजूदा राज्यव्यवस्था का चरित्र बुनियादी ही नहीं, बल्कि अपने सम्पूर्ण स्वरूप में शुद्ध धार्मिक-साम्प्रदायिक तथा जातिवादी उपादानों का पुंज है। इसकी सारी चुनावप्रणाली ही धार्मिक, साम्प्रदायिक तथा जातिवादी ताने-बानों पर टिकी है। यह अपनी बनावट में ही भयावह रूप से समाजद्रोही है। इसने समाज को धर्म, सम्प्रदाय और जाति के द्वीपों में बाकायदे संवैधानिक, अर्थात् कानूनी स्तरों पर बांट दिया है। तब कहना होगा कि हिंदी के जो तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी साम्प्रदायिकता-विरोधी बुद्धिजीवी राज्यव्यवस्था के चरित्र के विरुद्ध आवाज उठाने को तैयार नहीं, उनका सारा 'अव्यवस्थित सच' उस 'व्यवस्थित झूठ' का ही उपांग-मात्र है, जिसका पुंजीकरण संविधान में देखा जा सकता है।

साम्प्रदायिकता-विरोध की सारी तान भाजपा की हिंदू साम्प्रदायिकता पर तोड़ने के नतीजे सामने विद्यमान होते भी, जो साम्प्रदायिकता-विरोधी बुद्धिजीवी अपना राग बदलने को तैयार नहीं, उन्हें कुछ बुनियादी बातें समझ लेनी चाहिए।

खुली साम्प्रदायिकता या सामुदायिकता हमेशा ढंकी-छिपी साम्प्रदायिकता से कम से कम इस अर्थ में कम खतरनाक ही होगी कि वह 'व्यवस्थित झूठ' चलाये भी, तो चलेगा नहीं। पहचान खुली रहेगी। जब कि ढंके हुए झूठ, लबादों के नीचे, व्यवस्थित होते जाने की प्रक्रिया चालू रखेंगे। इस सच्चाई से बेखबर कि झूठ हो या सच, इनमें से किसी को भी आसमान तक नहीं ढांक पाता।

बहुसंख्यकों की ही साम्प्रदायिकता को साम्प्रदायिकता मानने, या अल्पसंख्यकों की साम्प्रदायिकता को साम्प्रदायिकता नहीं मानने, के 'कामनसेंस' में साम्प्रदायिकता के निदान खोजने की परिणति जब होगी, वस्तु या स्थिति के सिर्फ एक ही पहलू को देखने-दिखाने में ही होगी। अर्थात् इस प्रक्रिया में सच अव्यवस्थित होता चला जायेगा और तब उसकी शक्ति को व्यवस्थित झूठ से अलग दिखाना संभव होगा नहीं।

'हिंदू धर्म' की बात चलाते में देखना जरूरी होगा कि हिंदू धार्मिक नहीं, बल्कि प्रजातिक तथ्य है। हिंदू होने का कोई धार्मिक विधान अपरिहार्य नहीं। हिंदू जन्म से हिंदू है। 'बपतिस्मा' या 'खतना'-जैसी किसी ऐसी धार्मिक विधि का हिंदुओं के बीच कोई अस्तित्व नहीं, जिसके बिना हिंदू होना संदिग्ध माना जा सके। इसलिए 'धर्म' की व्याख्या या परिभाषा करते में हिंदू धर्म और इस्लाम को एक ही तराजू के दो पलड़ों में रखना सिवा नासमझी के कुछ नहीं। धार्मिक विधियों-द्वारा धर्मांतरण के विधान वाले धर्मों की प्रजातिक आधार वाले धर्मप्रकारों से तुलना करते में धर्म के आध्यात्मिक तथा प्रजातिक आधारों को हाशिये पर नहीं किया जा सकता।

सवाल श्रेष्ठता का नहीं, बल्कि मूल चरित्र के निर्धारण का है। इस्लाम या ईसाइयत के धार्मिक आधार हिंदुओं के धार्मिक आधारों से बिल्कुल भिन्न हैं। हिंदू प्रजाति में शक, कुषाण और हूण-जैसे जाति-समूहों की विपुलता का बाजा बजाते

में इस 'प्रजातिक आधार' को ध्यान में रखना जरूरी होगा। मडल आयोग की सिफारिशों (अर्थात् जातिवादी साजिशों) के बाद भी राजासाहब एण्ड कम्पनी को जाति-संघर्ष के अंधड़ के बूते सत्ता के केन्द्र में पहुँचने की जगह परिधि में भी सिर्फ नाक बचाने-भर को स्थान ही मिल पाया, तो इसका मूल कारण यह प्रजातिक आधार ही है, जो कि योगेश्वर श्रीकृष्ण को मात्र जाति के आधार पर 'श्रीकृष्ण यादव' कभी नहीं बनाने देगा। भारत के इस प्रजातिक विन्यास को तोड़कर, जातिवाद के समाधान नहीं खोजे जा सकते। इस कोढ़ को व्यापक आत्मोपचार के द्वारा ही दूर किया जा सकेगा और इस आत्मोपचार को 'हिंसक सहिष्णुता' करार देने की चालाकी से बात बनेगी नहीं।

भाजपा की कमजोर नस दूसरी है। उसका 'हिंदू राष्ट्र' का नारा निराधार है; क्योंकि राष्ट्रों की कोई जाति नहीं होती। हिंदू एक प्रजातिक तथ्य है और सिर्फ हिंदू होने, या हिंदू होने-मात्र को ही राष्ट्रीयता का भी सूचक कतई नहीं माना जा सकता। राष्ट्र का एक अपना अंतर्वितान होता है। राष्ट्रीयता की कुछ शर्तें होती हैं। जाति या धर्म नहीं, बल्कि नागरिकता राष्ट्रीयता का मूल तत्व है। राष्ट्र के और हमारे बीच स्थान और संवेदना का रिश्ता है। जो स्थान से संवेदन के धरातल पर जुड़ा और गुथा हो, वह धर्म या जाति को कभी आड़े आने नहीं देगा। स्थान और रहने वालों का तादात्म्य ही, बड़े पैमाने पर, देश (राष्ट्र) और नागरिकता के बीच के सेतु निर्मित करता है।

दरअसल भाजपा की त्रासदी यह है कि उसके पास देश, राष्ट्र या राष्ट्रीयता की कोई ऐसी स्पष्ट या पारदर्शी अवधारणा अभी नहीं, जिससे वह सारी भाजपाविरोधी पार्टियों की बोलती बंद कर सके। अभी भाजपा में भी स्वयं ही एक धुंध है। भाजपा के राष्ट्रीय राजनीतिक दल के रूप में राष्ट्रव्यापी स्तर पर निर्णायक जड़ें नहीं पकड़ पाने के कारण भी उसके इस अवधारणात्मक कुहासे में ही छिपे हैं।

जहां तक धर्म के आधार पर राष्ट्र के सिद्धान्त की व्युत्पत्ति का सवाल है, यह मजहब के नाम पर, या मजहब के हिसाब से, मुल्क के जेहाद की नितांत स्वाभाविक और अपरिहार्य परिणति है और इसके लिये हिंदू कतई दोषी नहीं हैं। मुल्क को मजहब के हिसाब से देखने का सिद्धान्त मूलतः एक इस्लामी सिद्धान्त है और इसमें कोई शक नहीं कि 'हिंदू राष्ट्र' के खब्त को इसकी भौंडी नकल के सिवा और कुछ नहीं माना जा सकता; क्योंकि 'हिंदू राष्ट्र' का सिद्धान्त हिंदू चिंतन की आधारसरणियों को नेस्तनाबूद करने वाला है।

'इस्लाम अभारतीय नहीं', यह कहना भी सिवा झूठ के कुछ नहीं; क्योंकि 'भारत में इस्लाम का कोई निषेध नहीं' और 'इस्लाम अभारतीय नहीं,' ये दोनों बिल्कुल

अलग-अलग बातें हैं। जैसे कि 'उर्दू अभारतीय नहीं,' कहने का सीधा मतलब यही होगा कि उर्दू भारतीय भाषा है, जो कि सच्चाई भी है, लेकिन ठीक इसी अर्थ में फारसी भारतीय भाषा नहीं है। इस्लाम भी, ठीक इसी अर्थ में, भारतीय धर्म कतई नहीं है।

झूठ हर हाल में झूठ है। झूठ का सदुद्देश्य या झूठ में सदाशयता असम्भव है। 'इस्लाम अभारतीय नहीं' कहना भी एक शुद्ध सफेद झूठ रचना ही है। हर वस्तु का भारतीय होना जरूरी क्यों होगा? जो-कुछ भारत के अनुसार और भारत के अनुकूल ही नहीं, बल्कि 'भारत में उत्पन्न' भी हो, सिर्फ उसे ही भारतीय कहा जा सकता है, लेकिन सारी दिशाएं सिर्फ भारत तक ही सीमित नहीं हैं।

जहां तक विभिन्न शब्दसमूहों के द्वारा साम्प्रदायिकता की संरचना और विकासभूमि को समझने में मदद मिलने का सवाल है, झूठ को कैसे और कितने ही शब्द समूहों के द्वारा भी सच में नहीं बदला जा सकता। साम्प्रदायिकता के प्रतिरोध की तलाश में भटकने वाली साम्प्रदायिकताओं के संदर्भ में देखना जरूरी होगा कि बौद्धिक सम्प्रदायवाद भी साम्प्रदायिकता का ही एक हिस्सा हुआ करता है। हिंदी के क्षेत्र में ऐसे बौद्धिक कबीले भरे पड़े हैं।

कबीलाई सोच के नमूने भी सिर्फ इतिहास में ही नहीं मिलते। ये उस तथाकथित आधुनिकतावाद में भी बाकायदे सुलभ होते हैं, जो स्पुतनिकों या ग्रहों को अंतरिक्ष में छोड़े जाने को 'अर्थव्यवस्था का खगोलीकरण' सिद्ध करने की भ्रांति पर टिका हो; क्योंकि 'अभिजन' का यह वैज्ञानिक अभियान अर्थव्यवस्था का खगोलीकरण नहीं, बल्कि 'खगोल के व्यावसायीकरण' के सिद्धान्त पर टिका है।

शब्दों का अर्थ उलटने, या नष्ट नहीं होने पाये, इस व्याकुलता में खुद शब्दों को ऐसे उछालते घूमना ठीक नहीं कि राष्ट्र और राज्य के बीच का फर्क ही गायब हो जाय। राष्ट्र और राज्य, दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं, इन्हें एक वस्तु के रूप (या अर्थ) में देखना-दिखाना शब्दों में हेराफेरी करने के सिवा कुछ नहीं है। इतना ध्यान रखना जरूरी होगा कि 'अभिजन' शब्द को पूंजीपतियों (या पूंजीवादियों) के पर्याय के रूप में चलाने की चतुरता ठीक नहीं; क्योंकि यह सिर्फ गोर्बाचोव के प्रभाव को ही नहीं, बल्कि बौद्धिक छद्म को भी पुख्ता करेगा जरूर।

शब्दों में — या शब्दों की — हेराफेरी दरअसल वस्तुओं या स्थितियों में हेराफेरी का ही सबूत होती है। शब्दों को उलट-पुलट कर झूठ को व्यवस्थित बनाने, या सच को अव्यवस्थित कर देने का ही परिणाम यह होता है कि शब्द-अर्थ का विवेक ही लुप्त हो जाय। डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल-जैसा विद्वान बुद्धिजीवी जब 'असत्यप्रेमी पाखण्ड'

की बात करे, तो मानना जरूरी होगा कि पाखण्ड मूलतः सत्यप्रेमी भी हो सकता है। 'हिंसक सहिष्णुता' से भी यही सिद्ध होगा कि आखिर इससे अहिंसक असहिष्णुता के रास्ते भी खुलेंगे जरूर। तब मुस्लिम औरत को भूखा मारना सैयद शहाबुद्दीन साहब का 'सांस्कृतिक अधिकार' हो ही जायेगा; क्योंकि शरीयत भी एक 'सांस्कृतिक ग्रंथ' ही तो है। तब पूंजीवादी षडयंत्र के ही एक दस्तावेज मण्डल आयोग की रपट के विरुद्ध भी खुद पूंजीवादी शक्तियां ही एकजुट हो जाएंगी और हिंदू धर्म तथा इस्लाम, दोनों के सत्तापरक शास्त्रीय स्वरूप भी उजागर होंगे ही, लेकिन ये 'स्वरूप' सिर्फ दूसरो में नजर आयेंगे, खुद में — या अपने इर्द-गिर्द — नहीं।

राज्य के धार्मिक, साम्प्रदायिक या जातिवादी स्वरूपों पर से धर्मनिरपेक्षता के छद्म लबादे की जगह, 'अहिंसक असहिष्णुताओं' से लबालब फुल स्लोगनबाजियों के द्वारा भारतीयता की नयी पहचान करा रहे होने का दावा करते घूमना भी एक 'सत्यप्रेमी झूठ' बुनना ही है। साम्प्रदायिकता का कारगर प्रतिरोध न 'कण-कण में व्यापे हैं राम, मत भड़काओ दंगा लेकर उनका नाम' की शिगूफेबाजियों से सम्भव है और न ही 'भारतीयता की नयी पहचान — सीता और शम्बूक का सम्मान' की पेशकश से। ...क्योंकि दंगा सिर्फ राम का नाम लेने वाले ही नहीं करते और भारतीयता सीता-शम्बूक के एकतरफा उद्गानों तक ही सीमित नहीं है। जाहिर है कि सीता की डॉ० पुरुषोत्तम की समझ खोखली ही है।

देखना जरूरी होगा कि, भारत के मौजूदा दौर में, साम्प्रदायिकताओं का प्रवाह समाज से राज्य की ओर नहीं, बल्कि राज्य से समाज की तरफ है। इसलिये भारतीयता की नयी पहचान कराते में राज्य की साम्प्रदायिकता को ओझल बनाने से बचना जरूरी होगा। विविधता में एकता के प्रतीक के सिलसिले में भी देखना होगा कि इसके लिये सह-अस्तित्व जरूरी है और एक-दूसरे की अस्मिता को क्षति न पहुंचाना सह-अस्तित्व की बुनियादी शर्त। धार्मिक-साम्प्रदायिक और जातिवादी राजनीति इस शर्त को छोड़कर ही की जा सकती है — की जा रही है। धार्मिक-साम्प्रदायिक और जातिवादी आधारों पर राजनीति करना समान रूप में साम्प्रदायिक जातिवादी राजनीतिक पार्टियों के बीच तो सह-अस्तित्व की जमीन जरूर तैयार करता है, लेकिन समाज को दोफाड़ कर देता है। इसलिये साम्प्रदायिकता-विरोध की मुहिमों के रुख को जब तक सीधे-सीधे धार्मिक-साम्प्रदायिक और जातिवादी राज्यव्यवस्था की ओर नहीं मोड़ा जायेगा, राष्ट्र या राष्ट्रीयता अथवा भारतीयता की सारी तथाकथित शास्त्रीय अवधारणाएं सिवा बौद्धिक छद्म के और कुछ सिद्ध होंगी नहीं।

साम्प्रदायिकता-विरोध की उन सारी मुहिमों का लाभ अंततः भाजपा को ही मिलेगा, जो भारतीयता की नयी पहचान कराते-कराते चल रहे होने के मुगालतों से परिचालित हो रही हों; क्योंकि धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक बहस के क्षेत्र में ऐसी सतही स्लोगनबाजियों की कोई प्रासंगिकता कतई नहीं होती, जिनमें शब्दों

को उलट-पुलट कर अव्यवस्थित सच को व्यवस्थित झूठ से बेहतर सिद्ध करने का इतमीनान बोल रहा हो।

साम्प्रदायिकता के निराकरण के लिये हर हाल में धर्म, जाति और सम्प्रदायनिरपेक्ष राज्य की दिशा में ही जाना होगा। साम्प्रदायिकता के प्रसार के कारणों को मौजूदा राज्यव्यवस्था के ढांचे में ही खोजा जा सकता है; क्योंकि साम्प्रदायिकता के विस्फोट के सारे तार वहीं मौजूद हैं। सारी साम्प्रदायिकताओं को संवैधानिक-राजनीतिक संरक्षण भी यहीं से प्राप्त होता है।

□□

[‘राष्ट्रीय सहारा’ : 15 सितम्बर 1991]

धर्मनिरपेक्षता बनाम पंथनिरपेक्षता

तथाकथित धर्मनिरपेक्षता की चिदियां उड़ जाने के कारण ही कांग्रेस सरकार को अब यह चिन्ता सताने लगी कि इसकी जगह कोई दूसरा शब्द चलाया जाना चाहिए, लेकिन सिर्फ शब्द बदल देने से कुछ नहीं होता, अगर कि चरित्र, या कि अतर्वस्तु, नहीं बदले। किसी व्यक्ति का चरित्र अगर डाकू का हो, तो उसका नाम रामसिंह की जगह श्यामसिंह रख देने से क्या होगा? पाखण्ड नाम बदल देने से और ज्यादा उजागर ही होता है, छिपता नहीं; क्योंकि तब यह साफ दिखाई दे जाता है कि सचाई को छिपाने के लिए ही 'नया झूठ' रचा जा रहा है।

'धर्मनिरपेक्षता' के बदले 'पंथनिरपेक्षता' चलाने की तुक क्या होगी? यदि 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द गलत, अप्रासंगिक या असंवैधानिक हो गया हो, तो 'पंथनिरपेक्षता' के प्रासंगिक और संवैधानिक होने के आधार क्या होंगे? जबकि दोनों का तात्पर्य एक है। भारतीय सदर्भ में धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य भी सिर्फ वही हो सकता है, जो पंथनिरपेक्षता का, अगर कि आप सिख, जैन और बौद्ध आदि के प्रसंग में धर्म की भी बात जरूर करें। कितने आश्चर्य की बात है कि इस सचाई को स्वीकार करने से सरकार हमेशा बच निकलना चाहती है कि भारत में धर्मनिरपेक्षता या पंथनिरपेक्षता शब्द की प्रासंगिकता सिर्फ राज्य के ही सदर्भ में हो सकती है और राज्य के धर्मनिरपेक्ष या पंथनिरपेक्ष होने को जरूरी है कि वह धार्मिक या पंथिक आधारों पर शासन किये जाने से इंकार करता हो।

जिस 'सेक्यूलर' शब्द की नकल में हमारे संविधान में 'धर्म निरपेक्ष' शब्द को चलाया गया, वह खुद इसी अर्थ में चर्चा में आया था। पोप के निर्देशों के अनुसार शासन करने, या कहें कि राज्य व्यवस्था में पोप की दखलंदाजी को रोकने के लिए ही इटली के संविधान में 'सेक्यूलर' शब्द को जोड़ा गया, लेकिन वहां ऐसा कतई नहीं किया गया कि 'पर्सनल लॉ' की शक्ति में धार्मिक रीति-रिवाजों को कानून की हैसियत दी गयी हो। जबकि 'भारतीय संविधान' में सारे धार्मिक—पंथिक सम्प्रदायों के रीति-रिवाज और नियमों को निजी कानूनों की शक्ति में शामिल किया, और इस तथ्य को सिरे से अनदेखा कर दिया गया कि धार्मिक नियमों को कानून का रूप देना ही राज्य के धर्म और धर्म के राज्य व्यवस्था में हस्तक्षेप के चोरदरवाजे खोलना है।

इटली में 'सेक्यूलर' शब्द की जरूरत पड़ी, तो इसलिए कि वहां शासनव्यवस्था में पोप की दखलंदाजी बढ़ती जा रही है। भारतवर्ष का तो पूरा इतिहास ही धर्म निरपेक्ष राज्य व्यवस्था का रहा है। हमारे यहां धर्माचार्यों का कोई हस्तक्षेप कानून व्यवस्था में रहा ही नहीं। राजाओं के सामने दायित्व हमेशा राज्यधर्म के पालन का ही रहा, धर्म के अनुसार राज्य व्यवस्था को चलाने का नहीं; क्योंकि 'हिन्दू धर्म'-जैसी कोई वस्तु कभी एक ठोस आकार ले ही नहीं पाई। हमारे मूलग्रंथ वेद हैं और वो शुद्ध आध्यात्मिक-वैचारिक ग्रंथ है। हमारे यहां तो ईश्वर को भी आत्मा का विषय ही माना गया। हम चाहें, तो ईश्वर को मानें और चाहे नहीं मानें, यह हमारे निर्णय का प्रश्न ही बना रहा। हमें अगर ईश्वर के होने की प्रतीति नहीं, तो यह किसी हिन्दू धर्माचार्य के वश की बात नहीं कि वह हमें ईश्वर पर आस्था प्रकट करने को बाध्य कर सके। अध्यात्म, अर्थात् आत्मा की स्वाधीनता, के सिद्धान्त ने हमारे यहां उस धार्मिक कठपंथिता को जड़ पकड़ने ही नहीं दिया, जो 'ईमान लाओ' के तर्क को हम पर थोप सके।

उर्दू के विद्वान डॉ. मुहम्मद इफरान के अनुसार कुरान में 'काफिर' शब्द का प्रयोग हिन्दुओं के लिए नहीं, बल्कि सिर्फ उन लोगों के लिए किया गया है, जो कि खुदा या ईश्वर, अर्थात् किसी परम सत्ता पर विश्वास नहीं करते। इस बात का उनके पास कोई उत्तर नहीं था कि ऐसी स्थिति में कम से कम वो लोग तो काफिरों की श्रेणी में आ ही जायेंगे, जो कि ईश्वर को नहीं मानते ?

भारत के मामलों को भारतीय संदर्भों में नहीं देखने की मूढ़ता ने ही धर्म-निरपेक्षता के बारे में भी आज तक धुंध ही बनाये रखी है, अन्यथा भारत ही विश्व का एकमात्र देश है, जहां धर्मनिरपेक्ष राज्य की एक लम्बी परम्परा रही है। धर्म को हमारे यहां राज्य का विषय माना ही नहीं गया। उसे धार्मिक कानूनों की छूट दी ही नहीं गयी। धर्म समाज की वस्तु बना रहा। उपासना-पद्धतियां राज्य के तय करने की वस्तु नहीं हुआ करती हैं, यह विवेक यहां सदैव बना रहा और, जैसा कि पहले ही कहा—आत्मा की स्वाधीनता के सिद्धान्त ने धर्म के किसी ऐसे रूप को आकार लेने ही नहीं दिया, जिसे ठीक उसी अर्थ, या वजन, में 'हिन्दू धर्म' कहा जा सके, जिस रूप में हम ईसाइयत या इस्लाम अथवा सिख या बौद्ध अथवा जैन धर्म की बात करते हैं।

आखिर क्या कारण है कि हिन्दुओं में दूसरों के धर्मान्तरण की प्रवृत्ति पनप ही नहीं पाई ? हिन्दू धर्म-जैसी कोई कठरपंथिता होती, तो धर्मान्तरण का सिद्धान्त भी जन्म लेता जरूर। अपने-अपने धर्म और पंथ को सभी स्वाधीन हैं—ईश्वर को मानने या नहीं मानने को भी—इस परम वैचारिक आत्मिक उदारता ने ही हिन्दू चिन्तन को एक विराट वटवृक्ष बना दिया। सिख, बौद्ध, जैन, आर्य समाज या सनातन धर्म आदि एक इसी वटवृक्ष की विभिन्न शाखाएं हैं। इन सारे धार्मिक पंथों की मूल जड़ें वैदिक

औपनिषदिक चिंतन में ही रही हैं। इस अर्थ में हिन्दू धर्म की इस्लाम या ईसाइयत से तुलना ही नहीं की जा सकती; क्योंकि इनके मूल आधारों में ही बहुत गहरा अंतर है। जो विद्वानगण यह स्थापना देते नहीं अघाते कि सभी धर्मों के मूल तत्व एक हैं, उन्हें भूलना नहीं चाहिए कि हिन्दू चिंतन, बाकी सबसे, तात्त्विक रूप में ही पूरी तरह भिन्न है और इसीलिए आज भी कोई धार्मिक चिह्न या आधार ऐसा नहीं, जो किसी हिन्दू के हिन्दू होने, या हिन्दू नहीं होने को तय कर सके।

ऐसा सिर्फ हिन्दू चिंतन में ही संभव है। किसी भी अन्य धर्म, यहां तक कि राजनैतिक विचार-धाराओं में भी, आत्मा की स्वाधीनता का प्रावधान है ही नहीं। पूंजीवादी लोकतंत्रों में भी कानून के आधार पर अभिव्यक्ति की स्वाधीनता के तर्क को मान्यता प्राप्त है, धर्म के नहीं। आत्मा की स्वाधीनता के तर्क को सिर्फ हिन्दू चिंतन में ही मान्यता प्राप्त है। अध्यात्म के लिए न ईसाइयत में कोई रास्ता है और न ही इस्लाम में। वहां आध्यात्मिकता की अवधारणा ही नहीं है।

हिन्दुओं के पराभव और अधःपतन, वैचारिक सामाजिक रक्षा का भी एक लम्बा इतिहास है, लेकिन अध्यात्म की वैसी पृष्ठभूमि अन्य किसी के पास नहीं, जो राज्य को धर्म के हस्तक्षेप की छूट नहीं दे। वैदिक पृष्ठभूमि के कारण ही हिन्दुओं में धर्मांतरण की प्रवृत्ति नहीं पनप पाई, अन्यथा ईसाइयत और इस्लाम की ही भांति, हिन्दू धार्मिक राज्यों का विस्तार भी बिल्कुल सम्भव था। हिन्दुओं ने चक्रवर्ती सम्राटों के दौर में भी धर्म को राज्य का विषय कभी नहीं माना। यहां से यदि धर्म भी बाहर गया, तो सिर्फ धर्म के स्तर पर ही गया, धार्मिक साम्राज्यवाद के रूप में नहीं।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि धार्मिक-सामुदायिक सहअस्तित्व के जो दृष्टान्त भारत ने दिये हैं, विश्व में अन्य किसी ने नहीं। विभिन्न धर्म, पंथ और जातियों के सहअस्तित्व ने ही यहां उस सामाजिक सहअस्तित्व को संभव बनाया, जिसके हिन्दू और मुसलमान दोनों बेमिसाल मिसाल हैं। मुसलमान चीन और रूस आदि मुल्कों में भी गये थे और हैं, लेकिन साझा संस्कृति का उदाहरण कहीं कायम नहीं कर सके। इण्डोनेशिया में भी राम के आधार पर ही सांस्कृतिक साझा सम्भव हो पाया। भारत की इस परम्परागत पृष्ठभूमि की गहराइयों को समझे बिना धर्मनिरपेक्षता या पंथनिरपेक्षता की बहस अधूरी ही रहेगी।

मुसलमान शासक भी यहां की धर्मनिरपेक्ष राज्य की परम्परा को तोड़ नहीं पाये, तो इसीलिए कि देश हिन्दूबहुल था। फिर यहां शरीयत के आधार पर शासन की बात हंगामे खड़े कर देती। औरंगजेब ने यह हिमाकत खुलकर की थी — हिन्दुओं पर जजिया और जिम्मी लगाकर। परिणाम सभी जानते हैं। इसलिए इतना तो साफ-साफ कहा जा सकता है कि भारत में धार्मिक-साम्प्रदायिक राज्य की वास्तविक शुरूआत का सारा श्रेय कांग्रेस को ही जाता है। भारतीय संविधान के रूप में धार्मिक-साम्प्रदायिक कानूनों के आधार पर राजनीति और शासन की नींव यहीं से पड़ी। आज के साम्प्रदायिक

हंगामो की सारी जड़ें इसी संविधान में मौजूद मिलेंगी।

जो नियम शरीयत, ईसाइयत और हिन्दू धर्म आदि में शुद्ध धार्मिक रीति-रिवाज और नियमों के रूप में थे, वो 'भारतीय संविधान' में धार्मिक की जगह निजी (पर्सनल) किस चमत्कार से बन गये ? स्पष्ट है कि निजी कानूनों के आवरण में संविधान में शामिल किये गये सारे धार्मिक नियम कानूनों की हैसियत ही रखते हैं और जब तक ये इसी शक्ल में भारतीय संविधान में मौजूद रहेंगे, तब तक भारत की राजनीति और राज्य व्यवस्था, दोनों का स्वरूप धार्मिक-साम्प्रदायिक ही बना रहेगा। इस वास्तविकता को धर्मनिरपेक्षता के बदले पंथनिरपेक्षता के प्रचलन से हर्गिज नहीं दबाया जा सकेगा; क्योंकि भारत में कोई पंथनिरपेक्षता की बात करना ही चाहे तो कहना जरूरी होगा कि पंथ से हमारा क्या और किससे तात्पर्य है ? यह भी कि पंथनिरपेक्षता की हमारी अवधारणा क्या है और धर्मनिरपेक्षता के मामले में यह हमारे आड़े कहा आ रही है ? खुद ही धार्मिक-साम्प्रदायिक कानून बनाना, व इन्हें शासन में चलाना और खुद ही धर्मनिरपेक्षता और पंथनिरपेक्षता की बातें भी करना, आखिर इस पाखण्ड का तर्क क्या है ? सिवा इसके कि देश को मूर्खों का डेरा मान लिया जाए ?

लोकतंत्र का मतलब ही धर्म-जाति-निरपेक्ष राज्यव्यवस्था होता है, इसलिए संविधान में धर्मनिरपेक्ष-पंथनिरपेक्ष विशेषण जोड़ने की जरूरत नहीं। इसके लिए सिर्फ इतना ही करना आवश्यक है कि संविधान में से तमाम धार्मिक-सांप्रदायिक और जातिवादी कानूनों को निकाल बाहर किया जाए। क्या इसके लिए केन्द्र सरकार तैयार है ? और अगर नहीं, तो इस धर्मनिरपेक्षता और पंथनिरपेक्षता की नौटंकी को दो अलग-अलग नामों से क्यों चलाना चाहती है सरकार ? प्रधानमंत्री राव साहब का यह कहना कि हमें धर्मनिरपेक्षता की नहीं, बल्कि पंथनिरपेक्षता की बात करनी चाहिये — यह ठीक वैसा ही है, जैसे कि कोई आकाश की जगह आसमान की बात करने को कहे।

□ □

[‘दैनिक जागरण’: 1991]

पहलकदमी नहीं, चहलकदमी

राजा साहब का सत्ताकेन्द्र से पगहा तुड़ाकर बाहर निकलना, राजनीति के क्षितिज में फिर एक बवण्डर का उगना हो गया है। मोहल्ला, गली-बाजारों से लेकर गांवों-कस्बों और ड्राइगरूमों से लेकर चाय-पान की गुमटियों ही नहीं, फुटपाथ से लेकर फाइवस्टार होटलों तक इस बवण्डर की धूल फाँकी जा रही है। सनसनी की राजनीति के स्नायुरोगियों को फिर 'सुबह और शाम, एक तेरा नाम' का संकीर्तन प्राप्त हो गया और देश के लाखों लोगों के भीतर फिर से राजनैतिक विकल्प के कुकुरमुत्तों की फसल तैयार होने लगी है।

सत्ता की राजनीति के 52 पत्ते फेंटने वालों में अटकलबाजी जोर पर है कि इस राजनैतिक बवण्डर की नियति क्या है ?

1947 के बाद, या कह लें कि 1974 के साथ, हम लोग बवण्डरों के आदी होते गये। गुजरात, बिहार के छात्र तथा सम्पूर्ण क्रांति आंदोलनों ने इतना संकेत बिलकुल दे दिया था कि लोग कांग्रेसी हुकूमत के कूटनीतिक शिगूफों और बहकावों के बावजूद गुस्से और असन्तोष की एक समानान्तर दुनिया में आवाजाही कायम कर चुके हैं। सवाल सिर्फ आक्रोश को दिशा मिलने का बाकी है। आरक्षण की बन्दरबांट, देश को दिल्ली सल्तनत के सूबों की शक्ति में तोड़े तथा जोड़े रखने के लिये भाषावार प्रान्तों की रचना और राष्ट्र की अखण्डता-एकात्मता के गगनभेदी नारों के नेपथ्य में वंशानुगत सत्तासाम्राज्य की व्यूहरचना के तहत समाज की जगह, सत्ताकेन्द्र से प्रतिबद्ध लोकसभा का गठन—जनता की सम्प्रभुता वाले 'लोकतंत्रात्मक गणराज्य' के मुखौटे के पीछे की इन हकीकतों को संचार-प्रचार माध्यमों से हमेशा, या पूरी तरह, ओझल नहीं रखा जा सकता, इतना अभिज्ञान हुकूमत चलाने वालों को बिलकुल था।

वो जानते थे कि लोकतंत्र को खानदानी या अधिनायकी हुकूमत में बदलने के लक्षण और परिणाम, दोनों इतने स्पष्ट और उजागर होते हैं कि पूरे देश को धोखे में रखना असम्भव है। उन्हें साफ दिखाई पड़ रहा था कि 1974 ने हमें नंगा करना शुरू कर दिया है। यह आंधी हमारे सारे ऊपरी लबादों को उलटा छोड़ेगी।

यहां, प्रसंग भिन्न होने से, हम आरक्षणविरोधी आन्दोलनों के आखिर

लोकनायक की तथाकथित सम्पूर्ण क्रांति की आंधी में अन्तर्लयित हो जाने तथा इसकी प्रतिक्रिया में कांग्रेसी हुकूमत के भीतरी चरित्र के विस्फोट के फलस्वरूप पूरे देश को आपातस्थिति के काले कानून के हवाले कर दिये जाने की लम्बी कहानी में नहीं जायेंगे। यहां जनता पार्टी के 'डरो मत, अभी हम जिन्दा हैं !' के अभयदानी राजनीतिक शिगूफों और 'रिंहासन खाली करो कि जनता आती है !' के गगनभेदी नारों से वायुमण्डल को बेधते आन्दोलनकारियों का भी जिक्र सिर्फ इसलिए कि 1974 से सनसनीबाज राजनीति और सनसनीखेज पत्रकारिता, दोनों का गठबन्धन कैसे अस्तित्व में आया और कैसे दिन दूना, रात चौगुना बढ़ता लोगों को मानसिक-वैचारिक उत्तेजनाओं का रोगी बनाता गया।

समकालीन भारतीय राजनीति पर गहराई में उतरकर झांकने वालों को इतना साफ दिख जायेगा कि 1977 के बाद माफिया राजनीति का दबाव निरन्तर बढ़ता गया है, जिसने राजनैतिक हैसियत बनाने की प्रक्रिया को सामाजिक आन्दोलनों के लम्बे रास्ते से मुक्त कर दिया है। अब विधायक, सांसद या मंत्री बनने के लिये लम्बी राजनीतिक-सामाजिक पृष्ठभूमि का सवाल राजनीति के इतिहास के तलघर में दफन हो चुका। शुद्ध वंशानुगत प्रक्रिया से सीधे पार्टीशिखर पर स्थापित होने वाले विलायत-पलट राजपुत्रों ने राजनीति में सामाजिक आन्दोलनों के नैतिक सवाल को अतीत की वस्तु बना दिया है। अब 'तुरन्ता राजनीति' का दौर है।

भ्रष्टाचारियों का मुंह फाड़े मगरमच्छों की तरह किनारे पर की धूप में निर्द्वन्द्व विचरण, रक्षासौदों में घूसखोरी तक को 'ताम्बूल मुखभूषण' के मुकाम तक पहुंचा चुका है। 'राजीव के खिलने को कुत्सा जरूरी है' के तर्क ने कीचड़ को कमल की खेती का अपरिहार्य तत्व घोषित कर दिया है। ऐसे में तुरन्ता तख्तापलट की जगह जनजागरण की लम्बी योजना बनाने, और ऊंची बस्ती के लोगों के भ्रष्टाचार के विरुद्ध पुंगी बजाने, का संकल्प लेकर सत्ताकेन्द्र से नाल काटकर, अपनी राजनीतिक नियति में लिलीपुट के बौनों की हैसियत रखने वाले सामान्य लोगों के बीच चक्कर काटते राजा साहब की तरफ ध्यान आकर्षित होना बिल्कुल स्वाभाविक है। सवाल है सिर्फ यह कि भारत की राजीव (कमल) को अपरिहार्य कीचड़ की राजनीति के चरम दौर में अचानक ही नैतिक मूल्यों की राजनैतिक डफली बजाते घूमने को कृतसंकल्प इस राजनैतिक बंजारे की कुण्डली क्या बोल रही है ?

आदमी का जिया कहीं अन्यत्र नहीं जाता, उसमें ही इकट्ठा होता रहता है और समय आने पर साथ चलता साफ दिखाई पड़ता है, छाया की तरह ! राजा साहब के व्यतीत का पोथी-पत्रा खोलने में लगे हैं लोग, तो इसमें कुछ रोकटोक क्यों हो ?

कल तक हुकूमत के हर काले-सफेद में शामिल और राजीव गांधी की स्तुति में निमग्न राजा साहब की नाल अभी भी पूरी तरह सूखी नहीं है। उनके भाषणों में द्विअर्थी संवादों की संख्या अभी भी कम नहीं। ऐसे में उनसे कुछ जनजागरण अभियान की क्रांतिकारी अपेक्षाएँ जारी रखना खुद को धोखा देना, या बिना यक्षप्रश्नों का उत्तर दिये ही 'गन्धर्व सरोवर' से पानी लेने की जिद करना होगा। परिणाम दोनों के ठीक नहीं होंगे।

राजा साहब का इरादा क्या है ? उनकी आवाज में नाभिमण्डल तक की अनुगूँज है कि नहीं ? उन्हें कुछ यह चेतना है भी या नहीं कि जिस जनारण्य में वो भीतर तक प्रवेश करने की आकांक्षा घोषित कर रहे हैं, वहाँ पहुँचते-पहुँचते राम तक को चौदह वर्ष लग गये। राम की छोड़िये, महात्मा गांधी को लीजिये। गांधी को साबरमती आश्रम तक पहुँचने में जितना वक्त लग गया, इससे कहीं अल्पकाल में ही राजीव गांधी 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' के सत्ताशिखर पर विराजमान हो गये।

यह प्रसंग हमने सिर्फ इस दृष्टान्त को उठाया है कि वित्तमंत्री तक का रास्ता राजीव गांधी की राजनीति का रास्ता था, लेकिन अब देश की जनता के नैतिक पुनर्जागरण का पंथ महात्मा गांधी की लाठी मांगेगा।

महात्मा गांधी का जो काम भारत के इतिहास में सदैव आभा विखेरता रहेगा, वह है, देश की जनता में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अदम्य आक्रोश तथा स्वाधीनता की चेतना जगा देना। 1947 के बाद देश की जनता की स्वाधीनता की चेतना का निरन्तर दमन किया और उसे अपसंस्कृति के मकड़जालों से जकड़ दिया गया। आज देश की जनता का केन्द्रीय सवाल उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्वाधीनता का सवाल है। इस सवाल को सिर्फ राजीव गांधी को सिंहासन से हटाने का सवाल बनाना, जनता को दिग्भ्रमित करने को नाना भ्रांति के मायामृगों को समाज में विचरण करने हेतु छोड़ना है।

माना कि जनता की स्वाधीनता के सवाल को कुचलने के लिये ऐसे लोगों को राजनीति के केन्द्र में ले आया गया, जिन्होंने नैतिक मूल्यों और सिद्धान्तों के सवाल को राजनीति के लिये निहायत फालतू सिद्ध करके दिखा दिया, लेकिन राजा साहब का दावा सत्ता नहीं, समाज की राजनीति करने का है, तो उन्हें समाज को जवाब देना सीखना होगा और समाज के सवालों का जबाव सिर्फ वही दे सकता है, जिसे समाज के बीच लाठी लेकर चलना आता हो।

कबीर से लेकर मोहनदास कर्मचन्द गांधी तक, समाज की अलख जगाने का काम लाठी ठकठकाते चलने का काम रहता आया है। राजा साहब के पास अभी

लाठी नहीं है। 'राजा नहीं, फकीर है, भारत की तकदीर है !' की डफली बजाने वाले लोग राजा साहब को स्वयं की लाठी से चलने की छूट नहीं देंगे। इर्द-गिर्द का जमावड़ा उनकी जबावदेही को सीमित कर देगा और राजा साहब को इस दबाव में बनाये रखेगा कि वो सवालों का जबाव देते में उनके निहित स्वार्थों को नजरअन्दाज करने की गलती नहीं करें !

जिसकी जबावदेही सीमित हो, उसका चरित्र बड़ा कभी नहीं हो पाता। समाज के सवालों का जबाव सिर्फ वही दे सकता है, जिसमें समाज के चरित्र की अवधारणा बोलती हो। जिसमें समाज अपनी अन्तरात्मा को आर-से-पार तक प्रतिबिम्बित होते देख सके। राजा साहब में अभी जनता की अन्तरात्मा में घुमड़ते सवालों का जबाव दे सकने की चिंता की जगह, अपना हुलिया बनाये रखने की सावधानी ज्यादा दिखाई पड़ती है। उन्हें कौन बताये कि चारों तरफ झांक लेने के बाद जवाब देने की सतर्कता, जवाब की विश्वसनीयता को नष्ट कर देती है।

जनता, नियति का सवाल आ खड़ा होने पर, खुद के सवाल के कटघरे में ऐसे व्यक्ति को देखना चाहती है, जिसका जबाव उसके कानों के पर्दों से चिपके जालों को साफ कर सके। जिसकी आवाज उसकी नाभि तक उतर सके। राजा साहब अभी जो स्वरमण्डल उत्पन्न कर रहे हैं, इसका गले से नीचे तक उतरना मुश्किल है।

राजा साहब को इतना ध्यान रखते चलना जरूरी होगा कि आज नहीं तो कल, कल नहीं, तो परसों, कभी न कभी स्वरमण्डल को जांचने वाले भी मिलेंगे जरूर और तब 'रावण रथी, विरथ रघुवीरा' का तर्क उपस्थित करते में, इस का जबाव भी जरूरी होगा कि उनके साथ चलते काफिलों में पैठे लोग कौन हैं ?

जब राजा साहब अब दुबारा कांग्रेस में नहीं लौटने की घोषणा करने पर आ गये हैं, तो ये अभी कांग्रेस की मृगछाला धारण किये लोग ही उनकी अहर्निश सेवा में क्यों जुटे हैं ? क्या है कांग्रेसी हकूमत की वह हकीकत, जिसे राजा साहब स्वयं तो देख और समझ चुके, लेकिन हमें समझाने से इंकार कर रहे हैं ? फेयरफैक्स, बोफोर्स और काले धन से चुनाव की राजनीति के वो कौन-से सोपान हैं, जिसकी तरफ अब पलटकर देखते भी झुरझुरी छूटने लगी है राजा साहब को ? नेपथ्य में से बाहर निकला हुआ व्यक्ति यदि बार-बार सिर्फ इतना ही बताये कि पर्दों के पार अभी जाने कैसे रहस्य छिपे पड़े हैं, तो यह प्रकारान्तर से सिर्फ खुद के मतलब-भर बताना हुआ और जितने से मजमा जुटाया जा सके, इतना तो पेशेवर बाजीगर भी बताता जरूर है।

आगे-पीछे राजा साहब को बताना तो जरूर होगा; क्योंकि भारतीय जनता नाम की चीज सचमुच का बीहड़ जंगल है। यहाँ एक नहीं, अनेक मुकाम ऐसे पड़ने ही हैं, जहाँ बताये बिना आगे एक पग आगे निकलना सम्भव नहीं; क्योंकि इस महारण्य में

‘मैं अयोध्या के राजा दशरथ का पुत्र राम हूँ।’ कहने से ही काम नहीं चलता — वैसा ही कर्म से भी सिद्ध करना होता है।

हर देश और हर काल की जनता बहुत ही चलती चीज हुआ करती है। सनसनीबाज राजनीति और सनसनीखेज पत्रकारिता के करिश्मों की चमकार पर बरसाती भृंग-पतिंगों की तरह उमड़ पड़ने वाली जनता के पार भी एक जनता है और उसे आप सिर्फ इस नुस्खे से ज्यादा देर (या दूर) तक छलावे में नहीं रख सकते कि — ‘सितारों के आगे जहां और भी हैं।’...क्योंकि इस गले की सतह पर से नाभिकुण्ड तक के स्वरमण्डल को जांचने में विश्वास रखने वाली जनता का पहला ही सवाल होना है यह कि — इतना तो हम भी जानते हैं, तुम तो यह बताओ कि तुमने क्या-क्या देखा ?

राजा साहब को भी आखिर यह बताना ही होगा कि उन्होंने और क्या-क्या देखा है। देखा भी है कि नहीं। तब या तो पूरा सच बताना, या यह स्वीकार करना होगा कि इसके आगे उन्हें खुद भी कुछ नहीं मालूम। तब उन्हें यह भी मानना होगा कि उनकी राजनैतिक हैसियत डेढ़ गांठ के पंसारी से ज्यादा कुछ नहीं। यह भी कि ज्यादा कुछ नहीं जानने के बावजूद, बहुत-कुछ जानते होने का भ्रमजाल रचना धोखा देना है। जो आधा सच बताता है, तय है कि आधा झूठ बताता है।..और अर्द्धसत्यों का धंधा नैतिक मूल्यों की तापसयात्रा में चलाना ठीक नहीं।

राजा साहब की नीयत क्या है ? अगर नीयत जनता का नैतिक पुनर्जागरण ही हो, तब भी इन सवालों का जबाब जरूरी होगा, जो सिर्फ राजीव गांधी के वफादारों की चाटुजिह्वा से ही नहीं फूट रहे, बल्कि महात्मा गांधी के इतिहास को जानने वाले लोगों के भीतर भी घुमड़ रहे हैं। हमें कुछ शंका इससे है कि व्यक्ति के रूप में प्रधानमंत्री मिस्टर क्लीन से ज्यादा साफ-शफ्फाक और नैतिक संघर्ष के लिये सत्ता का मोह त्यागने में समर्थ होने के बावजूद, राजा साहब का वैचारिक कद निहायत बौना है। भारत-जैसे विशाल देश की भ्रष्टाचार के चरम पर पहुंची राजनीति में किसी वास्तविक क्रांतिकारी परिवर्तन की पहल के लिये सिर्फ आर्थिक ईमानदारी ही नहीं, बल्कि वैसी दृष्टि भी जरूरी है, जो विकल्प की राष्ट्रीय नीति का न सिर्फ यह कि रूपशिल्प और आत्मा की सही-सही अवधारणा, बल्कि वैसी ही रण तथा कार्यनीति का सूत्रसंचालन कर सके। राजा साहब में इतना दम नहीं है।

देश की व्यवस्था को सत्ताकेन्द्र नहीं, बल्कि वास्तव में राष्ट्र की सम्पूर्ण जनता के हित में संकल्पित, निरूपित तथा कार्यान्वित किये जाने की मुहिम ही राष्ट्रीयता और सामाजिक-आर्थिक मुक्ति के संघर्ष को पुनः उसी मुकाम पर पहुंचा सकती है, जहां हमारा स्वाधीनता संग्राम 1942 से 1946 के दौर में था। वहीं पर भारत का

अगभंग और आधी-अधूरी राजनैतिक आजादी का सौदा हुआ था। भारत की जनता की स्वाधीनता का सवाल आज भी वहीं रुका पड़ा है। राजा साहब जब कांग्रेस के संस्थागत स्वरूप के भ्रष्टाचार में आपाद-मस्तक सने होने का सवाल उठा रहे हैं, तब उन्हें यह भी जवाब देना जरूरी होगा कि व्यवस्था में आधारभूत परिवर्तन की जगह, सिर्फ ऊंची बस्ती के लोगों के भ्रष्टाचार का मुद्दा हवा में लहराने से क्या होगा ?

भ्रष्टाचार के जिस मुद्दे को राजा साहब अपने जनजागरण अभियान या जन-मोर्चा सगठन का केन्द्रीय आधार घोषित कर रहे हैं, वह कोई अलग से स्वतःसम्पूर्ण राष्ट्रीय मुद्दा नहीं है। बिना व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन के ही भ्रष्टाचार के विरुद्ध अभियान चलाना, भूत को कायम रखते हुए, उसके दाढ़ में फंसी हड्डियों को बाहर खींचने की नौटंकी खड़ी करना है।

भारत की जनता नौटंकी की बहुत दीवानी है, लेकिन इस दीवानेपन की भी एक हद है। कैसी-भी चमाचम नौटंकी को अपनी खेती-मजदूरी-रोजी-रोटी और स्वाधीनता के सवालों से बढ़ करके देखने में उसका विश्वास कतई नहीं है। अपनी इस भीतरी चौकसी के चलते वह, देर से ही सही, स्वयं की नियति से खेलनेवालों को चुनौती उपस्थित करती जरूर है। भारत का आम आदमी कहीं-न-कहीं अपनी नीयत में बहुत ही साफ आदमी है और नीयत का साफ आदमी ही उसकी अन्तरात्मा को दूर तक आन्दोलित कर सकता है।

जनता को बरगलाना आसान है, प्रेरित करना कठिन। साम्प्रदायिक दंगे या फिल्मी सितारों की दीवानगी में नंगानाच दिखाने वाले लोग ही भारत की सम्पूर्ण जनता नहीं हैं। भारतीय जनसमाज की सिर्फ उथली सतहें ही नहीं, बहुत गहरी परतें भी हैं और यहां एक इलाका ऐसा भी पड़ता है, जहाँ साधनों से प्रवेश सम्भव नहीं। इस कठिन भूमि में अत्यन्त कोमल पद ही चल पाते हैं। नैतिक मूल्यों की याकि राष्ट्रीय राजनीति करने को भारतीय जनसमाज की यह समझ जरूरी है।

दरअसल राजा साहब के प्रति इतने गहरे सम्मान का भी कारण यही है कि एक लम्बी मुद्दत के बाद देश की जनता को सत्ता के केन्द्र में स्थापित राजनेता का आत्मत्याग न सही, लेकिन पदत्याग देखने का अवसर मिला है। सामान्य-से-सामान्य अंत्री-मंत्री पदों के लिये तक चाटुकारिता और गुण्डा राजनीति की किसी भी हद तक जाने को तैयार लोगों के बीच केन्द्र के वित्तमंत्री पद को तृणवत त्याग देने वाले व्यक्ति के प्रति जनता का स्वागत और उल्लास न सिर्फ यह कि स्वाभाविक, बल्कि उसके हित और नियति का अत्यन्त ही गम्भीर सवाल है। राजा साहब का उन्मुक्त अभिनन्दन करके भारत की जनता ने फिर अपनी भीतरी आकांक्षाओं का सबूत दिया है। सत्ता के लोभ-मोह को राष्ट्रहित में त्यागने वालों को व्यापक समर्थन देकर ही देश की जनता नैतिकता की राजनीति को एक मजबूत जनाधार दे सकती है, लेकिन राजा साहब का

रास्ता अभी बहुत लंबा है और उतना ही कठिन। इसे पार करने को 'सौरज धीरज तेहि रथ चाका' के नैतिक बल की जरूरत होगी।

भारत-जैसे-भूगोल-खगोल ही नहीं, बल्कि इतिहास में भी विशाल देश के लिये 1977 का 1987 तक पहुंचना इतनी बड़ी कालावधि नहीं कि काठ की हांडी का दुबारा चूल्हे पर चढ़ना आसान हो जाय। राजा साहब का वैचारिक संसार खुशनुमा चाहे जितना हो, गहराई उसमें नहीं है। होती, तो इतना उन्हें साफ दिखाई दे रहा होता कि जिस तरह के लोग सम्पूर्ण क्रांति के बवण्डर के दौर में जनता पार्टी का मुखौटा लगाये लोकनायक जयप्रकाश नारायण की गरुड़पंखी छाया में अवतरित हुए थे, ठीक वैसे ही नाक-नक्श-अक्ल-शक्ल और आकार-प्रकार तथा चरित्र के लोगों का काफिला साथ लेकर चलना, मूल्यों की राजनीति के क्षेत्र में पहलकदमी करना नहीं, बल्कि फिर उसी तख्तापलट के दायरे तक सीमित राजनीति के गलियारों में चहलकदमी करना है।

जाहिर है कि राजा साहब यही करने जा रहे हैं।

□ □

[अमृतप्रभात : दिसम्बर, 1981]

आरक्षण में जातिवाद बनाम जातिवाद का आरक्षण

पिछड़ी जातियों के आरक्षण को लेकर चारों ओर हंगामा है। प्रधानमंत्री की आरक्षण सम्बन्धी घोषणा का राष्ट्रीय-सामाजिक पहलू या प्रगतिशील चरण की जगह, एक सनसनीखेज राजनैतिक नाटक की शक्ल में प्रस्तुत होना ही इतना सिद्ध करने को पर्याप्त है कि इसके पीछे न कोई राष्ट्रीय-सामाजिक चिन्ता है, न चिन्तन और न ही किसी प्रकार की सैद्धांतिक या नैतिक प्रतिश्रुति। लगता है, इस मामले में प्रधानमंत्री के नैतिक की जगह नाटकी होने के सारे चिह्न पूरी तरह उधड़कर सामने आ गए।

परिस्थितियों के साक्ष्य से ही साफ पता चलता है कि यह दांव क्षतिपूर्ति के तात्कालिक विकल्प के तौर पर खेला गया और इसके पीछे देश-काल-समाज का विवेक पूरी तरह नदारद है। चीजें पक्ष-विपक्ष में हुए आन्दोलनों से ही तय नहीं हो जातीं। जो वस्तु देश-काल की कसौटी पर कसे बिना ही बाजार में छोड़ दी जाए, वह हर हाल में समाज की क्षति करती है।

राजनीति की दृष्टि से भी विवेक की यह पहली शर्त है कि वस्तु को देश-काल और समाज को केन्द्र में रखकर देखा जाना चाहिये, खुद की गद्दी को नहीं। नीतियों को गद्दी को केन्द्र में रखकर तय करना देश-काल-समाज से घात करना है और यह बात दोटूक क्यों न कही जाए कि प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने यही किया है; क्योंकि उनकी उद्घोषणा के मूल में पिछड़ी जातियों के सामाजिक उत्कर्ष की चिन्ता नहीं, बल्कि खुद की गद्दी पुख्ता करने को जातिवाद के आरक्षण की कुटिल नीति का विषबीज छिपा है।

कूटनीति राजनीति का अपरिहार्य अंग है और अगर देश-काल को केन्द्र में रखकर हो, तो इसकी नैतिकता स्वयं सिद्ध हो जाती है; क्योंकि देश-काल के यक्षप्रश्न ही कर्म के सर्वोच्च नैतिक प्रतिमान हैं। देश-काल को साक्षी करके मनुष्य जब भी कोई कार्य करेगा, बहुत ध्यान से और दूर तक सोच-विचार कर ही करेगा। तब वह स्वयं को, केन्द्र नहीं, परिधि में रखेगा। तब उसके सारे कार्य-कलाप इस एक संकल्प में गुंथे होंगे कि—देश के विपरीत कुछ नहीं करना है। काल के विपरीत कुछ नहीं करना है। समाज के विपरीत कुछ नहीं करना है।

दरअसल ये तीनों, अर्थात् देश-काल और समाज, एक ही तथ्य के तीन अंग

हैं। इनमें से किसी को भी एक-दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता और मनुष्य के पास इन तीनों की प्रतीति और प्रतिबिम्बन का सर्वोच्च साधन एक ही है — भाषा ! भाषा से ही साफ जाना जा सकता है कि नीयत क्या है। और नियति !

पिछड़ी जातियों के आरक्षण के जो तर्क प्रधानमंत्री विश्वनाथप्रताप सिंह के हाथों में मण्डल आयोग की रपट के बण्डल के रूप में मौजूद हैं, ये सारे-के-सारे स्वयं में ही इतने अंतर्विरोधी हैं कि अगर आरक्षणविरोधियों को पूरी तरह दबा भी दिया जाता है, तो यह इस बात की गारण्टी नहीं ही बन सकेगा कि आगे कोढ़ फूटेगा नहीं। यह रपट चूंकि लोगों के चित्त, इसलिये देश की आत्मा में भी दरारें पैदा करेगी जरूर। इसे वोटों की राजनीति में तुरूप के पत्ते की भांति इस्तेमाल करना अपना और देश, दोनों का बेडा गर्क करना है।

इस रपट की बुनियाद ही झूठ और मूर्खता से भरे पूर्वग्रहों पर टिकी है। ऊपर से यह पिछड़ी जातियों के सामाजिक पिछड़ेपन को दूर करने की दुंदुभि बजाती मालूम पड़ती है, लेकिन इसके तल में झांकिये, तो वहां जातिवाद के विषबीज को बरगदाकार बनाने की अभिसंधि साफ दिखाई दे जायेगी; क्योंकि यह एक ओर जातिवाद को सामाजिक पिछड़ेपन का मूल कारण मानने की दलील पर टिकी है, तो दूसरी ओर इसमें जातिवाद को अनंतकाल तक के लिये पुख्ता बनाने के वो सारे नुस्खे मौजूद मिलेंगे, जो जरा-सा सतुलन बिगड़ते ही पूरे देश को जातियुद्ध की आग के हवाले कर सकते हैं।

इस बात को कभी नहीं, और हर्गिज नहीं भूलना चाहिये कि आदमी के चित्त की दरार ही उसके देश और काल की दरार भी होती है। नफरत की खिचड़ी रांधना हरहाल में घात करना है और इसे कैसी भी लीपापोती से ढांपा नहीं जा सकता।

इसमें क्या शक कि वर्णव्यवस्था के जातिवाद में रूपांतरण से देश की अपार क्षति हुई। कारण यहां भी चित्त की दरार ही रहा है। हिकारत, अपमान, प्रताड़ना और पददलन की धमक का देश के करोड़ों-करोड़ बाशिन्दों के चित्त तक पहुंच जाना ही देश के दरकने का मूल कारण बना। स्वाधीनता के बाद अगर एक किसी बात पर सबसे पहले, और सबसे ज्यादा, ध्यान दिया जाना जरूरी था, तो इसी पर कि जातिवाद के कोढ़ का उपचार किये बिना बाकी सारी कैसी भी कल्याणकारी पंचसितारा योजनाओं से देश का कुछ नहीं बनना। जो स्थान आदमी के चित्त की चिन्ता से शून्य हो, वह जीवन के मूल्यों, संवेदनों और अंततः नैसर्गिक स्पंदनों से भी शून्य हो जाता है।

आज जो पूरे देश में एक संवेदनात्मक उजाड़ दिखाई पड़ता है, इसका मूल कारण देश के राजनैतिक नेतृत्व का देश-काल और समाज की चिन्ता से खोखल

होना ही है। अन्यथा इतनी मोटी-सी बात क्या देश के बाशिन्दों को पूरे चार दशकों में भी समझाई नहीं जा सकती थी कि जिनके पाँव खुरों की शक्ति ले चुके हों, उनकी चेतना में भी पाशविकता ही मौजूद मिलेगी ?

जाति के आधार पर मनुष्य का निर्धारण सिर्फ वही लोग कर सकते हैं, जो देश-काल के विवेक से शून्य हों। जिन्हें पता ही नहीं कि वस्तु रूप और गुण, दोनों से बंधी है। जो मनुष्यता से शून्य हो, उसका जाति से ऊंचा होना पिशाच होने की गवाही ही दे सकता है। देश-काल की कोई जाति नहीं होती। ये सिर्फ अपने से ही नहीं जाने जाते। जहां जिस कोटि के बाशिन्दे रहते हैं, वैसा ही देश-काल का नक्शा बन जाता है। ऐसे में इस बात पर तो दो मत होने ही नहीं चाहिये कि जातिवाद भारत का सबसे खतरनाक कोढ़ है; क्योंकि चरित्र का कोढ़ हरहाल में चर्मरोगों से भी भयानक ही होगा। लेकिन सवाल यह है कि 'विषम् विषस्यौषधम्' का तर्क क्या यहाँ तक जा सकता है कि एक पाव के कील निकालकर, दूसरे पांव में ठोक दिये जाएं ? एक फेफड़े का जहर निकालकर, दूसरे फेफड़े में झोंकने का मतलब क्या होगा, अगर कि हम राष्ट्रीय या सामाजिक एकात्मकता का राग अलापते धूमे ?

मण्डल आयोग की सबसे बड़ी विसंगति यही है कि यह जातिवाद के राष्ट्रीय-सामाजिक उपचार की ठीक वही पद्धति और प्रणाली अमल में लाये जाने की दलील देता है, जो कि जातिवाद का उत्स रही है। जातिवाद की विसंगतियों का निदान जातिवाद में ही खोजने का मतलब ? जाहिर है कि मण्डल आयोग का सारा शीर्षासन जातिवाद का तावा पलटने की उस लल्लूछाप लालबुझक्कड़ी की देन है, जिसके अनुसार 'मोहन' सिर्फ सवर्ण जातियों में ही हुआ करते हैं, और 'लल्लू' पिछड़ी जातियों में।...मण्डल आयोग के अनुसार 'मोहन बनाम लल्लू' की राष्ट्रीय-सामाजिक तथा ऐतिहासिक दास्तान इस प्रकार है—

'मोहन एक खाते-पीते घर का लड़का है। उसके माता-पिता शिक्षित हैं। वह एक अच्छे पब्लिक स्कूल में पढ़ता है। पढ़ने के लिये उसके पास अलग कमरा है। माता-पिता भी उसकी पढ़ाई में मदद करते हैं। घर में रेडियो है, टेलीविजन है। पत्र-पत्रिकाएं आती हैं। उसके माता-पिता के परिचितों में प्रभावशाली लोग हैं, जो सही जगह पर प्रवेश कराने में उसकी मदद कर सकते हैं। इसके विपरीत लल्लू गांव में रहता है। माता-पिता अशिक्षित और गरीब हैं। दो कमरों की झोंपड़ी में आठ लोग ठंसे रहते हैं। हाईस्कूल की पढ़ाई करने के लिये उसे तीन कि.मी. पैदल आना-जाना पड़ता है। कालेज की पढ़ाई के लिये वह तहसील में अपने चाचा के यहां जाकर रहता है। अब आप ही बताइए कि दोनों को अगर एक ही तराजू पर तौला जाएगा, तो क्या लल्लुओं की तुलना में मोहन आगे नहीं रहेंगे ?'

सुप्रसिद्ध पत्रकार

मण्डल आयोग की उपरोक्त हद दर्जे की मूर्खतापूर्ण दृष्टांत-कथा पर प्रधानमंत्री विश्वनाथप्रताप सिंह के जातिवाद के राष्ट्रीय शिगूफे के पैरोकार अतिबौद्धिक राजकिशोर की टिप्पणी इस प्रकार है—

‘अगर हम ध्यान से देखे, तो आरक्षण अवसर की समानता के अधिकार को ही प्रतिष्ठित करता है। मण्डल आयोग ने मोहन और लल्लू की पृष्ठभूमि का तुलनात्मक विवेचन कर इसकी बहुत अच्छी व्याख्या की है। समानता की माग यही है कि लल्लू के साथ रियायत से पेश आया जाए। उसके 40 प्रतिशत अंको को मोहन के 60 प्रतिशत अंकों के बराबर माना जाए और नौकरी में उसके लिये आरक्षण की व्यवस्था की जाए। नहीं तो उसको कभी नौकरी मिल नहीं सकेगी। अत्यन्त विषम परिस्थितियों में रहने वालों के साथ समानता का व्यवहार करना जगलों का कानून है, सभ्य समाज का नहीं।’

ऊपर से पूरी तरह चौचक दिखती इस दलील का सबसे हास्यापद और नीमहकीमी की हद तक खतरनाक पहलू यह है कि जब इस नुस्खे को स्वतः सिद्ध मान लिया जाए कि सिर्फ समान परिस्थितियों में ही आदमी मोहन और लल्लू बना करता है—यानी आर्थिक सुविधाओं के बीच मोहन और साधनहीनता के बीच लल्लू—तो बाबा साहब अम्बेडकर को ‘मोहन’ माना जाए कि ‘लल्लू’ ?

अगर लल्लू, तो समान परिस्थितियों के तर्क का क्या होगा ? क्या बाबा साहब अपनी परिस्थितियों में अकेले थे ? और यदि नहीं, तो ‘समान परिस्थितियों’ ने बाबा साहब-जैसा सिर्फ एक ही लल्लू क्यों उत्पन्न किया ? क्या बाबा साहब के साथ समान परिस्थितियों ने उन-जैसे सिर्फ एक ही लल्लू को अलग से उत्पन्न करने का फैसला इस इरादे में लिया कि अन्यथा आगे मण्डल आयोग की रपट की दृष्टांत-कथा का क्या होगा ? क्या ‘लल्लू’ के साथ रियायत तभी होनी चाहिये, जबकि वह ‘जाति’ में ‘आरक्षित’ हो ?

इसे सिवा हद दर्जे की मूर्खता के सिवा क्या कहा जाए कि मण्डल आयोग की पूरी रपट भाषा में मनमानेपन का नमूना बनकर रह गई है। इसमें वर्ग और परिस्थिति भी जाति का पर्याय बन गए हैं। इसमें जातिवाद के पूर्वग्रहों को शब्दों के अर्थ में मनमाने विरूपण के रूप में साफ-साफ देखा, और निस्संकोच कहा जा सकता है कि जो शब्दों में हेराफेरी और धोखाधड़ी कर सकता है, वह अंतर्वस्तु में भी करेगा जरूर।...बल्कि कहें कि अंतर्वस्तु में धोखाधड़ी का इरादा ही शब्दों की हेराफेरी तक भी ले जाता है। अन्यथा क्या यह हिन्दुस्तान के भावी लल्लुओं ने मण्डल साहब को सपने में आकर बताया था कि वो सिर्फ तभी पिछड़ी जातियों में उत्पन्न होंगे, जबकि आरक्षण का आधार जातिगत पिछड़ापन मात्र होगा, आर्थिक पिछड़ापन नहीं ?

कौन सड़के नहीं जायेगा मण्डल आयोग की रपट के इस लल्लूपन पर कि

साधनहीन सवर्णों के लड़के तो कैसे भी मारक आर्थिक पिछड़ेपन और शोषण के बावजूद 'मोहन' ही बना करेंगे, लेकिन पिछड़ी करार दी गई जातियों के करोड़पतियों की संततियां भी बिना जातिवादी आरक्षण के तहत 'लल्लू' ही रह जाया करेंगी ! काश कि वर्गचरित्र और वर्गव्यवस्था के परम चितेरे महामना मार्क्स को कुछ समय मण्डल साहब के साथ रहकर सीखने का सौभाग्य प्राप्त हो गया होता ।

आरक्षण के आर्थिक आधार पर होने के तर्क से भाग निकलने को तो 'सिर्फ आर्थिक नहीं, बल्कि सामाजिक पिछड़ेपन को दूर करने' की दलील देना, लेकिन फिर आरक्षण का लल्लूछाप सैद्धान्तिक आधार निर्मित करने की लालबुझकडी में आर्थिक पिछड़ेपन के कारण 'लल्लुओं' की उत्पत्ति होते रहे होने का तर्क इस्तेमाल करना, यह सारा अहमकपना नाक को हाथ घुमाकर पकड़ने के लल्लूपने के सिवा और है क्या ? क्या गांवों और तहसीलो में सिर्फ पिछड़ी जातियों के ही निर्धन हुआ करते हैं ? शहरों में सभी पब्लिक स्कूलों में पढ़ते हैं ?

चूंकि लल्लू होने को जाति के समीकरण से जोड़ने से भद पिट सकती है कि जब जाति में ही सिवा 'लल्लू' उत्पन्न करने के और कोई क्षमता नहीं, तो परिस्थितियों के तर्क का क्या होगा ? और अगर परिस्थितियों के कारण एक के 'मोहन' और दूसरे के 'लल्लू' होने की दृष्टांतकथा का रूपक गढ़ा जाए, तो जातिवाद की जड़ें रोपने की गुंजाइश कैसे बनेगी ?

मण्डल आयोग की रपट का सारा सैद्धांतिक ढांचा इसी दोमुंहेपन के कारण जातिवाद के आरक्षण का देश-काल तथा समाज में जहर बोने वाला एक ऐसा भयानक अंतर्विरोधों और खतरनाक नुस्खों से भरा कागजी बण्डल बनकर रह गया है, जिसका सारा हंगामा एक इस बात पर टिका है कि हमारे देश-काल से उदासीन राजनैतिक गणों को जातिवाद की फसलें काटनी हैं ।

देश-काल और समाज की आत्मा संविधान से बहुत बड़ी हुआ करती है और जो बात देश-काल और मनुष्य के विपरीत पड़ती हो, उसके संविधान की आत्मा के अनुकूल पड़ रहे होने का तर्क देना सिवा इस मक्कारी के कुछ नहीं कि संविधान को खुद की गद्दी के हिसाब से इस्तेमाल करने के सारे रास्ते हमारे कब्जे में हैं ।

जाहिर है कि विभिन्न जाति-वर्गों के पिछड़ेपन को समाज के व्यापक फलक पर देखने की कोई दृष्टि मण्डल आयोग की रही ही नहीं है, अन्यथा आरक्षण का तर्क दोमुंहे सांप की शक्ति नहीं लेता । 'क्योंकि अगर पिछड़ेपन का आधारभूत कारण जातिविशेषों में मेधा का अभाव माना जाए, तब आनुवंशिकी में सुधार की जरूरत होगी...और अगर परिस्थितियों की मार, तो आरक्षण के नैतिक तथा विधिक आधार को आर्थिक पिछड़ेपन के विलोपन तक ले जाना जरूरी होगा ।

चूंकि दूसरी बात पूंजीवादी-सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध पड़ती है, इसलिये वर्ग और परिस्थिति को भी 'जाति' ही माने जाने का जालबट्टा फैलाया गया है ।

जबकि आरक्षण के आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग या कि परिस्थितियों की समानता के आधार का निषेध पिछड़ी नामांकित की गई जातिविशेषों के भीतर 'मोहन और लल्लू' की दृष्टांतकथाओं और मिथकों को आकार देता चला जायेगा, क्योंकि तब साधन-सम्पन्न पिछड़ों और साधनविपन्न पिछड़ों के बीच की परिस्थितियों में भी ठीक वैसी ही गहरी खाइया मौजूद मिलेंगी, जिनका मण्डल आयोग की रपट में डॉ. लोहिया की सामाजिक पुनरुत्थानवादी दलील के तौर पर इस्तेमाल किया गया है।

पहले ही कहा, देश-काल और समाज की जगह स्वयं के निहित स्वार्थों अथवा धमा दिये गये उद्देश्यों को केन्द्र में रखने की विसंगतियां अत्यन्त खतरनाक हुआ करती हैं; क्योंकि ये अपनी बुनियाद में ही असामाजिक होती है।

समाज की अवधारणा को हाशिये पर करके जातिवाद के मिथक रचना हरहाल में समाजविरोधी प्रवृत्ति का सबूत देना है और इस विकृति को डॉ. लोहिया के चालीस पर साठ या पचीस पर पिचहत्तर की दलील की समाजवादी झिल्ली से छिपाना संभव नहीं; क्योंकि डॉ. लोहिया ने न सामाजिक संतुलन को भाड में झोंकने की सलाह दी थी, न सामाजिक सहभागिता की शर्त को गायब किया था और न ही मोहन-लल्लू की दृष्टांत-कथा सवर्ण-बनाम पिछड़ी जातियों के ही संदर्भ में लागू माने जाने की पैरवी की थी।

गलत बात हर हाल में गलत है और उसे कैसे भी महापुरुषों के किसी समय के वक्तव्यों से सही साबित नहीं किया जा सकता; क्योंकि काल का अन्तर सिर्फ काल का अंतर ही नहीं होता। आज भारत के नक्शे में कथित पिछड़ी जातियों का आर्थिक ढांचा ठीक वहीं नहीं रह गया, जो बीसवीं शताब्दी के चौथे, पांचवे या झठे दशक में था। अब यहां भी मोहनों की संख्या अच्छे-खासे परिमाण में है और अगर परिस्थितियों की समानता के तर्क से सवर्ण मोहनों और अवर्ण लल्लुओं के जातिवादी समीकरण की कोई युक्तिसंगतता हो, तो उसे पिछड़ी जातियों की वर्गीय हैसियतों के मामले में भी लागू करना जरूरी होगा।

यानी अगर पिछड़ेपन को आनुवंशिक जातीय प्रकृति मानने से इंकार और आरक्षण के नैतिक तथा विधिक आधार के तौर पर आर्थिक-सामाजिक शोषण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों का जिक्र जरूरी हो, तो आरक्षण के आधार को हरहाल में आर्थिक पिछड़ेपन के तर्क तक ही ले जाना, और सामाजिक पिछड़ेपन के तथ्यों को आर्थिक सामाजिक शोषण की धुरी से जोड़ना, होगा। और अगर आर्थिक सम्पन्नता के बावजूद जातिगत पिछड़ेपन की दलील पर जोर देना हो, तो जातिवाद के आरक्षण के द्वारा जातिवाद के उन्मूलन की लल्लू पद्धति के सारे जोड़ खुद ही उखड़ जायेंगे।

समान परिस्थितियों की अवधारणा और समान परिस्थितियों की व्यावहारिक स्थापनाओं के बीच दरारें छोड़ने का मतलब क्या होगा, इस बुनियादी सवाल पर मण्डल

आयोग की रपट में सिवा मर्कटमौन के और कुछ नहीं। किसी भी वस्तु के सिर्फ एक पहलू को ले उड़ने वाले लोग कभी भी अपने कार्य-कलापों का नैतिक आधार निर्मित कर ही नहीं सकते। विधिक भी नहीं; क्योंकि विधि प्रकारांतर से नैतिकता का ही रूपांतरण हुआ करती है। नैतिकता के सामाजिक तर्क ही राज्य के विधिक ढांचे का निर्माण करते हैं।

जहां समानता या समान परिस्थितियों की अवधारणाओं अथवा व्याख्याओं में मनमानापन या एकतरफापन मौजूद हो, वहां न नैतिकता का कोई अस्तित्व होगा और न ही विधि का। मण्डल आयोग की रपट अपने बाह्य ढांचे ही नहीं, बल्कि अंतर्वस्तु में भी पूरी तरह अनैतिक, असामाजिक तथा गैरकानूनी है। मनमानापन स्वतःसिद्ध विधिनिषेध है, फिर चाहे यह समानता अथवा समान परिस्थितियों की अवधारणा के मामले में हो, या जाति को ही वर्ग और परिस्थिति भी साबित कर दिखाने के लल्लूवाद के। अवसर की समानता को सिर्फ कुछ जातिविशेषों से ही जोड़ना संविधान को जातिवादी बनाना होगा।

आश्चर्य कि इस सिरे से गैरकानूनी और विवेक तथा नैतिकता के स्पर्श तक से शून्य रपट को हमारे वर्तमान प्रधानमंत्री सामाजिक क्रांति की संज्ञा देते दिखाई पड़ रहे हैं। तय है कि सत्ता-समीकरण की तिकड़मों और चुनावी पैतरो को सामाजिक क्रांति की रंगारंग झिल्लियों से सजाकर पूरे देश को एक राजनैतिक छलावे में धकेलने का काम तभी किया जा सकता है, जब देश के कम-से-कम पिचहतर प्रतिशत लोगों को भेड़ों की शक्ल में देखा ही नहीं, बल्कि उन्हें यथावत् बनाये रखने की साजिश भी की जाय।

मण्डल आयोग की रपट खुद पिछड़ी जातियों के विरुद्ध एक गंभीर सामाजिक षड्यंत्र है; क्योंकि यह पिछड़ी जातियों के सिर्फ उन्हीं व्यक्तियों को देश की सत्ता तथा सम्पदा की पूंजीवादी बंदरबांट में शामिल करना चाहती है, जिन्हें वोट की राजनीति में शतरंज के मोहरों की भूमिका सौंपी जा सके। आर्थिक आधार पर आरक्षण से इंकार की कुल जमा हकीकत सिर्फ इतनी ही है।

सच तो यह है कि मण्डल आयोग की रपट स्वयं इसमें वर्गीकृत पिछड़ी जातियों के विरुद्ध ही एक अत्यन्त खतरनाक षड्यंत्र है। यह पिछड़ी जातियों में योग्यता की सम्भावनाओं से तक इंकार करती है। इसकी तान बार-बार इस निहायत शर्मनाक और अपमानजनक निष्कर्ष पर ही टूटती है कि सिर्फ आर्थिक पिछड़ेपन का सवाल नहीं है। इसमें यह मान लिया गया है कि इन जातियों का आर्थिक पिछड़ापन दूर हो जाने पर भी, ये अयोग्य ही बनी रहेंगी। यह रपट वर्गीकृत पिछड़ी जातियों के आनुवंशिक रूप से ही अयोग्य होने की स्थापना पर टिकी है।

मनुष्य का इससे बड़ा अपमान कुछ हो नहीं सकता कि उसको पशुओं के नस्लवाद की तर्ज पर आनुवंशिक रूप से ही अक्षम, अयोग्य तथा चेतनाशून्य करार दिया जाय। जिस तथाकथित ब्राह्मणवाद को गालियाँ देते नहीं अघाते हम, उसके और मण्डल आयोग के निष्कर्षों में कोई आधारभूत अंतर है ही नहीं; क्योंकि मनुष्य के बारे में आनुवंशिकी का तर्क हरहाल में पशुओं के नस्लवाद के तर्क तक ही पहुँचेगा। मण्डल आयोग की रपट में जाति के आधार पर आरक्षण का सिर्फ एक ही तर्क गढ़ा गया है, और वह कुल जमा इतना ही है कि चूंकि ये संख्या में ज्यादा हैं और वोट की राजनीति की शतरंज में सत्ता-समीकरणों को बदलने में इन्हें इस्तेमाल किया जा सकता है। अन्यथा पिछड़ी जातियों के अगली चार-पांच पीढ़ियों तक भी योग्य हो पाने की कोई गुंजाइश नहीं दिखाई पड़ने की धूर्तता क्यों जरूरी होगी ?

आदमी में सामाजिक चेतना जगाने की जगह जातिवाद का जहर बोना, यह पूँजीवादी व्यवस्था का तिलिस्मी दुर्ग निर्मित करना है। एक समाजवादी लोकतांत्रिक राज्यव्यवस्था में लोगों के आर्थिक-सामाजिक पिछड़ेपन को दूर करने की सारी जिम्मेदारी सरकार पर डालना जरूरी है।

यही उसकी कसौटी है। मण्डल आयोग की रपट इसी जिम्मेदारी से मुंह छिपाने का मुखौटा है। लोकतंत्र की समाजवादी अवधारणा की संवैधानिक जिम्मेदारी से मुंह चुराने को मण्डल आयोग की रपट को अलग से विधेयक लाकर भी संवैधानिक मान्यता दिलाने की दलील संविधान को जातिवादी बनाने की दलील के सिवा कुछ नहीं। पहले से ही चोर-दरवाजों से भरे संविधान की और दुर्गति करना खुद सरकार के हक में भी नहीं ही होगा; क्योंकि चालबाजी राज्य के नैतिक तंतुओं को नष्ट कर देती है।

डॉ. लोहिया ने पिछड़ी जातियों के जिस नुस्खे को गैरकांग्रेसवाद (प्रकारांतर से गैरनेहरूवाद) की राजनीति में इस्तेमाल किया था, उसे तीन-चार दशकों के बाद सिर्फ झिल्ली की तरह इस्तेमाल करने की जनतादली कूटनीति में मण्डल आयोग की रपट की एक ऐसे मोहरे से ज्यादा कोई प्रासंगिकता नहीं, जिससे पिछड़ों को जाति के चोर-रास्तों से बादशाह और वजीर के खानों तक पहुँचा रहे होने की भ्रांति रची जा सके। अन्यथा आरक्षण के तर्क का सिर्फ सरकारी नौकरी तक ही लागू होने का तर्क क्या होगा ? तब आरक्षण-प्रणाली खुद सरकार तक भी क्यों नहीं जानी चाहिए ? क्यों नहीं मंत्रि-मण्डलीय ढांचे में भी कोटा तय होना चाहिए ? और तब अगर साठ या पचहतर प्रतिशत की सैद्धांतिकी की इतनी चिंता हो, तो क्यों नहीं ठाकुर विश्वनाथप्रताप सिंह जी की जगह रामविलास पासवान को प्रधानमंत्री बनाया जाना चाहिए ? तब राजा ठाकुर विश्वनाथप्रताप सिंह जी के ज्यादा योग्य होने के तर्क के इस्तेमाल के दोमुँहेपन का क्या होगा ? अर्थात् तब प्रधानमंत्री का पद किसी अनुसूचित-पिछड़ी जाति के सांसद के लिये आरक्षित करना जरूरी क्यों नहीं होगा ?

सिद्धांत को इस चालबाजी से गढ़ना कि इसे सिर्फ वहीं तक ले जाया जायेगा,

जहां तक हमे सहूलियत हो — यह मूल्यों या मुद्दों नहीं, बल्कि सत्ता के गद्दों की राजनीति करना है। अफसोस कि नैतिक मूल्यों की राजनीति के पदयात्री राजा विश्वनाथप्रताप सिंह का सारा नैतिक चेतनामण्डल सत्ता के पुष्पक विमान की पहली उड़ान के साथ ही राख होता चला गया और आज उन्हें खुद के सिंहासन पर बने रहने को मण्डल आयोग की रपट के बण्डल की गद्दी लगाना जरूरी हो गया है।

रह गई बात हजारों साल के जातीय शोषण की, तो कहना जरूरी होगा कि वर्तमान को काल की मध्यरेखा बनाकर ही चला जा सकता है, बदगली की दीवार नहीं। अतीत और भविष्य, ये वर्तमान की तुला के दो समान पलड़े हैं। इनमें हेराफेरी करना काल की चेतना से शून्य होने का सबूत देना है। पिछले ढाई हजार सालों का हवाला सिर्फ उसको ही देना चाहिए, जो मामले को आने वाले ढाई हजार सालों के आलोक में देखने की भी चिंता रखता हो। सिर्फ एक ही तरफ को कौंधा देखता है, आदमी नहीं।

ढाई हजार वर्षों से शोषित-दलित या गुलाम होने का तर्क सिर्फ जातिवाद के मामले में ही लागू करना जरूरी क्यों होगा? अगर गणित ही बिठाना हो तो ढाई हजार वर्षों में घटित के सारे प्रसंगों का हिसाब-किताब जरूरी क्यों नहीं होगा? तब आज के सारे मुसलमानों को इस तर्क से हिन्दुस्तान से भगाना आवश्यक क्यों नहीं होगा कि लगभग ग्यारह-बारह सौ साल पहले ये हमलावरों के रूप में आये थे और देश को इन्होंने गुलाम बना लिया था? तब मुहम्मद गोरी का वशज होने के तर्क से शहाबुद्दीन को देशनिकाला देना जरूरी क्यों नहीं होगा। जब पहले के लोगों के किये हुए का दण्ड उनके वंशजों को दिया जाना जरूरी हो, तो इसका विधान सिर्फ पिछड़ी जातियों के आरक्षण की सैद्धांतिकी में ही करने का नैतिक या विधिक आधार क्या होगा?

मण्डल आयोग की रपट पर ईमान लाने से आने वाले ढाई हजार वर्षों के बाद यह नौबत क्यों नहीं आ सकती कि तब ब्राह्मण-ठाकुर और वैश्य जातियां पिछड़ेपन और शूद्रता की पंगतों में खड़ी दिखाई पड़ें? और तब फिर मण्डल की जगह बण्डल आयोग बिठाने की नौबत क्यों नहीं आयेगी? जब आदमी का जातिवाद के तर्क से पिछड़ी जातों में पहुंचना देश और समाज के लिये सचमुच खतरनाक हो, तो यह ब्राह्मण-ठाकुर और वैश्यों पर भी लागू क्यों नहीं होगा? अर्थात् समाजवाद का सिर्फ, सिर्फ और सिर्फ एक ही तर्क क्यों नहीं होगा कि दूर किये जाने कि जरूरत आर्थिक-सामाजिक पिछड़ेपन की हो, तो इसमें जातिवाद को आरक्षण का आधार बनाना सिवा आत्मघात के और कुछ नहीं? जाहिर है कि मण्डल आयोग की रपट में जातिवाद को केन्द्र में रखा गया है, देश को नहीं। जबकि जातियां भी देश से जुड़ी हैं और जिस बात में देश का हित नहीं, जातियों का हित भी असम्भव है।

ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए को योग्यता की कोई आवश्यक नहीं, इस रूढ़ि के जड़वाद का निदान शूद्र या पिछड़ी जातियों में उत्पन्न होने वालों को योग्यता की कोई जरूरत नहीं होने के द्रविड़ प्राणायाम में खोजना मनुस्मृति को पंथ की तरफ से इस्तेमाल

करने का लल्लूपुराण रचना है। सींगों से पूंछ की तरफ हाथ फिराने और पूंछ से सींगों तरफ हाथ फिराने में बुनियादी अन्तर क्या होगा ? जबकि जातिवाद जब भी होगा, सींगों से पूंछ तक जातिवाद ही होगा ?

आर्थिक पिछड़ेपन के आधार पर आरक्षण के तर्क से इंकार करके, मण्डल आयोग की रपट ने आरक्षण में जातिवाद के प्रत्यय को जातिवाद के आरक्षण के मुकाम तक ही पहुंचाया है और यही रपट का सबसे बड़ा और खतरनाक अंतर्विरोध है; क्योंकि यह आर्थिक आधार पर आरक्षण के सिर्फ पिछड़ी जातियों के संदर्भ में लागू किये जाने की पेशकश को भी साफ ठोकर मारती निकल गई है। देखा जाय तो वह वर्गीकृत पिछड़ी जातियों की अस्मिता और चेतना का मखौल उड़ाने के लल्लू सिद्धांतों की उपज है और कदाचित् वर्गीकृत पिछड़ी जातियों में चेतना होती, तो मण्डल आयोग की रपट की निंदियां सबसे पहले इन्हीं के द्वारा उड़ाई जातीं;, क्योंकि इसमें पिछड़ी जातियों के आनुवंशिक रूप से ही अयोग्य होने और आर्थिक पिछड़ेपन दूर हो जाने से भी इसमें कोई अंतर नहीं पड़ने का एक ऐसा शर्मनाक तथा मूर्खतापूर्ण कठसिद्धांत प्रतिपादित किया गया है, जो देश, काल और समाज, तीनों के विपरीत है।

□□

['अमर उजाला' : 19 सितम्बर 1990]

जातिवाद के कोढ़ का संवैधानिक उपचार

जाति में पिछड़ा होने के आधार पर सरकारी नौकरियों में आरक्षणप्राप्ति का मामला अब एक प्रकार से सर्वोच्च न्यायालय के हवाले है, तो इस खुशफहमी के लिये देश के नागरिक भी स्वतंत्र माने जा सकते हैं कि —चलिये, देर से ही सही, अब भारत के शताब्दियों पुराने जातिवाद के कोढ़ का संवैधानिक उपचार दूँढ़ा तो जा रहा है। ...लेकिन इस कटुसत्य का कोई क्या करेगा कि जब जातिवाद को संवैधानिक मान्यता पहले ही प्राप्त हो, तो जातिवाद को मिटाने का और कोई दूसरा जो भी रास्ता खोजा जायेगा, वह संविधानविरोधी होगा जरूर ?

ऊपर 'एक प्रकार से' कहने का तात्पर्य यही था कि मामला दूसरी प्रकार से फिर उसी भारत सरकार की नीयत ही नहीं, बल्कि नियति पर भी टिका है, जोकि एक मुंह से जातिवाद के कोढ़ को मिटाये जाने की बात करती है और दूसरे से जातिवाद के सदियों पुराने कोढ़ को बाकायदे संवैधानिक मान्यता प्रदान करते हुए, इस सचाई को भूल ही जाती है कि कोढ़ को उसे संवैधानिक मान्यता प्रदान करके नहीं मिटाया जा सकता।

क्या इतनी मोटी-सी बात भी हम लोगों की समझ से सचमुच बाहर है कि जब तक संविधान में जातियों के वर्गीकरण, अर्थात् जातिगत भेदों, को मान्यता प्राप्त रहेगी, तब तक तो जातिवाद को मिटाना असम्भव ही है। रह गया 'सिर्फ एक सीमित अवधि तक' का सवाल, तो जातियों और धर्मों की राजनीति के कायम रहते, जोकि भारत की कांग्रेस परम्परा वाली वोटों की राजनीति की नीयत और नियति, दोनों की अपरिहार्य परिणति है, 'अवधि' का सवाल हल होगा ही कहाँ ?

जब कांग्रेस परम्परा की मौजूदा राजनीति के कायम रहते तक तो जातिवाद को संवैधानिक मान्यता रहनी ही है, तब क्यों न इस सचाई को भी स्वीकार किया जाय कि उद्देश्य जातिवाद के कोढ़ का उपचार नहीं, बल्कि इस कोढ़ का और भी व्यापक तथा विकराल रूप में गद्दी की राजनीति के लिये इस्तेमाल-मात्र है ?

उद्देश्य कर्म से जुड़ा है। उद्देश्य समाजकल्याण और कर्म हत्या-लूट-डाका-बलात्कार हो, तो इसको वास्तव में क्या माना जाय ? उद्देश्य में खरा होना ? जवाब यदि 'हां' में हो, तो बिलकुल मान लिया जाना चाहिये कि कांग्रेस सरकारें भी अपने

इस उद्देश्य में खरी ही साबित हुई है कि शताब्दियों के जातिवाद के कोढ़ को मिटाना ही होगा।

ज्यों-ज्यों दवा करते जाएं, त्यो-त्यो रोग और ज्यादा बढ़ता जाय, तो जरूरी क्या होगा ? उसी रोगवर्द्धक दवा को और बड़ी मात्रा में पिलाते ही चले जाना ? याकि—कोई नयी रोगनिवारक दवा खोजना ?

हमारी अब तक की तमाम भारत सरकारों ने जातिवाद के शताब्दियों लम्बे कोढ़ को मिटाने का अभी तक सिर्फ एक ही रास्ता अपनाया है—जातियों के आधार पर सरकारी नौकरियों में आरक्षण तथा अनुदान !...और वोट की राजनीति का दबाव बढ़ते ही आरक्षण-अनुदानों का अनुपात भी बढ़ाते चलने की कूटनीति के तहत, 'अन्य पिछड़ी जातियों' को भी राजनीति की इस राष्ट्रघाती शतरंज में शामिल करते हुए आज देश को उस मुकाम पर बाकायदे पहुंचा दिया गया है, जहां कि, बस, तीलियां लगाने की देर है।

तो क्या भारत की मौजूदा व्यवस्था ने इतना अंतिम रूप से मान और तय कर लिया है कि वर्गसंघर्ष को रोकने का सिर्फ और सिर्फ एक ही रास्ता रह गया है—जातिसंघर्ष !...क्या अब 'ब्लूस्टार ऑपरेशन' के बाद 'कास्ट स्टार ऑपरेशन' का इरादा है ? और यदि नहीं तो फिर जातियों के आधार पर आरक्षण-अनुदानों की गंदी राजनीति से हाथ खींचने से इंकार का कारण क्या है ?

कितने आश्चर्य और दुख की बात है कि यह सवाल राष्ट्रीय स्तर पर आज तक उठाया ही नहीं गया कि अगर जातिवाद को देश का कोढ़ माना जा रहा है—तो फिर इसे बाकायदे संवैधानिक मान्यता प्रदान करते जाने का रहस्य क्या है ? क्योंकि यह तो ठीक वैसा ही है, जैसे 'एक सीमित अवधि' के लिये हत्या-लूट-चोरी-डाके को संवैधानिक मान्यता प्रदान करना !...जबकि बुनियादी सवाल गलत या सही-कल्याणकारी या विनाशकारी के निर्धारण का हुआ करता है। गलत और विनाशकारी भी मानना और लगे हाथों बाकायदे संवैधानिक मान्यताओं, आरक्षणों और अनुदानों की लड़ियां भी और लम्बी, और लम्बी बनाते चलना—इस निर्लज्ज दोमुंहेपन का आखिर रहस्य क्या है ? और इस रहस्य पर अगर पर्दा ही ताने रहना है, तो प्रधानमंत्री राव साहब की राजनीति और प्रशासनतंत्र में पारदर्शिता लाये जा रहे होने की बात में क्या दम है ?

इसमें क्या शक कि जातिवाद का कोढ़ इस देश का सबसे खतरनाक नासूर है। दलितों, उत्पीड़ितों और अभावग्रस्तों के जीवन स्तर में प्रगति लाने के उद्देश्य पर भी कोई उंगली नहीं उठाई जा सकती। कथित निचली-पिछड़ी जातियों के लोगों में आर्थिक-सामाजिक पिछड़ेपन की व्याप्ति ज्यादा व्यापक और संघातक स्तरों पर है,

इसमें भी कोई संदेह नहीं ।...लेकिन सवाल फिर यही कि क्या उपचार का रास्ता सिर्फ यही है ? और अगर है, तो चार दशकों के आरक्षणों-अनुदानों के बाद भी कथित हरिजन, या अनुसूचित समाज की दुर्दशा क्यों है ? और जब सरकारी नौकरियों में आरक्षणों और अनुदानों की लड़ियाँ अनुसूचित जातियों को राष्ट्र की तथाकथित मुख्यधारा में आज तक नहीं ला सकीं, तो इस बात की गारण्टी क्या मानी जाए कि 'अन्य पिछड़ी जातियों' को जरूर ले आयेंगी ? और जल्दी ही ले आयेंगी—सिर्फ दस वर्षों की अवधि में !

अर्थात् दस वर्षों तक तो 'अन्य पिछड़ी जातियों' की वोटों की राजनीति हम जरूर करेंगे, इससे देश अगर जातिसंघर्ष की आग के हवाले होता हो, तो हमें क्या ? क्योंकि गद्दी की राजनीति तो खेती ही इस तरह से जायेगी कि कभी इस तरफ से आग फैलाओ और कभी उस तरफ से । जिस तरह से, और जिस तरफ को, आग फैलाना खुद की गद्दी के हक में दिखाई पड़ जाय—आग फैलाते हिचकना नहीं है और इस बात पर ध्यान देना ही नहीं है कि इसमें कितनों के घर उजड़ गए, देश की क्या-क्या दुर्गतियाँ हो गयीं—धर्म और जातियों की मौजूदा राजनीति का पूरा चरित्र ही यही है । अन्यथा कौन नहीं जानता कि हकीकत क्या है ।

आदमी जाति, नस्ल या धर्म से निर्धारण की वस्तु नहीं है । रावण ब्राह्मण कुलोत्पन्न ही नहीं, बल्कि वेदज्ञ महापण्डित भी था, लेकिन उसे कर्मों के आधार पर अधम राक्षस करार दिया गया, और इसी देश में । रैदास जी मोची थे, लेकिन उन्हें परमपूज्य महात्मा करार दिया गया—और इसी देश में ।...

जिस देश में गुणों-कर्मों के आधार पर आदमी का मूल्यांकन किये जाने की गुणग्राहकता और आत्मशोधन की परम्परा मौजूद हो, वहाँ जातिसंघर्ष की आग फूंकने की ऐसी अपरिहार्यता क्या है ?

किसी को निचली या पिछड़ी जाति का करार देना, यह न सिर्फ अपने-आप में नीचता का प्रमाण है, बल्कि लोकतंत्र में बाकायदे दण्डनीय अपराध भी है; क्योंकि लोकतंत्र 'लोक,' अर्थात् नागरिक की अवधारणा से ही चल सकता है—ऊँची, निचली या पिछड़ी जातियों की गंदी प्रवृत्ति से नहीं । लेकिन भारत सरकार ने इस मामले में भी कुछ ऐसी नौटंकी रच रखी है कि पूछिए मत ।

अगर कोई नागरिक, हमें डोम, चमार, भंगी या पिछड़ी-निचली जाति का कहे, तो यह दण्डनीय अपराध है । तब अगर भारत सरकार, नौकरी या अनुदान प्रदान करने को, हमसे खुद के डोम, चमार, भंगी या निचली-पिछड़ी जाति का होने का बाकायदे हलफनामा मांगे, तो यह दण्डनीय अपराध किस तर्क से नहीं माना जाय ?

क्या इस कुतर्क से कि चूंकि सरकार निचली-पिछड़ी जाति का हलफनामा देने के बदले में नौकरी, या अनुदान दे सकती है ? नौकरियाँ देना गिनी-चुनी संख्या में, लेकिन निचली-पिछड़ी जाति का होने का बाकायदे हलफनामा मांगते घूमना सारे

लोगो से ? अपना ही नहीं, पिता का नाम भी निचली-पिछड़ी जाति में जरूर लिखवाना और इस सिलसिले को, आगे आने वाली दशाब्दियों-शताब्दियों तक के लिये अपनी सततियों के लिये भी अटूट बना जाना—जातियों के आधार पर आरक्षण और अनुदानों की कुल जमा हकीकत सिर्फ इतनी ही है और जो भी इस सचाई पर पर्दा ताने, उसे सिर्फ झूठा ही कहा जा सकता है। चंद व्यक्तियों को सरकारी नौकरिया देकर पूरे-पूरे समाजों को निचला-पिछड़ा बनाये रखना ही सामाजिक न्याय है ?

कोई दूसरा हमें चोर-डाकू कहे, तो दण्डनीय अपराध और हमें इस बात के लिये उकसाना कि अगर खुद के चोर-डाकू होने का हलफनामा दोगे, तो तुम्हें सरकारी नौकरी दी जायेगी—यह सारी ठगविद्या अगर हमें लगातार मूर्ख बनाते चलने की साजिश में नहीं, तो फिर आखिर और किस कृपा में है ?

जातिवाद एक सामाजिक कोढ़ है और, जहां तक सरकार का सवाल है, उसके पास इसे भिटाने का सिर्फ एक ही उपाय है—जाति के आधार पर तिरस्कार या शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध कठोर कानूनी कार्यवाहिया।...लेकिन भारत सरकार का कमाल देखिये कि वह इस घोषित सामाजिक कोढ़ को बाकायदे सैवधानिक मान्यताएं प्रदान करती चली जा रही है, तो इस पाखण्ड ने कभी-न-कभी या भारत-भाग्य-विधाताओं को ले डूबना है और या फिर सीधे-सीधे भारत को ही, इतना समय रहते ही समझ लेना ठीक रहेगा; क्योंकि बाद का पछतावा सिर्फ सिर धुनने के मतलब का ही रह जाता है, बनता उससे कुछ नहीं।

अब 'अन्य पिछड़ी जातियों' वाले मामले में सर्वोच्च न्यायालय की सासत यह है कि वह सरकार को तो 'कारण बताओ' नोटिस दे चुकी कि सरकार 'जातियों' के आधार पर आरक्षण चाहती है या कि 'वर्ग' के ?

यह भी कि—क्या सरकार जाति और वर्ग को एक ही, अर्थात् एक-दूसरे का पर्याय, मानती है ?

जाहिर है कि सरकार को जवाब देते पसीना छूटेगा जरूर, हालांकि न्यायपालिका अपनी ही है।

अब सरकार यदि कहे कि 'जाति' और 'वर्ग' एक ही हैं, तब वर्ग के आधार पर आरक्षण से इंकार का रास्ता क्या होगा ? और अगर कहे कि वर्ग के आधार पर आरक्षण चाहिये, तो मण्डल आयोग की रपट गई बड़ेखाते !...क्योंकि इसमें जातियों के आधार पर सर्वेक्षण किया गया है, 'वर्ग' नहीं। वर्ग के आधार पर सर्वेक्षण को कोई और आयोग बिठाना जरूरी होगा।

दूसरे छोर पर, सर्वोच्च न्यायालय जातियों के आधार पर आरक्षण से इंकार

कैसे करेगा ? जबकि जातियों के आधार पर आरक्षण की व्यवस्था संविधान में पहले से ही मौजूद है ? यह कैसे तय होगा कि निचली जातियों के आधार पर आरक्षण को तो संवैधानिक स्तर पर विधिसम्मत माना जा सकता है, लेकिन पिछड़ी या ऊंची जाति के आधार पर नहीं ? क्या यह जातियाँ स्वयं तय करेंगी कि किसको आरक्षण मिले, किसको नहीं ?

अगर तथाकथित ऊंची जातियों के लोगों की संख्या अस्सी प्रतिशत होती, तो तय है कि माग किये जाने पर ऊंची जातियों को आरक्षण की व्यवस्था होते संविधान में देर लगती नहीं; क्योंकि इसमें कानूनों के संख्या के आधार पर बनाये और चलाये जाने की अद्भुत व्यवस्था है ।

जातियों के आधार पर आरक्षण हर हाल में, और हर तरह से, जातियों के आधार पर आरक्षण है — बिना इस सचाई को स्वीकार किये ही सर्वोच्च न्यायालय जातिवाद के कोढ़ का कोई संवैधानिक उपचार खोज नहीं सकेगा । इस मामले में हमें सचाई को जान लेना चाहिये कि झूठा उपचार रोगी ही नहीं, बल्कि कभी-न-कभी वैद्य महाराज की भी दुर्गति कराता जरूर है । आरक्षणों और अनुदानों की पुड़ियाओं से जातिवाद के सामाजिक कोढ़ को आने वाले करोड़ों सालों में भी नहीं मिटाया जा सकेगा ; क्योंकि इस मामले में स्थिति 'एक अनार सौ बीमार' से भी बदतर है और ऊपर से उस सामुदायिक घृणा का जहर अलग से, जो दंगों के रूप में फूटता है ।

हमें अंततः इस सामाजिक कोढ़ का कोई व्यापक सामाजिक उपचार ही खोजना होगा, सिर्फ संवैधानिक या कि सरकारी उपचार नहीं । दरअसल सरकारी उपचारों ने ही सामाजिक उपचारों के रास्ते बंद कर दिये हैं ।

□□

['दैनिक जागरण' : 9 जून 1991]

जाति और वर्ग का मायासरोवर

आज यह तय करना कठिन ही होगा कि इन्द्रप्रस्थ का मायासरोवर रचते में मय दानव या पाण्डवों का उद्देश्य कौरवों का मखौल उड़ाना था, याकि सिर्फ एक विस्मयकारी कौतूहल की सृष्टि-मात्र ? लेकिन महाभारत का एक निमित्त यह बना जरूर । 'मायासरोवर' का सारा चमत्कार ही इसमें था कि जहां थल हो वहां जल दिखाई पड़े और जहां जल हो, वहां थल ।

हमारी आज की सर्वनाशी राजनीति के दौर में मण्डल आयोग की रचना का निचोड़ भी यही है । यह भी एक अद्भुत मायासरोवर है । इसमें वर्ग को जाति और जाति को वर्ग की जगह इस्तेमाल करके जल को थल और थल को जल बनाने वाली उसी मायावी शक्ति का परिचय दिया गया है । यह भी अंततः कुछ-न-कुछ भारत-विनाश करेगा जरूर ।

दो बिलकुल भिन्न वस्तुओं को एक रूप में दिखाना माया रचने और इसे इस्तेमाल करने के सिवा कुछ नहीं और अगर उद्देश्य एक कलात्मक कौतूहल उत्पन्न करना नहीं, बल्कि झगड़े की जड़ को खड़ा करना हो, तो इसे सीधे-सीधे षड्यंत्र और धोखाधड़ी करार देना जरूरी होगा । खासतौर पर तब और ज्यादा जरूरी, जबकि इससे एक पूरे देश की गम्भीर क्षति होने जा रही हो ।

सभी जानते हैं कि मण्डल आयोग की सिफारिशों में जाति को वर्ग और वर्ग को जाति का पर्याय माने जाने पर जोर दिया गया है, जबकि वर्ग और जाति में ठीक वैसा ही अंतर है, जैसा कि जल और थल में । जल के आधार बिलकुल अलग हैं और थल के बिलकुल अलग । जल को थल और थल को जल बनाकर, लोगों से इन्हें एक-दूसरे का पर्याय मानने को कहना, सिवा धोखाधड़ी के कुछ नहीं ।

वर्ग के आधार अलग हैं और जाति के आधार अलग । एक आर्थिक प्रत्यय है और दूसरा जातिगत । निम्न, मध्यम व उच्च वर्गों का ठीक वही मतलब नहीं होता; जो कथित निचली, पिछड़ी (अदर दैन ओ. बी. सी.) अथवा ऊंची जातियों का । सर्वहारा और पूंजीपति वर्गों की तरह सर्वहारा और पूंजीपति जातियों का भी ठीक यही मतलब नहीं होता । टाटा-बिड़ला-सिंहानिया-डालमिया या मोदी और अम्बानी, पूंजीपतियों के रूप में 'पूंजीपति जातियों' के प्रतीक नहीं हैं ।

केन्द्र सरकार वास्तविकताओं के निषेध की आदी हो चुकी है, अन्यथा वो 'जातियों' को 'वर्गों' सम्बोधन से छिपाने की मूर्खता नहीं करती। सरकार को इतना तो पता होना ही चाहिये था कि मडल आयोग ने सिर्फ 'जातियों' के वर्गीकरण का काम किया है, वर्गों के वर्गीकरण का नहीं। 'वर्गों' के तौर पर वर्गीकरण किये बिना ही 'पिछड़े वर्गों' के आधार पर आरक्षण की बात सिवा धोखाधड़ी के और कुछ नहीं।

अफसोस तो इस बात का है कि विचार में राजनीति की तलछंट पर पलने वाले कई मण्डलमार्गी बुद्धिजीवी तक यही दावा कर रहे हैं कि भारत में जाति और वर्ग में कोई अंतर नहीं। इन बुद्धिजीवी जाति के लेखकों-पत्रकारों को इतना भी पता नहीं कि भारत पृथ्वी के नियमों से बाहर नहीं है। इस बात का सारे संसार में एक ही नियम है कि वस्तु को वही बताया भी जाय, जो कि वह हो। वर्ग और जाति के बीच भारत में भी ठीक उतना ही अंतर है जितना कि दुनिया के अन्य देशों में। म्फर्क्स-लेनिन के वर्ग-संघर्ष और वर्गचेतना के सिद्धांत भारत में जाति-संघर्ष और जातिचेतना की शक्ति नहीं ले लेंगे। वर्ग को जाति और जाति को वर्ग मानने के तर्क से तो मार्क्सवाद और मण्डलवाद दोनों एक हो जाएंगे !

इस मामले में बुद्धिजीवी जाति के लोगों से भी ज्यादा अफसोसनाक ही नहीं, बल्कि शर्मनाक रवैया है, सर्वोच्च न्यायालय का। देश का सर्वोच्च न्यायिक प्रतिष्ठान आज तक इतना भी तय नहीं कर पाया कि जाति और वर्ग ये दोनों बिलकुल अलग-अलग तथ्य हैं कि नहीं। आरक्षणसंबंधी एक नहीं, बल्कि अनेकानेक मामलों का निस्तारण सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा बाकायदे किया जा चुका है, लेकिन एक भी फैसले में यह कतई नहीं बताया गया कि चूंकि जाति और वर्ग, दोनों एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न तथ्य हैं, इसलिये इन्हें एक ही अर्थ में चलाने को धोखाधड़ी माना जायेगा।

दरअसल इस सारे प्रकरण में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के हाथ पहले ही बांध दिये गए। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए जाति के आधारों पर आरक्षण को संवैधानिक रूप से मान्य कर लेने के बाद सर्वोच्च न्यायालय के पास जातियों के आधार पर कानून बनाने से बच सकने के रास्ते बाकी रहे ही नहीं। अन्यथा आज सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति माननीय श्री रंगनाथ मिश्र जी ने जिस तरह सरकारी महाधिवक्ता को साफ-साफ लताड़ लगाई कि वो पहले सरकार के मंतव्य को स्पष्ट बताएँ—ठीक इसी तरह, यह मांग भी बिलकुल कर सकते थे कि सरकार यह भी बिलकुल साफ-साफ बताये कि वह आरक्षण जातियों के आधार पर देना चाहती है, या वर्गों के!

तय है कि साफ जवाब देते सरकार को पसीना छूट जाता; क्योंकि जातियों के आधार पर आरक्षण देना बिलकुल अलग बात है और वर्गों के आधार पर ठीक यही

काम किया ही नहीं जा सकता। जातियों के मामले के तूल पकड़ चुके होने के कारण सरकार के द्वारा दूरदर्शन को स्पष्ट निर्देश दिया जा चुका कि वहां आरक्षण के प्रसंग में 'जातियों' शब्द का उल्लेख नहीं किया जाए। यही कारण है कि आजकल दूरदर्शन के हिंदी समाचारवाचकों के द्वारा 'पिछड़ी जातियों' की जगह, 'पिछड़े वर्गों' सम्बोधन का प्रयोग किया जा रहा है। ऐसे में सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा सरकार से अगर यह स्पष्ट उत्तर मांग लिया गया होता कि वह जातियों के आधार पर आरक्षण चाहती है, या वर्गों के, तो सरकार से जवाब देते बनता नहीं।

खासतौर पर ऐसी स्थिति में, जबकि सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा यह साफ तौर पर बता दिया जाता कि जाति को वर्ग, या वर्ग को जाति का पर्याय हर्गिज नहीं माना जायेगा; क्योंकि दो बिलकुल अलग-अलग वस्तुओं को एक ही नहीं माना जा सकता। किन्तु जैसा कि पहले ही कहा, सर्वोच्च न्यायालय भी तो आखिर सरकार से ही निबद्ध है और उसकी कोई ऐसी स्वतंत्र सत्ता नहीं रख छोड़ी गई, जिसमें विधि की व्याख्या या कि निर्धारण में राज्य का हस्तक्षेप नहीं रहे। हालांकि पाखण्ड की भी अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं और अगर सर्वोच्च न्यायालय चाहता, तो इस मामले में वास्तव में सरकार को दिन में ही तारे दिखा सकता था, क्योंकि गोट सरकार की ज्यादा फँसी है, सर्वोच्च न्यायालय की नहीं।

जाति के आधार पर कानून बनाने की भी ठीक वही प्रक्रिया (और बुनियाद) है, जो धर्म के आधार पर कानून बनाने की। दोनों मामलों में, कानून की आत्मा की जगह, राज्य की मुहर मुख्य हो जाती है। आदमी और देश के सवाल गौण पड़ जाते हैं, सत्ता की जरूरत और उसके सम्प्रभुत्व का प्रश्न ऊपर आ जाता है। भारतीय संविधान में धार्मिक-मजहबी तथा जातिगत कानूनों के उन्मुक्त समावेश की कहानी यही है, लेकिन इसके विरुद्ध न कभी किसी राजनीतिक दल ने कोई आवाज उठाई, न बुद्धिजीवी जाति के लोगों ने ही; क्योंकि कहीं-न-कहीं सभी परस्पर नालबद्ध हैं। अन्यथा सर्वोच्च न्यायालय जातियों के आधार पर आरक्षण से यह कहते हुए साफ इंकार कर सकता था—और जब चाहे तब कर सकता है—कि धर्म और जाति के आधार पर कानून बनाना देश और लोकतंत्र दोनों की आत्मा का हनन करना है; क्योंकि इससे संविधान में धर्म और जातियों के हस्तक्षेप को रास्ते खुल जाते हैं।

जहां तक भारतीय संविधान का सवाल है, इसमें धर्म और जातियों के वो सारे चोर-दरवाजे प्रारम्भ से ही प्रक्षिप्त रहे हैं, जिनके दुष्परिणाम आज भी पूरा देश भुगत रहा है और आगे कहीं ज्यादा भयानक मुकाम सामने आने हैं। अभी तो सिर्फ पिछड़ी जातियों की बात है, आगे पिछड़ी जातियों में भी पिछड़ी जातियों के अंतर्विरोध

सामने आयेंगे और अंततः जातियों का यह मर्कटसंग्राम धर्म तथा मजहब की राजनीति के कोढ़ में खाज बनेगा जरूर !

सारे राजनीतिक दल कुर्सी के खेल में निमग्न हैं। ये देश, काल और समाज की चिंताओं से पूरी तरह पल्ला झाड़ चुके। कौन नहीं जानता कि बंदर के हाथ में के उस्तरे की तरह मण्डल आयोग की सिफारिशों को आनन-फानन में इस्तेमाल करके पूर्व-प्रधानमंत्री राजा साहब ने भाजपा को धर्म की राजनीति खेलने का रास्ता खोल दिया। जाति की राजनीति के नंगे नाच के बाद भाजपा भी धर्म की ध्वजा उठाये घूमने को स्वच्छंद हो गई। इस प्रकार भाजपा की राम की राजनीति का वास्तविक प्रस्थान-बिन्दु मण्डल आयोग की रपट का जातिवादी कार्यान्वयन ही है और इसकी सारी जिम्मेदारी राजा साहब पर।

मजहब, धर्म और जातियों की इस खुली शिविरबद्धता ने ही आगे के रास्ते और कठिन बना दिए हैं। राजनीति के सारे नैतिक आधार ढह चुके हैं।

राजनीतिक दलों के पास अब लोकतंत्र और मूल्यों की खाल-भर बाकी रह गई है। राज्यव्यवस्था का आधार अब कानून नहीं रहा। जातिप्रथाओं को संवैधानिक मान्यता मिले होने से ही जातिवाद की राजनीति के रास्ते खुले हैं। ठीक इसी प्रकार धार्मिक-मजहबी कानूनों के संविधान में प्रक्षेपण ने धर्म और मजहब की राजनीति उत्पन्न की है।

इसमें क्या संदेह कि दलितों और पिछड़ों को देश की मुख्यधारा में लाये बिना देश की सामाजिक व्यवस्था को न्यासंगत बनाना असम्भव है, लेकिन इसका एकमात्र और अंतिम उपाय कानून की सत्ता को मटियामेट करना नहीं हो सकता। इसका उपचार पिछड़े वर्गों के लिये आर्थिक-शैक्षिक विकास की योजनाएं बनाकर ही किया जा सकता है। जो भी पिछड़े हुए हैं, आर्थिक-शैक्षिक पिछड़ेपन के कारण पिछड़े हुए हैं, जातियों के कारण नहीं। क्या रामविलास पासबान, शरद यादव, मुलायम सिंह यादव या बूटासिंह-प्रभृति को पिछड़ों में गिनाया जा सकता है ?

मण्डल आयोग की सिफारिशों की बुनियाद ही कानून के निषेध पर टिकी है। इसका जोर जाति को ही कानून का मुख्य और निर्धारक तत्व बनाये जाने पर है, जबकि कानून कभी भी न धर्म के आधार पर बन सकता है और न ही जाति के; क्योंकि उसका जन्म परिस्थिति में से होता है, जाति या धर्म के गर्भ से नहीं। दफा 302 को हत्या की परिस्थिति जन्म देती है। प्रत्येक दफा या धारा का नियम यही है। कानून, इसीलिए, सिर्फ परिस्थितियों के तर्क से ही अपनी वस्तुगत सत्ता को प्रकट कर सकता है; जाति और धर्म के हस्तक्षेप से कानून की सत्ता का विलोपन हो जाता है। चाहने पर सर्वोच्च न्यायालय, इसी तर्क से, केन्द्र सरकार से बिलकुल पूछ सकता था कि धर्म और जातियों के आधार पर कानून बनाने और चलाने के इस गैरकानूनी सिलसिले

को आखिर कितनी दूर तक ले जाना चाहती है वह ?

मण्डल साहब ने भी, मोहन और लल्लू के रूपक के माध्यम से, पहले परिस्थितियों का तर्क ही गढ़ा कि कैसे लल्लू सारी योग्यताओं और आकांक्षाओं के बावजूद पिछड़ जाता है।...परिस्थितियों का यह तर्क ही वर्गों की अवधारणा तक जाता है और इसके नैतिक पक्ष पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता; क्योंकि देश के संघाधनों में हिस्सा सबका है।

लेकिन चूंकि परिस्थितियों के तर्क से धनाढ्य वर्ग की श्रेणी में पहुंच चुके कथित पिछड़ी और निचली जातियों के सत्ता की बंदरघांट के दावेदारों को आरक्षण नहीं दिलवाया जा सकता, इसलिए वर्ग को भी जाति का ही पर्याय बना लिया गया। चूंकि भारतीय लोकतंत्र की सारी जड़ें अब धर्म, मजहब और जातियों की ठेकेदारी पर आ टिकी हैं, इसलिए बंदरघांट में भी अनुपात जरूरी हो गया है।

जाहिर है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों को प्रदत्त आरक्षण की ही कहानी कथित पिछड़ी जातियों के आरक्षण में भी दोहराई जा रही है और इस प्रकार पूरे समाज में जहर बोया जा रहा है। तथाकथित आजादी के लगभग पांच दशकों में देश के नागरिकों को अब इस मानसिक दुरावस्था में पहुंचा दिया गया है कि लोग अपने को खुद ही पिछड़ी जातियों का साबित करते घूमें और इसके लिए केन्द्र सरकार तक व्याकुल दिखाई पड़े कि कैसे जातियों को ही वर्गों का भी पर्याय बना लिया जाए।

जैसे पुण्यात्मा स्वयं के पुण्य, तैसे ही; पापी भी खुद के पापों में जो हाथ पड़े, उसको शामिल करता जरूर है। केन्द्र सरकार के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को भी जाति को ही वर्ग भी साबित करने के प्रपंच के भागीदार बनाने की सारी जीतोड़ कोशिशों का रहस्य यही है। सरकार को कुछ चेत नहीं कि जब राज्य कानून की कमर खुद ही तोड़ने लगता है, तो कहीं-न-कहीं खुद की कब्र खोदने की शुरुआत भी जरूर कर रहा होता है।

आदमी हर हाल में कर्म से जुड़ा है। धर्म, दरअसल, उसके कर्म की ही आत्मा है और अगर ऐसा नहीं, तो धर्म नहीं है। जातियों के आधार पर आरक्षण के बाद ऊँची जातियों के आधार पर आरक्षण की मांग को नकारने का सर्वोच्च न्यायालय के पास एक ही रास्ता बचा रहता है, मनमानेपन का।...और मनमानापन नंगा कर देता है। भाँति-भाँति की जातियों के आधार पर भाँति-भाँति के कानून चलाकर यही होना है।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि आदमी जब भीतर से नंगा हो जाता है, तो फिर

उसकी नंगई को आकाश भी नहीं ढांप पाता। राजनीतिक दल नंगे हो गये हैं, तो जरूरी नहीं कि सर्वोच्च न्यायालय भी यही रास्ता पकड़ ले। जीवन में ऐसे महान् क्षण बार-बार उपस्थित नहीं हुआ करते, जबकि यह तय करना हमारे हाथों में होता है कि हम आलोक रच देना चाहेंगे, या अंधेरा बढ़ाना। न्याय और स्वाधीनता की सुगंध बिखेर देना चाहेंगे, या कि दूर तक दुर्गंध फैला देना। ऐसे दुर्लभ अवसर आदमी के जीवन में बार-बार नहीं आते, जबकि वह अपना विधाता स्वयं हो जाता है। सत्य को प्रकट करने का सबसे उपयुक्त अवसर तभी होता है, जब व्यक्ति न्याय के आसन पर विराजमान हो।

सच ही सारे जगत का आत्मतत्त्व है। संविधान का भी। हमारे माननीय न्यायाधीशों के पास पूरा-पूरा अवसर है कि वो हमें भी आलोकित कर सकें। धर्म, मजहब और जातियों की कूटनीति में लहलुहान हो चले देश को सचाई के अभी भी अपने में विद्यमान होने की सांत्वना दे सकें।

आदमी सदैव त्रिमित नहीं होता। उसे स्वयं को पूरे देश-काल के साक्ष्य में प्रगट और प्रतिबिम्बित कर सकने के अवसर सदैव सुलभ नहीं होते। इसीलिए आदमी की पहचान इसमें नहीं होती कि वह कहाँ, किस स्थान पर विराजमान है। आदमी देखा जाता है इस एक बात से कि उसमें सचाई विद्यमान है कि नहीं। अगर नहीं, तो उसके न सर्वोच्च न्यायालय में विराजमान होने की कोई प्रासंगिकता होगी और न ही राष्ट्रपति भवन में। अगर सचाई है, तो आदमी धूल-धक्कड़ के बीच भी सुकराता हो जाता है और लंगोटी में भी महात्मा गांधी।

वर्ग को ही जाति, या कि जाति को वर्ग, ब्रह्मा भी सिद्ध नहीं कर सकते; क्योंकि झूठ को सच सिद्ध करना असम्भव है। झूठ को सच साबित कर दिखाने के करिश्मे में मायासरोवर रचा तो जा सकता है, लेकिन टिकता नहीं। जल को थल या थल को जल साबित करने की कीमत वसूलने वालों को इतिहास कभी नहीं बख्शाता। जातियों और वर्गों का मायाजाल बिछाने वालों को भी इतिहास से साबका पड़ेगा जरूर!

देखना है कि अंततः सर्वोच्च न्यायालय क्या करता है। वहाँ से सत्य प्रकट होता है कि झूठ।...क्योंकि जब तक सर्वोच्च न्यायालय की सरणियाँ धर्म, मजहब और जातियों की राजनीति को खुली रहेंगी, तब तक 'मायासरोवर' भी मौजूद रहेगा, और लोग जाति की जगह वर्ग तथा वर्ग की जगह जाति—अर्थात् जल की जगह थल और थल की जगह जल के धोखे में खुद की दुर्गति कराएंगे जरूर!

□□

[‘दैनिक जागरण’ : 19 जून 1992]

अल्पसंख्यक आयोग, याकि विशेष धार्मिक आयोग ?

जिस अल्पसंख्यक आयोग को अब बाकायदे संवैधानिक मान्यता प्रदान किये जाने की मुहिम सरकार चला रही है, वह 'संख्या' के हिसाब से राजनीति चलाने के षड्यंत्र की उपज है। तब यह सवाल अखिर कब तक और क्यों नहीं उठाया जाना चाहिये कि मजहबी मामलों में 'संख्या गिनने' का मतलब क्या होता है ?

इस सवाल की प्रासंगिकता, और जरूरत, 15 अगस्त 1991 के बाद और अधिक है; क्योंकि तथाकथित स्वाधीनता के इस पैतालिसवें राष्ट्रीय पर्व पर नवनियुक्त प्रधानमंत्री नरसिंह राव जी ने धर्मनिरपेक्षता की रक्षा किये जाने का सकल्प इतने दृढ़ और खुले शब्दों में शायद पहली बार घोषित किया है।

जाहिर है कि यह सब सिवा सफेद झूठ के कुछ नहीं; क्योंकि बहुधर्मी संविधान और धर्मनिरपेक्ष राज्य, इन दोनों के बीच बहुत गहरा फासला हुआ करता है। अगर कोई इस फासले को ओझल, या अंतर्धान बनाने की चतुरता बरते, तो सवाल जरूरी होगा कि जिनकी सारी राजनीति जाति-मजहब के हिसाब से संख्या के जोड़-तोड़ पर टिकी हो, उनका धर्मनिरपेक्ष राज्य की छाया तक से कोई वास्ता आखिर सम्भव कैसे है ?

कहना जरूरी क्यों हो कि ब्रिटिश साम्राज्य की बिरासतदारी ने ही भारत की राजनीति में 'संख्या' की कूटनीति को, आज तक ज्यों-का-त्यों बरकरार ही नहीं रखा है, बल्कि अब वह मुकाम ज्यादा दूर नहीं, जबकि इस राष्ट्रघाती राजनीति का ठीक वही दुष्परिणाम फिर सामने आने ही वाला है, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सिकुड़ने को लाचार नभिमंडल में से प्रकट हुआ था। अर्थात् पाकिस्तान !

हो सकता है इस बार के पाकिस्तान की शक्ल पहले से भिन्न हो, लेकिन होगी ज्यादा भयानक; क्योंकि अंतःवासियों की मार हमेशा अधिक गहरी होती है।

फासला धरती और आसमान में भी होता है, सिर्फ धर्मनिरपेक्ष राज्य और धार्मिक संविधान में ही नहीं, लेकिन एक फासला सबको खुला और सृष्टि को सम्भव बनाने वाला है, लेकिन दूसरे फासले पर 'सत्यमेव जयते' की झूठी मोहर, अर्थात् झूठ को सच्चे रूप में चलाने की चतुरता। यह सवाल अब राष्ट्रहित में अपरिहार्य हो चुका कि धार्मिक कानूनों के आधार पर शासन चलाने वाली राज्य व्यवस्था के द्वारा धर्मों में

हस्तक्षेप नहीं करने के संकल्प का मतलब क्या होगा ?

जिस सरकार मे से ही उत्पन्न गैरसरकारी प्रतिष्ठान को 'अल्पसंख्यक आयोग' की संज्ञा देकर, हमारे अनेक प्रधानमंत्रीगण खुद की शक्त 'अल्पसंख्यकों' के हातिमताई की निकालना चाहते रहे हैं, यह एक ऐसा खतरनाक राजनीतिक जाल-बड़ा है, जो कधों से कटे देश को अब मर्मस्थलों से तोड़ने का काम करेगा। इसके एक नहीं, अनेक पेंच है और इनका खुलासा जरूरी होगा।

पहली बात, जैसे धार्मिक कानूनों को निजी कानूनों की शक्त में संविधान में शामिल किया गया, ठीक उसी चतुर प्रणाली से शुद्ध 'धार्मिक आयोग' को 'अल्पसंख्यक आयोग' के मुखौटे में संवैधानिक मान्यता दिये जाने की बात की जा रही है।

तय है कि यह संख्या को मजहब और मजहब को संख्या में बदलने का करिश्मा देश की एकात्मता को चीथड़ा करके छोड़ेगा; क्योंकि अल्पसंख्यक बनाम बहुसंख्यकों का यह समीकरण, कुल मिलाकर, भारत की उस मूलभूत प्रकृति को नष्ट करने का एक अत्यन्त ही गंभीर षडयंत्र है, जिसके बारे में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के इतिहासकार विन्सेन्ट स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'भारत का इतिहास' में भावविभोर होकर लिखा कि —

‘भारत में जातीय (मूलभूत) एकता की एक ऐसी अन्तःसलिला बहती है, जो इतनी गहरी है कि वैसी एकता कैसा भी शक्तिशाली भौगोलिक अथवा राजनीतिक प्रभुत्व भी उत्पन्न नहीं कर सकता। रक्त, रंग, वेश और रीति-रिवाजों की असंख्य विषमताओं को यह अंतर्धारा लांधती चली जाती है।’

अल्पसंख्यक आयोगों का सारा जालबड़ा भारत की इस एकता को संख्या की कूटनीति से तोड़ने के इरादे में ही है। नहीं तो इतना अनाड़ियों को भी पता होना ही चाहिये कि सरकार का लोगों को कानून, शिक्षा और संरक्षा के मामलों में जत्थों में बांटना, उनको हवा-पानी में अलग-अलग करने से कम खतरनाक नहीं। क्या सरकार इस बात को बाकायदे स्वीकार कर चुकी कि बिना अलग-अलग आयोग बनाये वह अल्पसंख्यकों को संरक्षा कतई नहीं दे पायेगी? क्या सरकार ने अपने प्रशासनिक ढांचे के पूरी तरह नाकारा हो चुके होने का साक्षात्कार कर लिया है?

क्यों नहीं सरकार का गरेबान पकड़कर पूछना चाहिये देशवासियों को कि आखिर जाति और मजहब के संवैधानिक द्वीपों के अविष्कार की इस मक्कारी का तर्क क्या है? इस दोमुंहेपन की असलियत क्या है कि एक तरफ आपसी सद्भावना और एकजुटता का आह्वान करना और दूसरी तरफ शिक्षा, भाषा तथा कानून में जाति, मजहब तथा संख्या का गणित बिठाते हुए, लोगों में वैमनस्य की आग फूँकना? भूलना नहीं चाहिये कि संख्या का गणित जाति और मजहब के हिसाब से जब भी बिठाया जाता है, लोगों का जानवरों की शक्त देने के लिये ही। बंदोबस्त में भेदभाव के लिये संख्या के हिसाब से अलग-अलग गिनती सिर्फ जानवरों की ही की जाती है।

इस सच्चाई से बेसरोकार होना ठीक नहीं कि जो कानून में एक नहीं हों, वो

किसी भी बात में एक नहीं हो सकते और कभी नहीं, कदापि नहीं हो सकते ! 'हिन्दू-मुस्लिम, सिख-ईसाई — आपस में सब भाई-भाई' के पाखण्ड के उद्गाता कुटिल राजनेताओं ने संविधान में ही ऐसी व्यवस्थाएं कर छोड़ी हैं कि ये कभी एक नहीं हो सकते ।...और एक नहीं होने देना है — किसी कीमत पर एक नहीं होने देना है — हमारी मौजूदा राजनीति का एकमात्र लक्ष्य भी यही है; क्योंकि राजनीति के शतरंजकार इस सचाई से भलीभांति अवगत हैं कि जिस दिन भारत में हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई और पारसी आदि के बीच एका हो गया, इनकी प्रभुसत्ता का लाल किला सड़क पर लोट रहा होगा और तब देश के ससाधनों की पिड़ारियों से भी खतरनाक ढग से लूट-खसोट में जुटे पड़े लोगों को राजनीति में कोई जगह रह नहीं जायेगी ।

अगर देश में 'बहुसंख्यक आयोग' बने होते, तो अल्पसंख्यक आयोगों की बात समझ में आ सकती थी । अगर संविधान में कथित सर्व ऊँची जातियों को आरक्षण दिया गया होता, तो कथित पिछड़ी-निचली जातियों के लिए आरक्षण का तर्क दिया जा सकता था । लेकिन हमारी मौजूदा राज्यव्यवस्था तो धृतराष्ट्र से भी कहीं ज्यादा अधी है ।

लोगों को जाति और मजहब के दायरों में बाकायदे संवैधानिक स्तर पर बांटना, यह जाति और मजहब की राजनीति खेलने के सिवा कुछ नहीं, लेकिन इतनी मोटी-सी बात इस देश के बड़े-बड़े विद्वानों तक की समझ में नहीं आ पाती । राजनीति में जो विकृतियाँ पनपी हैं और झूठ का महाजाल पसरता गया है, इसके मूल अपराधी ये विद्वान ही हैं, जो सोने-चादी के कटोरों के लिए राज्यव्यवस्था के सारे सफेद झूठों से तोतो की तरह आख पलटकर बैठ गये हैं । अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के एक ही झटके ने देश के सारे मूर्खन्य अर्थशास्त्रियों की पोल ठीक वैसे ही उघाड़कर रख दी, जैसे 1975 में आपातकाल ने देश के लगभग सारे तथाकथित स्वातंत्र्यचेता साहित्यकारों, पत्रकारों और कलाकारों के चेहरों ही नहीं, बल्कि आत्मा तक की चमक को नष्ट कर दिया था ।

लोकतंत्र में सवाद की सत्ता सबसे ऊपर होती है, लेकिन राजनीति ने सिर्फ विवाद के रास्ते खुले रख छोड़े हैं । सवाद को राजनीति की तरफ से सदा-सर्वदा के लिए खत्म कर दिया गया है । यह कारण है कि इस देश में अब स्व० श्रीमती गांधी, संजय गांधी और राजीव या राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह, चन्द्रशेखर अथवा नरसिंहराव जी से बड़ा विद्वान कोई नहीं रह गया । मजहब और जाति की राजनीति खेलने वाले ही धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय के मुखौटों की चमकार बिखेरते घूम रहे हैं और उनसे यह सवाल पूछने की ताब किसी में नहीं कि इनके मुखौटे चेहरों से इतना चिपक क्यों गये हैं ?

देश को अल्पसंख्यक और बहुसंख्यकों में बांटना ही इन दोनों के लिए

पृथक-पृथक मुल्कों को अपरिहार्य सिद्ध करना है; क्योंकि किसी भी एक देश में स्वयं उसके बाशिंदों के लिए ही, अलग-अलग कानूनों की हकीकत सिवा इसके कुछ नहीं होती कि आखिर-आखिर उसका नक्शा फटेगा जरूर; क्योंकि जो कानून में दोफाड़ हों, वो काव्य में एक कभी नहीं हो सकते। राज्य जब नैतिक आधारों पर समान कानून बनाता है और समभाव से उन्हें बरतता है, तभी नागरिकों को वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त होती है और स्वाधीनता ही काव्य को सम्भव करती है। जीवन में भी। कागज पर भी।

समाज की एकात्मता ही देश की सर्वोच्च महाकाव्यात्मकता होती है। दोमुँहे कानून देशरूपी महाकाव्य को चीथड़ा कर डालते हैं।

अल्पसंख्यक आयोगों की बुनियाद में कानून का दोमुँहापन ही काम कर रहा है। जिस देश का संविधान ही दोमुँहा हो, वहां राष्ट्रीय या सामाजिक समरसता अथवा एकात्मता की बात करना बेवकूफों के मुँह पर इस तर्क से चपत जड़ते चलने का मजा लूटने के सिवा कुछ नहीं कि इससे तुम्हारी आँखों में चमक पैदा होती रहेगी।

‘अल्पसंख्यक आयोग’ को संवैधानिक मान्यता प्रदान करने की व्याकुलता दिखाते हुए, सरकार को एक-न-एक दिन इस सवाल का जवाब भी देना ही होगा कि जब एक धर्मविशेष के लोगों के लिए पृथक आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था या सुरक्षा आयोग बनाया जा सकता है, तो अन्य सभी धर्मों और जातियों के लिए भी ऐसे ही अलग-अलग विशेष आयोग नहीं बनाये जाने का तर्क क्या होगा? जाहिर है कि अल्पसंख्यक आयोग को वैधानिक मान्यता की पेशकश के पीछे अल्पसंख्यकों की राजनीति खेलने के सिवा और कोई इरादा कतई नहीं।

डंके की चोट पर सरकार हिन्दू, मुसलमान, सिख या ईसाईयों को आपस में कभी एक नहीं होने देने की खतरनाक साजिशें करती चली जा रही है और विद्वान् खामोश हैं; क्योंकि उन्हें जीभ बांधे रखने की कीमत चुकाई जा रही है। अन्यथा कौन नहीं जानता कि आदमी को बांटना ही देश को दोफाड़ करना भी है; क्योंकि आदमी और देश एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जगह का विस्तार ही देश है और आदमी का विस्तार ही समाज। इस विस्तार को अलग-अलग नक्शों में बांटना, आदमी और देश, दोनों को तोड़ना है।

क्या यह अकारण है कि भारत की राजनीति में देश की अवधारणा तक से इंकार दिखाई पड़ता है? जी नहीं, सरकार जानती है कि देश की अवधारणा स्पष्ट करने का मतलब अपने को नगा कर लेगा होगा; क्योंकि तब दोमुँहे कानूनों की सफाई भी देनी जरूर पड़ेगी और आखिर इस सच्चाई को स्वीकार करने की नौबत आयेगी जरूर कि संविधान को जाति और धर्म के हिसाब से तैयार करवाया गया है, देश के नहीं।

अल्पसंख्यक आयोगों का सीधा मतलब किन्हीं खास समुदाय के लोगों को

मजहब-के आधार पर अलग से रियायतें दिये जा रहे होने का आश्वासन फैलाना है। यह खुद की रहमत को अलग-अलग मजहब और जातियों के हिसाब से फैलाते घूमना ही पृथक्तावाद की गंदी राजनीति खेलना है। कथित अल्पसंख्यकों को यह बताना है कि बहुसंख्यकों से तो तुमको हमेशा खतरा ही रहेगा, लेकिन इन सारे खतरों से बचाने को हम यहां मौजूद हैं !

यह मजहब और जातियों के संरक्षक ठेकेदारों की हैसियत से मौजूद होना ही समाज के साथ विश्वासघात करना, राष्ट्रीयता की मुख्यधारा को धर्म-जाति की राजनीति की रेत से पाटना और देश के नक्शे को इतने पेंचों में फंसाना है कि आखिर कोई और आकिस्तान-पाकिस्तान इसमें से फिर निकाल लिया जाए, तो ब्लूस्टार ऑपरेशन की तरह ही राष्ट्र की अखण्डता, एकात्मता और समरसता के लिए अपरिहार्य साबित होकर रहे।

कौन नहीं जानता कि अल्पसंख्यक आयोग की सारी आवधारणा मुसलमानों की राजनीति के ठेकेदारों के लिए माल-मत्ते और भत्ते के जुगाड में है। जाहिर है कि इस सारे पाखण्ड के पीछे सत्ता के पाये मजबूत करते चलने का पड़यंत्र मात्र है। यहां तक कि यह स्वयं मुसलमानों के हक में भी नहीं, अगर कि इरादा फिर मजहब के हिसाब से अलहदा मुल्क मांगने के उसी नुस्खे पर अमल के रास्ते निकालना नहीं हो, जिससे कि पाकिस्तान पैदा किया गया।

अल्पसंख्यकों को लगातार यह बताना कि बहुसंख्यकों से उन्हें सिवा खतरों के और कुछ नहीं मिलना, यह हरहाल में हिन्दू और मुसलमानों के बीच में जहर बोते फिरना है। यह, प्रकारांतर से, सरकार के परकोटों के भीतर गमानांतर, अर्थात् संविधानेतर, सत्ताकेन्द्र खोलते चलना है, ताकि अल्पसंख्यका का अपने जाल में फंसाया जा सके। हिन्दुओं में मुसलमानों और मुसलमानों में हिन्दुओं के विरुद्ध नफरत बोते और पकाते घूमना राष्ट्रीय नहीं, बल्कि औपनिवेशिक राजनीति करना है।

अल्पसंख्यक आयोग की कुल जमा हकीकत इतनी ही है कि देश के बाशिदों के आपस में एक हो सकने के जितने भी रास्ते हो सकते हों, उन सबको बंद कर दिया जाय। अन्यथा एक ही देश के वासियों के लिए अलग-अलग प्रणालियों से व्यवस्था करते घूमने का तर्क क्या होगा ?

जिस राज्य व्यवस्था के संविधान में ही भांति-भाति के मजहबी और जातिव गूमड़ मौजूद होंगे, वहां राष्ट्रीय एकात्मता की शक्ति क्या निकलेगी और कितनी भयावह, इस बात से अगर देश की बौद्धिक तथा राजनीतिक पार्टियां समान रूप में बेसरोकार मिलें, तो यही कहना होगा कि शायद, इस बूढ़े देश के आखिरी दिन नज़दीक आ चुके हैं; क्योंकि यह अल्पसंख्यक बनाम बहुसंख्यकों की राजनीति का खेल आखिर-आखिर देश का नक्शा फाड़कर ही रहेगा।

जहां तक अल्पसंख्यकों की असुरक्षा का सवाल है, इसे बहुसंख्यकों नहीं, बल्कि काँग्रेस तथा कट्टरपंथी मुस्लिम नेतृत्व ने अपने-अपने स्वार्थों के लिए हौवा बनाया हुआ है। अगर कथित बहुसंख्यकों (अर्थात् हिंदुओं) से अल्पसंख्यकों को खतरा होता, तो यह सबसे ज्यादा ईसाइयों और पारसियों को होता। सिखों को भी खतरा अल्पसंख्यक नहीं, बल्कि खालिस्तावादी होने के कारण हुआ। उन पर हमले बहुसंख्यकों ने नहीं किये, बल्कि कथित बहुसंख्यकों, अर्थात् सिर्फ हिंदुओं को बसो-ट्रेनों तक से उतारकर मारना खालिस्तानवादियों ने शुरू किया और आखिर श्रीमती गांधी के जाल में फंस गये।

बहुसंख्यकों से खतरा होने की सारी व्याकुलता उन्हीं में दिखाई पड़ेगी, जो देश का नक्शा फाड़ने में ईमान रखते हों। अन्यथा सरकार के मौजूद रहते, गिनती में सिर्फ साढ़े तीन लोगों को भी खतरा क्यों हो ?

अल्पसंख्यकों के लिये अलग इतजाम का मतलब है, उनके लिये अलग मुल्क की जरूरत को जरूरी साबित करना। विशेष धार्मिक आयोग यही काम करेंगे।

□□

[जागरण : 6 सितम्बर 1991]

सत्ता की भानुमती का पिटारा—दूरदर्शन

अगर हम सवाल में जायें कि आखिर 'भानुमती के पिटारे' की परिभाषा, या खासियत, क्या रही होगी ? तो कुल मिला कर इसी नतीजे पर पहुंचेंगे कि—ऐसी रंगारंग वस्तुओं का पिटारा, जो दूसरों को लुभाती तो हो, लेकिन हक में इस्तेमाल हो सके, सिर्फ 'पिटारे की मालकिन' के !

भारत सरकार और दूरदर्शन के बीच रिश्ता वही है, जो कभी भानुमती और उसके पिटारे के बीच रहा होगा ।

कहना मुश्किल होगा कि भानुमती ने दूरदर्शननुमा किसी 'जंत्र' की परिकल्पना में खुद के पिटारे का आविष्कार किया था, या कि भारत सरकार ने भानुमती के पिटारे के करिश्मे को ध्यान में रखते हुए 'मूर्खपिटारा' कहे जानेवाले इस 'दूरदर्शन' को खुद अंगीकृत और हमें अर्पित किया है—लेकिन चरित्र की एकरूपता में 'हाथ कंगन को आरसी क्या' है । भानुमती का पिटारा और दूरदर्शन—इन दोनों के बीच फर्क भी सिर्फ क्षेत्र और क्षमता के अनुपात का है । चरित्र, उद्देश्य या प्रक्रिया के मामले में कोई खास फर्क नहीं । भानुमती का क्षेत्र सरायों-चौराहों से लेकर गांव-मुहल्ले, या ज्यादा-से-ज्यादा कस्बों तक रहा होगा—भारत सरकार का आसेतु हिमालय पूरब-पश्चिम तक विस्तीर्ण है । दूरदर्शन की जो भूमिका खासतौर पर नेल्ली नरसंहार, ऑपरेशन ब्लूस्टार और भू. पू. प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या के समय में सामने आयी, वह भानुमती के पिटारे से कुछ अलग कहीं ले जाती है, तो दशमुखी रावण के वीणा-वादन और वेद-पाठ के दृष्टांत में ही ।

अब यहां थोड़ा तर्क में जाना जरूरी होगा कि महामना मार्क्स के इस सैद्धांतिक लटके में कुछ नहीं रखा कि—'आदमी ही वस्तुओं का इस्तेमाल नहीं करता, बल्कि वस्तुएं भी आदमी को इस्तेमाल करती हैं' । वस्तु में (भी) चेतना के प्रत्यारोपण का यह कंठसिद्धांत इस वैज्ञानिक तथ्य को ताक पर रख देता है कि—वस्तुओं में स्वयं के परिचालन की चेतना असंभव है: क्योंकि उनमें वैसा ऐंद्रिक विन्यास नहीं । इस्तेमाल या परिचालन मूलतः चेतना के तथ्य हैं और चेतना की प्रक्रिया और चेतना का अनुपात ही 'इस्तेमाल या परिचालन के अनुपात' को भी तय करता है । इसलिए 'दूरदर्शन'—जैसी वस्तु के प्रसंग में कुछ भी कहते समय यह ध्यान रखना जरूरी होगा कि—'फूल रखो, तो फूलदान और धूको तो उगलदान,' की नियति से बरी यह नहीं । यानी सवाल दूरदर्शन

के स्वयं में ही लोककल्याणकारी, या अनिष्टकारी होने नहीं, बल्कि इसके इस्तेमाल का है और इस्तेमाल की प्रकृति तय होती है — उद्देश्य से ! यह बात दीगर कि परिणाम विपरीत भी हो सकता है ।

संरक्षा और नरमेध, अस्त्र-शस्त्रों से पहले, उद्देश्य के सवाल हैं । उद्देश्य के सवाल से बरी कोई नहीं, भारत सरकार यदि दूरदर्शन का इस्तेमाल राष्ट्र की चेतना को विरूप बनाने के उद्देश्य में कर रही है, तो यह, इस माध्यम की नहीं, भारत सरकार के चरित्र की देन है । सरकार के चरित्र को हाशिये पर रख कर दूरदर्शन की खूबियों, या खामियों पर विचार करना भानमती को आख-ओझल करके, सिर्फ उसके पिटारे पर मत्थाफोड़ी करना होगा, इतनी बात अगर ध्यान में रहे, तो यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जायेगा कि इस देश के शासनतंत्र को चलानेवाली व्यवस्था, भारत सरकार जिसकी एक शाखा-मात्र है, दूरदर्शन का भी इस्तेमाल अपने चरित्र के अनुरूप ही कर रही है !

जैसे चोरो को अंधकार चाहिए, आलोक नहीं — शोषण-उत्पीड़न पर कायम व्यवस्था को भी 'चेतनागत अंधाकुप्प' निर्मित करना होता है । दूरदर्शन का सारा मौजूदा मायावी रंगवितान इसी चेतनागत अंधाकुप्प का सुनियोजित षडयंत्र है । रंडी की आंख भी सिर्फ जेब तक जाती है, लेकिन साम्राज्यवादी व्यवस्था आदमी की चेतना को उजाड़ने से कम में विश्वास नहीं रखती । वेश्या संवेदनशील भी हो सकती है, यहाँ तक कि करुणामयी और कल्याणी भी — महान् उपन्यासकार शरदबाबू इसके गवाह हैं — लेकिन औपनिवेशिक व्यवस्था संवेदना को भी सिर्फ व्यवसायिक और राजनीतिक उपयोगिता की दृष्टि से ही देखती है । ज्यों-ज्यों कोई व्यवस्था विकृत होती है, आदमी की चेतना का सवाल उसे और ज्यादा काटता जाता है । इस देश की मौजूदा व्यवस्था का जो चरित्र है, आर्थिक साम्राज्यवाद की राक्षसी वुभुक्षा में वह बर्बर नरमेधों तक को राष्ट्रीय अखंडता की अपरिहार्य शर्त सिद्ध करने के जिस मुकाम तक आ पहुँची है — चेतना का सवाल ही उसे सबसे मारक संकट दिखाई पड़ना बिल्कुल स्वाभाविक है; क्योंकि इतना तो सच है कि जो-कुछ भी आदमी सही-सही देख और समझ सकता है, आंख और चेतना, दोनों से देखने पर ही !

चेतना जाती रहे, तब आंखें सिर्फ 'रूप' देख पाती हैं, 'चरित्र' नहीं । राम ने यदि शूर्पणखा का सिर्फ रूप देखा होता, चरित्र नहीं, तब उस 'रूप में अनन्य रूपमती अरण्यसुंदरी' के नकछेदन की नौबत ही कहाँ आती ? यह व्यवस्था भी अपने चरित्र के दैत्य-रूप को भलीभाँति जानती है और इसीलिए 'नाक-कान का संकट' इसे भी सांसत में रखता है । दूरदर्शन इसका एक ऐसा कारगर नुस्खा है, जो 'चरित्र' के सवालों से बेखबर करोड़ों लोगों को 'रूप' के मीना-बाजारों में अटकाये रखे ! आज जो इस देश के बशिंदों की नियति व्यवस्था के मकड़जाल में भिनभिनाती मक्खियों से ज्यादा नहीं, दूरदर्शन लोगों को उनकी इस दयनीय नियति से बेखबर रखने का ही एक अचूक

उपाय है। 'मूर्ख पिटारा' भी यह इसी अर्थ में है कि—इसे मूर्खों के द्वारा नहीं, बल्कि मूर्खों के लिए चलाया जाता है।

हालांकि इतिहास बताता है—खास तौर से वाङ्मय —कि अंततः सबसे बड़े मूर्ख वही साबित होते हैं, जो दूसरों को मूर्ख बनाना ही सबसे बड़ा काम समझते हैं।...लेकिन इस बीच जो ठगे जा चुके होते हैं, उनका दुख सामान्य नहीं होता।

इस तथ्य को भी हमें ध्यान में रखना होगा कि ठग ठगता है, लूटता नहीं, अगर कबीर ने माया, को लुटेरी नहीं, 'ठगिनी' कहा, तो चरित्र का कुछ ज्ञान होने के कारण ही कहा। जो भी माल बेचता है, दिखा कर बेचता है, बेचने में ही दिखाना छिपा है। जिनके हाथों में हमारी व्यवस्था है, वो सिर्फ खरीदने-बेचने नहीं, विनिमय में भी उस्ताद हैं, दूरदर्शन ये दोनों कार्य करता है। यह हमें वस्तुओं को दिखाता है। अब तय करना हमारे विवेक का सवाल है कि वह सच दिखा रहा है, या झूठ। मनोरंजन की बूटी के विनिमय में कोई अगर हमारी चेतना ही उठाये चला जा रहा है, तो यह भी देखने की ही बात है। हमारे मस्तिष्क, हृदय और चेतना में से, अस्तित्व के सवालों को समेटता हुआ, मूर्ख-पिटारा यदि अपसंस्कृति की गद यहा छोड़े जा रहा है, तो यह भी खुद हमारे देखने, या दिखने की वस्तु है।

हम वस्तुओं को उनकी ठीक-ठीक छान-फटक के बाद ही ग्रहण करने के विवेक से शून्य हैं, हम दूसरों के हित में ही अपना भी हित देखने की दृष्टि गंवा बैठे हैं, या हमारी संवेदना को ही सांप सूँघ गया है, तो यह भी खुद हमारे तय करने की बात है कि दूरदर्शन इसमें क्या करेगा? जिनकी चेतना सुन्न और संवेदना उजाड़ हो चुकी हो, उनको कहां इतना दिखाई पड़ेगा कि दूरदर्शन व्यवस्था की गंद को हमारे अंतरंग ओने-कोने तक फैलाने, और इस प्रकार हमें हरित तृण चरते बलि-पशुओं की तरह व्यवस्था के पंजों के और नजदीक खींच लाने, का अचूक उपाय है;

आदमी इस भौतिक जगत की सबसे बड़ी नियामत यों ही सेंटमेंत में नहीं। वह चीजों को सिर्फ नजदीक से ही नहीं, दूर से भी—बाहर से ही नहीं, भीतर से भी, और सामने ही नहीं, चारों आयामों में—देखने का मुरीद और अभ्यासी है। जब नजदीक से वस्तु को ठीक-ठीक जांचना मुश्किल हो जाये, तो आदमी तत्काल उतने फासले पर चल देता है, जहां से धोखा न खा सके। लेकिन तभी, जबकि चेतना और संवेदना बरकरार हो। आँखों में सिर्फ 'नजर' ही नहीं, बल्कि 'दृष्टि' भी हो। दूरदर्शन हमें हमसे तो दूर, लेकिन व्यवस्था के इतने नजदीक घसीटता जा रहा है कि हमारा आदमी होना ही घपले में पड़ गया है और हम मुखौटे तथा चरित्र के बीच के फासलों को तय करने की अपनी सनातन आदत छोड़ रहे हैं। हम वस्तुओं के रूप और गुण, स्थान और काल, संदर्भ और प्रसंग के झरोखों से भी झांक कर देख लेने की जगह, सिर्फ उनकी बाहरी चमक-दमक और झलकियों में देखने के आदी होते जा रहे हैं। हमने जरा दूर हट कर

भी देख लेने की जहमत उठाना छोड़ दिया है; क्योंकि दूरदर्शन न जाने कितनी दूर-दूर की कौडियों को भी हमारे बिल्कुल नजदीक पहुंचाये चला जा रहा है और हमें सिर्फ हाथ-भर पसार देने हैं !

दूरदर्शन सोच-विचार, संवेदना और चेतना के स्तर पर हमें भिखमंगों की कतार में बिठा चुका है, लेकिन हमें मुगालता यह है कि हम घर बैठे ज्ञान-विज्ञान की चेतना से सम्पन्न हो रहे हैं, जबकि आदमी को बिना खुद के उद्यम के रोटी भले ही घी में चुपडी मिल जाये, चेतना नहीं मिलती; क्योंकि चेतना सतत गतिशीलता की वस्तु है। चेतना आदमी को बिना पंखों के असीम उड़ानों में रखती है। जो उड़ेगा और बाहर-भीतर के अंतरिक्षों की थाह लेना चाहेगा, वह टकरायेगा भी जरूर —और आदमी की यही टक्कर व्यवस्था को सबसे भारी पड़ती है। हा, अलबत्ता, चेतना जोखिम की वस्तु भी है और दूरदर्शन चेतना की झंझटों से दूर रखने का इतना लासानी नुस्खा है कि हम चेतनाजड़ों को यही आनंदमय जीवन का 'सिद्धकवच' हो गया है। सामने उपस्थित हरीतिमा है। आखेटक का खांडा अभी दूर है —और यही दूरदर्शन है ! सोच-विचार, साहित्य-संस्कृति और चेतना की दुनिया से हमें दूर, बहुत दूर हटा देने के राष्ट्रीय षडयंत्र की उपज है यह व्यवस्था की भानमती का रंगारंग पिटारा — दूरदर्शन !

हम भूल चुके हैं कि एक से दूसरे का संवेदनात्मक रिश्ता कायम होना ही आदमी का समाज बनना है और एक-दूसरे से कोई सरोकार न रह जाना ही झुंड बन जाना। जो समाज नहीं, झुंड की नियति को प्राप्त हो जाते हैं, उन्हें कहा इससे कोई सरोकार रह जाता है कि झुंड में से किसको, कौन, कब उठा ले गया ! और कि जैसे अगल-बगल के, तैसे ही एक दिन हम भी उठा लिये जायेगे, और झुंड में तब भी भगदड़ चाहे जितनी मचे, जागृति कभी नहीं आयेगी। यह चेतना कभी भूल कर भी हममें नहीं जागेगी कि समाज निर्मित करना ही आदमी की हैसियत बनाना है और झुंड में रहना ही पशुनियति को प्राप्त होना। दूरदर्शन संवेदनजड़ों को झुंडों में इकट्ठा कर रहा है।

जो एक ही नियति में आबद्ध नहीं, उनका समाज होना असंभव है, इतना बाकायदे जानते हुए भी, हममें यह एक नितांत सामान्य सवाल कभी उदित नहीं हुआ कि क्या प्रभुसत्ता वर्ग और हम सामान्य भारतवासियों की नियति वास्तव में एक ही है ? जहां, जिस और जैसी नियति को हम प्राप्त हैं, वही क्या समानता की राष्ट्रीय चोंचलेबाजी के आविष्कारकों को भी समान रूप से अपनी जकड़ में लिये है ? जिस तरह हम सामान्य बाशिंदों की लाशें कतारों में रखे जाने की सामग्री हैं — इस सर्वप्रभुत्वसंपन्न देश की शस्य-श्यामला धरती की संतति की हैसियत से जिस तरह हम भुखमरी के निराकरण के अंतिम उपाय के रूप में अपने बच्चों-समेत कुंओं में कूदने की अपरिहार्यता से आबद्ध हैं — क्या ठीक इसी तरह इस महादेश के प्रभुसत्ता वर्ग के लोग भी ? जैसे अपने सारे जीवन-संघर्ष में हम पैसे के ठेकेदारों और शासनतंत्र

के नुमाइंदों की ठोकड़ों के हवाले हैं, क्या ऐसे ही सचमुच हमारे राष्ट्रीय कर्णधार और उनका लाटसाहबी लाव-लश्कर भी ? और यदि नहीं, तो आखिर हम किस राष्ट्र के निवासी हैं, और ये किस राष्ट्र के ?

पांच सितारा अय्याशगाहों में मत्तविलास करते ये थैलीशाह, राजनेता और राज्याधिकारी महोदय किस राष्ट्र के नागरिक हैं—और कदम-कदम पर अवमानना, प्रताड़ना, बेरोजगारी और बेकारी या नारकीय जीवन भोगते हम करोड़ों सामान्य जन आखिर किस राष्ट्र के ? हमने यह पशुओं से भी बदतर, दरिद्र और शर्मनाक जीवन अपने कर्मों से चुना है ? या कि हम इस गटर में उन राजनीतिक, बौद्धिक तथा आर्थिक ठेकेदारों के द्वारा धकेल दिये गये हैं, जो संप्रभुसत्तासंपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य की आड़ में भेड़ियातंत्र कायम किये बैठे हैं ? जो खुद को न्याय, कानून, नीति तथा कला-साहित्य के निर्द्वंद्व शहशाहों के स्थान पर रख कर; हमें न्याय, कानून, शिक्षा और जीविका के भिखंमगों के कतार में 'लाइन हाजिर' किये हुए हैं ? 'दूरदर्शन' पर क्या ये बुनियादी सवाल कभी किसी कोने में भी झलके हैं ?

आजादी के इन चालीस वर्षों में हम बेरोजगारी, कुशिक्षा, भ्रष्टाचार, आर्थिक शोषण, सांस्कृतिक पतन, प्रशासनिक उत्पीड़न और अस्मिता के पददलन के सारे ज्वलंत सवाल से बेखबर-बेसरोकार कर दिये गये हैं। सामाजिक-आर्थिक स्वाधीनता की चेतना नदारद है, लेकिन उपभोक्ता बाजारूपन की चकाचौंध में कोठे पर गावतकिये के सहारे मुजरा सुनते रईसों की तरह, चित्रहारों के 'जिंदा डांसों' का मजा लूटने को स्वतंत्र कर दिये गये हैं हम ! दूरदर्शन यदि अब भी स्वाधीन भारत का सबसे बड़ा राष्ट्रीय करिश्मा नहीं, तो और क्या है ! राष्ट्र की चेतनागत दुर्गति का यह आलम गुलाम भारत में कहा था, जो आज उपस्थित है ? हमने कहा न कि भानुमती अपना पिटारा हमें चिलमनंगा रखने को सजाती है। इस अखंड राष्ट्रीय भानुमती-जागरण से खबरदार रहना जरूरी है; क्योंकि हर वस्तु के दो छोर होते हैं। औरत के भी दो छोर हैं—एक चुड़ैल तक जाता है, दूसरा शक्ति तक ! दूरदर्शन—यानी भानुमती का पिटारा—हमें औरत के किस छोर तक ले जा रहा है ? 'लिमका-लिमका' चिल्ला कर, खुद की टांगों को नंगकूद में उघाड़ती नाजनीनों के रूप में औरत की कौन-सी अवधारणा उत्पन्न की जा रही है ?

औरत समाज की आधारभूत इकाई है। किसी भी राष्ट्र और समाज की चेतना को विकृत करने के लिए सिर्फ औरत की धारणा को विरूपित कर देना ही पर्याप्त है। दूरदर्शन समाज के इस सबसे बड़े आधार को ही नष्ट कर देने का अचूक उपाय बना लिया गया है; क्योंकि इतना यह व्यवस्था बाकायदे जानती है कि जिस भी समाज में औरत की सम्यक चेतना, वहां हर वस्तु की सही-सही चेतना भी जरूर होगी। 'जैसा दूध, तैसा पूत' यो ही नहीं कह दिया गया। हमारी मौजूदा व्यवस्था के द्वारा दूरदर्शन को दूध और पूत के बीच का फर्क मिटाने का औजार बना लिया गया है।

अगर हम स्त्री को सही-सही नहीं जानते, तो कुछ भी सही जानना असंभव है; क्योंकि इस भौतिक जगत को कुछ भी समझने, जानने और अनुभव कर सकने का प्रथम पाठ स्त्री से ही प्रारंभ होता है। जहां-जहां तक आदमी की चेतना, वहां-वहां तक स्त्री की व्याप्ति है। मनुष्य को स्त्री ही प्रथम है, स्त्री ही मध्यमा और स्त्री ही अंतिम ! आदमी के जीवन का कोई भी पक्ष नहीं, जो बिना स्त्री का हो !...क्योंकि स्त्री सिर्फ शरीर ही नहीं, तत्त्व भी है।—जहां वह साक्षात् नहीं, वहाँ स्मृति में होती है। संन्यास भी स्त्री के बिना नहीं। गृहस्थी तो, खैर, गृहस्थी हुई।

स्त्री के बिना स्वाधीनता की चेतना ही असंभव है। संवेदना से ले कर शौर्य तक, पुरुष का सर्वोत्तम स्त्री के निमित्त से प्रकट होता है। ऐसे में ध्यान देना जरूरी होगा कि भारत सरकार का दूरदर्शन हमारे समक्ष स्त्री को किस रूप में उपस्थित कर रहा है ? भानमती के इस पिटारे में स्त्री की छवि क्या है ? और क्या है—‘थम्स अप’ की खपत बढ़ाने में स्त्री की टांगों के इस्तेमाल की हकीकत ?

जहां स्त्री का रूप तो सोलह श्रृंगार या अधनंग अभिसार की वस्तु हो, लेकिन चरित्र नदारद—वहीं ‘शूर्पणखा’ की अवतारणा होती है। दूरदर्शन के माध्यम से हमारी मौजूदा भारत सरकारें इसी मायावी सृष्टि का करिश्मा कायम किये हुए हैं। व्यवस्था इतना बिल्कुल जानती है कि जिनमें स्त्री की चेतना होगी, उनमें स्वाधीनता से लेकर जीविका और मस्तिष्क से लेकर पैरो तक की भी सही-सही चेतना होगी, वे इतना समझते देर नहीं लगायेंगे कि जो उनका सबसे बड़ा नैतिक और सामाजिक आधार है, उसे ही बाजारू पण्य वस्तु की नियति में धकेल कर इस महादेश की तथाकथित राष्ट्रीय संप्रभुतासपन्न सरकारें आखिर करने क्या जा रही हैं ? क्या है आखिर इस बहुश्रुत मूर्खपिटारे को एक-एक तक पहुंचा देने की राष्ट्रीय योजनाओं की हकीकत ?

स्त्री को बाजारू वस्तु बनाना ही आदमी की चेतना को बाजारू बनाना है और जो-कुछ बाजारू है, वह खरीद-फरोख्त की वस्तु है। दूरदर्शन अपने मौजूदा स्वरूप में, आदमी की चेतना को बाजारू बनाने का सर्वोच्च राष्ट्रीय नुस्खा है।

दूरदर्शन, फिलहाल, सरकारी मशीनरी के माध्यम से पूरे राष्ट्र में एक संपूर्ण चेतनागत उजाड़ कायम करने का अप्रतिम नुस्खा है, और लोगों को राष्ट्र, समाज और मूल्यों के प्रति बेसरोकार और सुन्न बनाने की यह मुहिम दिन-प्रतिदिन तेज ही होती जाती है; क्योंकि जिसे अपना कोढ़ ढांकना हो, वह परिधान का गुलाम होता जाता है। हालांकि कोढ़ परिधान से नहीं जाता; क्योंकि वस्तु जहां और जिन कारणों से प्रकट होती है, वहीं उसके निदान के आधार भी संभव हैं। आदमी का चरित्र परिधान की वस्तु नहीं। इस जगत में हर कोई अंततः अपनी वस्तुगत नियति को ही प्राप्त होता है।

पहले कहीं प्रभुसत्तावर्ग और सामान्य जन की नियति के बीच की खाइयों का सवाल उठाया गया। यहां हम, थोड़ा तावा पलट कर, इतना और कहना चाहेंगे कि

चूँकि आदमी, इसी से इतिहास भी करवट बदलता है। जब आदमी सिर्फ शरीर से, तब कुछ खास नहीं, लेकिन जब चेतना में करवट बदलता है, तब न जाने क्या-क्या घटित हो जाता रहा है। इसलिए 'ईडियट बॉक्स'-प्रसारण के योजनामार्त्तडों को इतनी-सी बुनियादी बात जरूर ध्यान में रखनी चाहिए कि—दूसरों को मूर्ख बनाने का उद्यम ही खुद के मूर्ख होने का सबसे बड़ा सबूत हुआ करता है। पूरे राष्ट्र को बेवकूफ बनाने की पंचवर्षीय योजनाओं के चलते ही आज व्यवस्था और उसका राजनीतिक प्रतिष्ठान (भारत सरकार) भी उसी नियति की चपेट में है, जिसमें हमें धकेला गया।

आतंकवाद और संप्रदायवाद की आग की लपटें अब सिर्फ हमारे ही दर्ई-गिर्द नहीं रह गयीं। इसकी चपेट में धीरे-धीरे राज्यसत्ता के आंगन-पार के द्वार भी आ चुके। ऐसे में, परकोटों पर की आग से रंगभवनों को बरी मानने का मुगालता ठीक नहीं। प्रकृति के न्याय की बात देखें, तो आज हमारा प्रभुवर्ग भी असुरक्षा के उसी आतंक में जी रहा है, जिसमें हम। यही आदमी के नियति में एक होने का तर्क है। हमारी पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी भी ठीक वैसी ही निरुपाय मारी गयीं, जैसे सड़क पर का आदमी। वर्तमान प्रधानमंत्री के बच्चे भी वैसी ही असुरक्षा में घिरे हैं, जैसे सामान्य जनो के। प्रधानमंत्री को हम सामान्य नागरिकों के बच्चों का आतंक और असुरक्षा के बीच घिरा होना भले ही चिंता का विषय न लगे, हमें उनके बच्चों की असुरक्षा अपने लिए भी खतरे का निशान दिखायी देती है; क्योंकि मनुष्य नियति से ही प्रतिबद्ध, यानी एक-दूसरे से जुड़ा है। उसके साथ चीजों के घटित होने में सिर्फ स्थान, काल और प्रसंग का अंतर पड़ा करता है। जो दूसरों के साथ आज, उसका एक-न-एक दिन हमारे साथ घटित होना अवश्यम्भावी है। जो असम-पंजाब-कश्मीर में घटित हो, उससे इस देश का कोई भी हिस्सा बरी नहीं होगा।

दानव भी मानव की तरह ही विचरणशील है। हिंसा और आतंकवाद का चक्का सिर्फ अहिंसा की भूमि पर ही जाम पड़ता है। जबकि व्यवस्था और राज्य की हिंसा नागरिकों की हिंसा को जन्म देती है। जहां भी हिंसा और आतंकवाद का साया मंडरा रहा है, यह तथाकथित राष्ट्रीय सरकारों की सेंती हुई राजनीतिक फसल है। गांधी और बुद्ध की अहिंसा को कांस्यफलक के तौर पर सिर्फ दरवाजों पर जड़े जाने की वस्तु बना देने के दुष्परिणाम अब सामने आने लगे हैं।

एक बात, 'यहां हम अपने मूर्खन्य राष्ट्रीय पूंजीशाहों से भी जरूर कहना चाहेंगे कि सामान्य जन से ले कर प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति तक, सबके सब खतरे में हो सकते हैं, लेकिन ये तो राष्ट्रकी सबसे ऊंची बुर्ज पर विराजमान हैं—इस गलतफहमी में क्या रखा है? किसी भवन की सिर्फ ऊपरी मंजिलों पर संकट आये, तब निचली मंजिलों की बचत की गुंजाइश तो हो भी सकती है; क्योंकि तब निचली मंजिलों वालों को पुकारा जा सकेगा, लेकिन जब निचली जाती रहें, तब ऊपर की कहां टिकनी है?

हम तो सिर्फ इतना संकेत करना चाहते हैं कि नियति का चक्का सचमुच विलक्षण होता है, और इसमें फर्क सिर्फ स्थान और काल का है, यानी 'आज ग्वाले, तेरा बारी — कल ग्वाले, मेरी !...दूरदर्शन अगर देश-काल और समाज के सतत गतिमान चक्र के व्यवस्था और राज्यसत्ता के शिल्पकारों की तरफ घूमते होने को अपने रंगविलास की ओट में रखने का माध्यम है, तो इसे 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' के सिवा और कुछ कहने में सचमुच कुछ नहीं रखा ! दूरदर्शन का मौजूदा सिलसिला सिर्फ हमें ही चेतनागत उजाड़ और अंधाकुप्प में नहीं ले जा रहा । यह राष्ट्रीय नेतृत्व के 'धृतराष्ट्र' होने की गवाही भी दे रहा है ।

हमें इसमें विश्वास नहीं कि इतिहास अपने को कभी नहीं दोहराता, हम सिर्फ इतना मानना चाहेंगे कि ठीक उसी तरह से नहीं दोहराता । हमारी मौजूदा संसद में फिर वही महाभारत-काल उपस्थित है । देश के तमाम वैचारिक-बौद्धिक विभूतियों का फिर वही कौरव-दरबार वाला हथ्र है । दूरदर्शन के ज्यादातर कार्यक्रम देश, काल और समाज के सवालों से बेसरोकार बुद्धिजीवियों के चारित्रिक और वैचारिक दीवालियेपन की ही देन हैं । दूरदर्शन प्रजा और राजा, दोनों को अंधा साबित कर रहा है; क्योंकि ऐसी विकृति और गलाजत रहती आंखों के अंधों के बीच में ही कायम रह सकती है । श्रीमती गांधी की तीसरी पुण्यतिथि पर संसद सदस्य विद्वान बालकवि वैरागी ने दूरदर्शन पर हमें बताया कि श्रीमती गांधी ने सिर्फ खुद को ही नहीं, बल्कि अपने पूरे परिवार को 'स्वाहा' कर दिया !—एक बालकवि वैरागी जी को क्या कहिये । वो फिर भी लाख गनीमत हैं । अन्यथा ऐसे-ऐसे वज्रमूर्ख केंद्र में विराजमान हैं कि हैरत होती है ।

दूरदर्शन का सारा भदेस पूंजीवादी व्यवस्था के राजनीतिक नुमाइंदों की अपसंस्कृति-प्रसारण-नीति में ही अंतर्भूत है । साम्राज्यवादी, शोषक और उत्पीड़क व्यवस्था की गंद को खुशनुमा बना कर प्रस्तुत करने का यह 'राजनीतिक जंत्र' अपने बुनियादी चरित्र में ही विरूप और भदेस है । केवड़े और अगरवत्ती की सुगंधों के बीच नाना रंगारंग वितानों के साथ उपस्थित किया जाता हुआ व्यवस्था का यह वीभत्स उगालदान—फूलों से ढक कर लीद फैलाने का नायाब नुस्खा है —दूरदर्शन ! संगीत, नाटक और फिल्म-विधाओं के सारे कलात्मक आवरण अपसंस्कृति तथा चेतना-उजाड़ कायम करने की साजिश पर 'परदा' डाले रखने की साजिश में हैं ।

यों इस संक्रामक शक्ति के माध्यम से राष्ट्र और समाज के ज्वलंत सवालों को भी फैलाया और हम सबका आह्वान किया जा सकता था कि जरा एक नजर उन कारणों पर भी तो डाल लें, जिनके चलते हम आज भी स्वतंत्रता के आलोक की जगह गुलामी की विकृत मानसिकता में ही जी रहे हैं; राष्ट्रीय चरित्र-जैसी वस्तु का हममें निरंतर लोप होता जा रहा है, औपनिवेशिक गंद को दोनों हाथों बटोरे जा रहे हैं । अपने आर्थिक, राजनीतिक अथवा सामाजिक, सारी नीतियां हमने रूस-अमेरिका-इटली-फ्रांस और इंग्लिस्तान के हवाले कर रखी हैं । हमारी शिक्षा, संस्कृति, राजनीति

ही नहीं, खान-पान और नृत्य-गान के सवाल भी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक-राजनीतिक दलालों के द्वारा नियोजित हो रहे हैं। और इधर हम इस मुगालते में मस्त पड़े हैं कि हम संप्रभुतासंपन्न स्वाधीन राष्ट्र के बाशिंदे हैं। हमारे श्रीमुखों में ब्रिटिश और अमेरिकी साम्राज्यवादियों की जूतियों का तल्ला जड़ दिया गया है और हम भारत के अन्न-जल को अंगरेजों की औलाद तैयार करने में गारत कर रहे हैं। जबकि, चाहने पर, चेतनाजड़ता की तंद्रा में ऊँघते करोड़ों लोगों को जगाया भी जा सकता था।

जरूरी यह था कि दूरदर्शन के माध्यम से राष्ट्र के संभावित संकटों को हमारे सामने रखा जाता और हम भी सोचते, समझते तथा विचार करते कि इनके निवारण में हमें अपनी भागीदारी कैसे निभानी है। इसकी जगह राष्ट्रीय सरकारें हमें बताती रही हैं कि—सवालों में जाने और इनका हल खोजने की जहमत तुम क्यों उठाते हो? तुम तो नेल्ली नरसंहार से ले कर, 'ऑपरेशन ब्लूस्टार' तक राष्ट्रीय अखंडता के अभिरक्षण और रामजन्मभूमि, स्वर्ण मंदिर से लेकर बाबरी मसजिद तक के 'सर्वधर्म समभाव' की सारी जहमतें हमारे जिम्मे छोड़ कर, अपने-अपने गर्भगृहों में दूरदर्शन के रंगारंग संसार में निमग्न रहो !

कदाचित् कभी जरूरी हो गया राष्ट्रीय संकटों की घड़ी में हमें भी कुछ करना, तब भी राष्ट्रीय सरकारें 'दूरदर्शन' पर ही हमारा मार्गदर्शन कर देंगी और 'खून का बदला खून से लेंगे' का रोमांचकारी परिदृश्य इस राजनीतिक पिटारे में ही ऐसे मूर्तिमान कर दिया जायेगा कि हमें सिर्फ इतना ही देखना होगा कि जिसको हमें कत्ल करना है, उसके दाढ़ी-मूँछ-तिलकचंदन या खतना-खतौना है—कि नहीं !

श्रीमती गांधी की नृशंस हत्या एक प्रधानमंत्री ही नहीं, स्त्री की भी हत्या थी और इसका पातक जाते-जाते ही जायेगा; क्योंकि यदि 'अहिंसा परमोधर्मः' का मुखौटा धारण किये तथाकथित लोकतंत्र में प्रधानमंत्री को उसके पद से हटाने का आखिरी उपाय सिर्फ हत्या ही रह जाये, तो यह सिर्फ व्यक्ति नहीं, लोकतंत्र की हत्या है। क्या करिश्मा है कि राष्ट्रीय सरकार ने इसे, लोकतांत्रिक चेतना की जगह, महज देश की रक्षा के लिए 'ऑपरेशन ब्लूस्टार' तक में न चूकने वाली औरत श्रीमती गांधी की हत्या का मामला बना दिया ! और राष्ट्रीय दूरदर्शन ने अपने इतिहास का यह सबसे बड़ा सबक हमारे सामने साकार कर दिया कि—भेड़ियाधसान आखिर कहते किसे हैं !

दरअसल हमारी राष्ट्रीय विभूतियों ने हमें उस आत्मघाती मुकाम पर पहुंचा कर छोड़ दिया है, जहां हम किसी भी प्रसंग में अपनी चेतना और विवेक के सवाल पर कर्तई नहीं जायेंगे। हमारी चेतना के सर्वप्रभुत्वसम्पन्न बाजारू प्रबंधक जिस तरफ, और जैसा इंगित कर देंगे—सोच, चिचार और संवेदना को पूरी तरह भाड़ में झोंक कर, हम उसी तरफ और वैसी ही नगई में दूट पड़ेंगे। आकाशवाणी, जरखरीद पत्रकारिता और अब दूरदर्शन के द्वारा मौजूदा व्यवस्था हमें चेतनासुन्न कंकालों में

बदल चुकी है और कंकाल हवा का वेग झेल नहीं पाते !

कोई भी घटना हुई है, तो इसके पूर्वापर कारण क्या हैं ? कौन-से तत्त्व इसकी जड़ में विराजमान हैं ? और कि परिस्थितियों तथा तथ्यों के साक्ष्य क्या गवाही दे रहे हैं—सोच-विचार और विवेक के इन सारे आधाभूत सवालों से हम बिल्कुल बेखबर और बेसरोकार हो चुके हैं। दूरदर्शन हमें उस ज़मूरे की शक्ति में सड़क पर उत्तान लिटा चुका है, जो सिर से पांव तक जीते जी काले कफन में मढ़ा पड़ा होता है और 'जमूरे, उधर जाव !' की आवाज पर उधर जाता है। जिसका दिशाबोध और ज्ञान, सोच और संवेदना—सब-कुछ डमरू बजाते उस्ताद की जकड़ में कैद होता है।

आकाशवाणी और क्रीत-पत्रकारिता के बाद अब दूरदर्शन व्यवस्था की ठगविद्या का सबसे कारगर पिटारा है। इसमें क्या शक कि अकसर संगीत-नाटकादि के भव्य उत्सवों और खेल-कूदों से लेकर ज्ञान-विज्ञान के झरोखों का भी साक्षात्कार कराता है हमें दूरदर्शन, लेकिन सवाल है यह कि—अंतिम उद्देश्य क्या है ! चेतना जगाना, या माया फैलाना ?

आकाशवाणी हम तक शूर्पणखा की सिर्फ आवाज पहुंचा रही थी। दूरदर्शन व्यवस्था के अंतरंग चरित्र के 'मो सम पुरुष न तुम सम नारी,' को साकार वेश्या-मुद्राओं में उपस्थित कर रहा है। यह प्रेतबाधा हमें कहां पहुंचा कर छोड़ेगी, कौन जानता है। इस विषकुंभ के मुख पर दिप्-दिप् करता रंगवितान स्वर्ण नहीं, स्वर्णमृग की चमकार है। हमने कहीं प्रारंभ में ही चेतना की आंख का सवाल उठाया था। मोतियाबिंद चेतना का ज्यादा खतरनाक होता है। हमारा राष्ट्रीय दूरदर्शन इसी मोतियाबिंद को फैला रहा है। इस 'राष्ट्रीय बाइस्कोप' को सिर्फ बाहर की आंखों से देखना ठीक नहीं। इसका काम जाले डालना है, जाले हटाना नहीं। इससे सिर्फ आंखों ही नहीं, बल्कि चेतना से भी, थोड़े फासले पर ही रख कर देखना जरूरी है। जहां तक देखने का सवाल है, यह संपूर्ण भौतिक जगत ही आदमी के देखने को उपस्थित है। द्रष्टव्य है यह कि कौन अभिज्ञान में देखता है—और कौन अज्ञान में !

दूरदर्शन ने फिल्मी नंगई को बाकायदे वैधता प्रदान कर दी है। जब सरकार ही नंगनृत्यों की छटा बिखेर रही है, तो फिल्मी रंगबाजों पर नैतिक अंकुश कौन लगा सकता है ? दूरदर्शन ने पारिवारिकता के कोमल तंतुओं को नष्ट करने का काम फिल्मी दुनिया से भी बड़े पैमाने पर किया है।

अंत में हम पुनः 'भानमती के पिटारे' वाली बात पर आना चाहेंगे। इस बात पर भी कि—जब भानमती आंख मारती हो, तब खुद की आंखें खुली रखना जरूरी है; क्योंकि देखने की वस्तु सिर्फ 'रूप' का कटाक्ष नहीं, 'चरित्र' का कोढ़ भी है !

□□

स्वायत्तता की नौटंकी

तत्काल के उद्वेलनों और प्रलोभनों की राजनीति के कुछ निश्चित खतरे हैं। कांग्रेस की परंपरा चुनाव के दौर में लोगों को पूरे जोर-शोर से लुभाने, उकसाने और बरगलाने, लेकिन सत्तासीन होते ही चुनावी दौर के सारे आश्वासनों को खूंटियों पर टांग देने की रही।

कांग्रेस के प्रत्येक शिखर नेता की पूरी मानसिक बनावट ही यह बनती गई कि वह 'भारत-भाग्य-विधाता' है। खासतौर पर श्रीमती गांधी ने कांग्रेस को 'एक व्यक्ति की सत्तनत' के मुकाम तक पहुंचाकर ही दम लिया और विरासत में यही 'जय हे, जय हे, जय हे', के वाल्याचक्र वाला एकछत्र 'अधिनायकत्व' राजीव गांधी को मिला। सिर्फ अल्पकालिक प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री इसके अपवाद रहे; क्योंकि उनके मस्तिष्क में वंशवाद का वह वटवृक्ष जड़ें नहीं जमा पाया था, जिसकी परिधियां 'जब भी कोई बड़ा पेड़ गिरता है, तो धरती भी जरूर कांपती है।' के आत्म-विस्फोट तक जाती हों।

स्वर्णमंदिर के 'नीलतारक अभियान' के द्वारा हिंदुओं को देशव्यापी पैमाने पर बरगलाने और सिखों के प्रति भावोन्माद जगाकर, हिंदुओं को उनके इतिहास की सबसे बड़ी और विनाशकारी मूर्खता के हवाले करने के सारे अभियान में, कांग्रेस (आई) ने प्रसार-माध्यमों का जमकर और खुलकर उपयोग किया।

'इंदिरा इज इंडिया, इंडिया इज इंदिरा' की चाटुकारिता के पीछे दरअसल यही घड्यंत्र काम करता रहा कि जहां एक बार यह बात स्थापित हो गई कि... 'इंदिरा इज इंडिया एण्ड इण्डिया इज इंदिरा !' ...फिर यह स्वतः सिद्ध हो जायेगा कि इंदिरा गांधी के द्वारा जो कुछ भी किया जाएगा, वह 'इंडिया' के कल्याण के लिए ही होगा। ...फिर चाहे वह जून 1975 हो, या जून 1984।

इंदिरानंदन राजीव गांधी, संविधान को ताक पर रखकर, 'दिल्लीश्वरो वा जगदीशश्वरो' की स्थिति में लाये गए, तो दूरदर्शन को रावण के वीणावादक मुख की भांति इस्तेमाल किया गया और लोकतंत्र की झीनी चदरिया से आच्छादित किये गए महाधिनायक का राज्याभिषेक 'खून का बदला खून से लेंगे।' के राक्षसी नारों के बर्बर शोर के बीच संपन्न हुआ।

भांति-भांति के झूठे बहानों से श्रीमती गांधी के शव की तीन दिनों तक खुली प्रदर्शनी लगा, दूरदर्शन के माध्यम को नवंबर 1984 के सिखमेध का एक मुख्य उत्प्रेरक बनाया गया और कांग्रेस 'आई' के सिंहासन के इर्द-गिर्द अपना-अपना डेरा जमाये अनेक अमानुषिक गणों के तमाम काले कारनामों को एक इस वीभत्स उद्घोषणा से ढांक लिया गया कि — 'जब कोई बड़ा पेड़ गिरता है, तो धरती भी जरूर कांपती है।'

1985 इस बात का सबूत बन गया कि दूरदर्शन की मार कितनी दूर तक जा सकती है। दूरदर्शिता काल के सम्यक् ज्ञान में ही संभव है। तत्काल से चलने वाली राजनीति की यह नियति है कि वह दूर तक नहीं चल पाती। 'भारत-भाग्य-विधाता' की छवि-महानायक की बनाकर देश की जनता को जब और जिस भांति चाहें, मूर्ख बनाया और उनका मानसिक संदोहन किया जा सकता है, इस महाभ्रांति का मोहभंग अंततः दिसंबर 1989 में हुआ और दूरदर्शन आकाशवाणी-जैसे प्रसार माध्यमों का सारा एकाधिपत्य धरा रह गया।...

घनघोर बहुमत के अकाल में, संयुक्त मोर्चा सरकार को यह डर स्वाभाविक था कि आगे कभी भी मध्यावधि चुनावों की नौबत आ सकती है, इसलिए सत्ता-परिवर्तन में सहायक प्रलोभनों को हाशिये पर फेंकना भारी भी पड़ सकता है। प्रसार माध्यमों की स्वायत्तता का छछुदर इसी डर की उपज है।

अफसोस कि देश के पत्रकार तथा बुद्धिजीवी भी इस सवाल में गये ही नहीं कि ऐसी प्रत्येक योजना आखिर सांसत ही सिद्ध होगी, जिसकी अवधारणा ही अधूरी या असंगत हो। जिसमें आर-से पार तक की बहस नदारद दिखाई पड़े। जिसमें सिर्फ ऐसे लोगों को शामिल किया गया हो, जो कि तत्काल के आवेगों के खतरों से उदासीन और वस्तु नहीं, बल्कि खुद के मानसिक-बौद्धिक आग्रहों तथा उद्वेलनों को केन्द्र में रखने के अभ्यस्त हों।

ऐसे लोग किसी भी वस्तु को समग्रता में देख ही नहीं सकते, जिनमें कि समस्या को देशकाल और समाज की कसौटी पर देख सकने की वैचारिक क्षमता का अकाल हो। अन्यथा यह बुनियादी सवाल सामने होता जरूर कि क्या मौजूदा भारत सरकार (गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया) ने इस तथ्य को सचमुच गंभीरता से लिया है कि कांग्रेस (आई) सरकारों की भांति, स्वयं उसकी भी कोई विश्वसनीयता नहीं? क्या प्रसार माध्यमों के मामले में केंद्र सरकारों की विश्वसनीयता के हमेशा-हमेशा के लिए नष्ट हो चुके होने की बात को मोर्चा सरकार ने सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लिया?

तय है कि इस सवाल के घेरे में आते ही मोर्चा सरकार को पसीना छूटने लगता, क्योंकि इस सवाल का जवाब राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के सभी घटकों को बहुत भारी

पड़ता । ...अगर ये जवाब देते कि नहीं, संयुक्त मोर्चा सरकार की विश्वसनीयता नष्ट नहीं, बल्कि पुख्ता हुई है, तो यह सवाल फिर इन्हें परेशान करता कि तब ऐसी घबराहट या हड़बोंग क्यों है ? क्या 'स्वायत्तता' कोई स्वतःसंपूर्ण या निरपेक्ष वस्तु है ?

जब केन्द्र सरकारें प्रसार माध्यमों का दुरुपयोग कर सकती हैं, तो प्रसार भारती निगमों के द्वारा इनका सिर्फ सदुपयोग ही होने की 'गारंटी' क्या होगी ? और अगर प्रसार भारती निगमों के द्वारा भी दुरुपयोग हुआ, तो क्या कल फिर मांग नहीं उठ सकती कि इन निगमों को केन्द्र सरकार अपने हाथ में ले ले ? या कि इनके कार्य कलापों में हस्तक्षेप करे ? ...और तब अगर सरकार हस्तक्षेप करेगी, तो इनकी तथाकथित स्वायत्तता का क्या होगा ?

मान लीजिए कि प्रसार भारती निगमों के द्वारा भी दूरदर्शन-आकाशवाणी का व्यावसायिक या राजनैतिक दुरुपयोग होता है, तो इसकी जिम्मेदारी अंततः किस पर मानी जायेगी ? तब जिम्मेदारी के सारे दायरे इन निगमों तक ही सीमित होंगे कि केन्द्र सरकार तक भी जायेंगे ?

दूसरे, जब केन्द्र सरकार की विश्वसनीयता के नष्ट हो चुके होने को सिद्धांत मान लिया जाय, तब प्रसार भारती निगमों की विश्वसनीयता सवालों से ऊपर कैसे होगी ? तब विश्वसनीयता के नष्ट हो चुके होने का निदान कहाँ-कहाँ तक खोजा जायेगा ? तब सिर्फ प्रसार भारती निगमों की ही स्थापना का तर्क क्या होगा ? तब स्वायत्त शिक्षा निगम, आर्थिक निगम, सैनिक निगम अथवा न्यायिक-संवैधानिक अथवा राजनैतिक निगम भी जरूरी क्यों नहीं होंगे ?

इस विश्वास का तर्क क्या होगा कि केन्द्र सरकार की विश्वसनीयता सिर्फ प्रसार माध्यमों के मामले में ही नष्ट हुई है ? जिसकी वाणी की विश्वसनीयता नष्ट हो चुकी हो, उसके अन्य कार्य-कलापों के विश्वसनीय होने का सबूत क्या होगा ? जबकि चरित्र की विश्वसनीयता नष्ट होने पर ही वाणी की विश्वसनीयता भी नष्ट हुआ करती है ।

विश्वसनीयता नष्ट होती है, झूठ से ! लेकिन स्मरण रखना जरूरी है यह भी कि झूठ छिपाये नहीं छिपता; क्योंकि झूठ को छिपाने के लिए भी झूठ जरूरी है ।

मोर्चा सरकार भी खुद के ही झूठ का आखेट हो गई है; क्योंकि झूठ अंततः सबसे ज्यादा खुद के बोलने वालों को ही खाता है ।

अगर मोर्चा सरकार खुद की विश्वासनीयता का दावा करना चाहे, तो इसका एक ही उपाय है । उसे पूरी दृढ़ता के साथ यह बात कहनी चाहिए कि —कोई भी माध्यम हर हाल में सिर्फ माध्यम है और उसका सदुपयोग या दुरुपयोग निर्भर करता है, इस बात पर, कि वह किसके हाथ में है । कांग्रेस की सरकार चूंकि पूरी तरह 'भारत भाग्यविधाता अधिनायकवाद' पर टिकी थी, लोकतंत्र की उसमें कोई चिंता ही नहीं

थी, इसलिए वह इन माध्यमों का उपयोग सिर्फ वशवाद की जड़ें गहरी करने में करती रही। और चूंकि हम लोकतंत्र के बुनियादी सिद्धांतों से ही चलना चाहते हैं, इसलिए हम इन माध्यमों का उपयोग सिर्फ लोक-प्रशिक्षण, लोकरंजन और लोककल्याण के ही उद्देश्य से करेंगे। कांग्रेस ने इन्हें झूठ फैलाने का उपाय बना रखा था, हम इन्हें अपने देश, काल और समाज की सच्चाइयों को सामने लाने का माध्यम बनाएंगे; क्योंकि जब हम मान रहे हैं कि पारदर्शिता लोकतंत्र की पहली शर्त है, तो इन माध्यमों को भी पारदर्शी बनाना जरूरी है और इसीलिए इन्हें किन्हीं स्वच्छंद निगमों के हवाले नहीं किया जा सकता।

प्रायोजकों के रूप में पूंजीनिवेशियों का शिकंजा आज भी इन अत्यंत ही प्रभावी तथा संवदेनशील माध्यमों पर इतनी दूर तक कसा हुआ है कि इन्होंने पूरे देश में अपसंस्कृति की महामारी फैला दी है। खास तौर पर दूरदर्शन विकृतियों का आगार बना दिया गया है। समाज के नैतिक बोध को ध्वस्त करने के भयावह षड्यंत्र में, प्रसार-प्रचार माध्यम के तौर पर, दूरदर्शन की भूमिका ही सबसे खतरनाक रूप में सामने आई है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि दूरदर्शन का माध्यम स्वयं में ही एक विकृत माध्यम है।

हर माध्यम चरित्र से जुड़ा होता है। दूरदर्शन भी भारत सरकार के विकृत चरित्र को ही प्रतिच्छायित करता है। ऐसे में जरूरी है कि दबाव सरकार पर इसकी सामाजिक प्रासंगिकता के सवाल को लेकर डाला जाए। इसके लिए 'स्वायत्तता' के शिगूफों से बचना जरूरी होगा।

फूलदान और थूकदान में सिर्फ बाहरी बनावट नहीं, बल्कि अंतर्वस्तु में भी अंतर होता है।

सरकार फूलदान को थूकदान बनाये हुए है। शास्त्रीय-उपशास्त्रीय संगीत, साहित्यिक धारावाहिक, खेलकूद और ज्ञान-विज्ञान आदि के बीच फिल्मी नंग-नृत्यों तथा विकृत फूहड़ गीतों-दृश्यों का प्रसारण, और दूरदर्शन का सत्ता की राजनीति के लिए अमानुषिकता की हद तक का इस्तेमाल कांग्रेस (आई) सरकारों के इसी चरित्र की देन रहा है। यह दोमुंहापन ही प्रसार-प्रचार माध्यमों की सबसे बड़ी सांसत है। जरूरत सरकार के चरित्र को समझने और उस पर दबाव डालने की है।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि समाजनिरपेक्ष स्वायत्तता से खतरनाक कुछ नहीं। सरकारें समाज का अंग हुआ करती हैं। उन्हें ऐसा होना ही चाहिए। राज्य का समाज से बड़ा आकार प्रकट करना ही उसका मायावी राक्षस हो जाना है।

राज्य ही समाज या देश भी नहीं होता। राज्य को समाज नियुक्त करता है। देश और समाज के प्रति जिम्मेदार और जवाबदेह राज्य ही लोकतंत्र की अवधारणा को साकार कर सकता है। अब अगर हम कहें कि प्रसार भारती निगमों की स्वायत्तता

जरूरी है तो जवाब इस सवाल का भी देना जरूरी होगा कि इन्हें किसके प्रति जवाबदेह और जिम्मेदार माना जाय ? यदि इन निगमों को समाज के प्रति जिम्मेदार और जवाबदेह माना जाय, तो अगर राज्य नहीं, तो समाज का वह कौन-सा प्रतिष्ठान होगा, जो इन पर नियंत्रण रख सके ?

दूरदर्शन और आकाशवाणी मूलतः राज्य का अंग हैं; क्योंकि ये राज्य से ही अस्तित्व में आते हैं। राज्य की भी एक अपनी स्वायत्तता होती है और यह स्वायत्तता, नैतिक तथा विधिक रूप में, उस समाज के प्रति अपने दायित्वों के निर्वाह के लिए आवश्यक होती है, जो कि राज्य को इसी उद्देश्य से अस्तित्व में लाता है कि समाज के सारे कार्य-कलाप सुचारु रूप से चल सकें, इसके लिए राज्य आवश्यक संविधान बनायेगा तथा इसका सचाई से परिपालन करेगा और करवायेगा।

प्रसार माध्यम इस नियम से बाहर नहीं। स्वायत्त निगमों की स्थापना कर भी दे संयुक्त मोर्चा सरकार, तो यह सिवा हाथी के दिखाने के दांतों के कुछ नहीं होंगे; क्योंकि इन प्रसार माध्यमों का एक छोर जनसमाज के चित्त, तो दूसरा देश के सांस्कृतिक-सामाजिक मानचित्र की सीमारेखाओं तक जाता है और समाज के चित्त का सवाल देश के मानचित्र की रेखाओं से पूरी तरह गुंथा है।

तब कहना होगा कि देशवासियों के चित्त को अपसंस्कृति की गंद से विकृत करने वाला दूरदर्शन, अंततः, देश को भी गम्भीर क्षतियां पहुंचायेगा जरूर !

सवाल कई और भी हैं।

दूरदर्शन और आकाशवाणी को आर्थिक स्वायत्तता देने को इन्हें व्यावसायिक ढांचा देना जरूरी होगा और ऐसा करने का मतलब देश को सीधे-सीधे पूंजीनिवेशियों के हवाले कर देने के सिवा और कुछ नहीं होगा। ...और यदि इनका आर्थिक भार सरकार पर ही छोड़ा जाना हो, तब इसकी स्वायत्तता का तर्क क्या होगा ? जबकि तय है कि इन निगमों के प्राधिकारियों और सलाहकारों के चयन में भी निर्णायक शक्ति सरकार की ही होगी।

जरूरी है कि स्वायत्तता की इस नौटंकी में देश का समय और धन नष्ट करने से बचा जाय और इसे जल्दी से जल्दी समाप्त कर दिया जाए। नजर सरकार के चरित्र के विश्वसनीय होने पर रखना जरूरी है, प्रसार भारती निगमों की स्वायत्तता पर नहीं। जब सरकार का चरित्र निरकुंश हो जाता है, तब वह समाचार पत्रों तक की स्वायत्तता को अजगर की भांति निगलने पर उतर आती है—दूरदर्शन, आकाशवाणी, तो उसकी जीभ और आंख-कान के सवाल हैं।

दूरदर्शन और आकाशवाणी के सरकार के ही जिम्मे रहने से इनके दुरुपयोग की जिम्मेदारी और जवाबदेही सीधे-सीधे सरकार पर डाली जा सकेगी। जब अनेकानेक तथाकथित स्वायत्त संस्थाओं का कच्चा चिट्ठा सामने मौजूद है, तब प्रसारभारती की

स्वायत्तता भ्रष्टता की स्वच्छंदता ही होगी ।

जब तक आम चुनावों की प्रक्रिया चलन में रहेगी, तब तक इन माध्यमों का दुरुपयोग करने वाली सरकार को सबक सिखा सकने का अवसर भी मौजूद रहेगा । प्रसार भारती निगमों की स्थापना, कुल मिलाकर, केंद्र सरकार के लिए एक चोर-दरवाजा और खोलने की भूल के सिवा कुछ नहीं होगा और इस प्रकार प्रसार माध्यमों की स्वायत्तता की यह सारी नौटंकी अंततः हमारी मूर्खता का विस्फोट सिद्ध होकर रह जायेगी ।

□□

['अमर उजाला' : 30 सितम्बर 1990]

राजभाषा उर्फ संघ की भाषा

अगर आदमी के सारे किये-धरे का निचोड़ दो शब्दों में निकालना हो, तो कहना होगा कि सच और झूठ क्योंकि उसके सारे मामले इन्हीं दो शब्दों से गुंथे हैं। आदमी के सारे क्रिया-कलापों की कसौटी यही है कि—जो- कुछ उसके द्वारा बताया गया है, वह सच है कि झूठ !

हिन्दी को राष्ट्रभाषा की जगह राजभाषा बताये जाने का मामला इस नियम का अपवाद नहीं हो सकेगा।

सचाई के तर्क से चलें, तो कहना होगा कि भारतीय संविधान के निर्माताओं ने इस तथ्य को भुला ही दिया कि—झूठ कागज को ही गंदा नहीं करता, बल्कि आदमी के चित्त में भी काँई भर देता है।

इन महापुरुषों को, शायद यह भी-ठीक-ठीक पता नहीं था कि—कागज पर झूठ तभी चल सकता है, जब तक कि कोई उसे सचाई की रोशनी में नहीं पढ़े।

संविधान कोई मामूली चीज नहीं। यह आदमी के व्यावहारिक कार्य-कलापों के मामले में सबसे बड़ी किताब है। इससे उसका पूरा अस्तित्व गुंथा है। किसी नितांत निर्जन अरण्य का वैरागी भी दावा नहीं कर सकता कि वह संविधान के दायरे, या कि इसकी हद, से बाहर है।

जहां तक राज्य का दखल होगा वहां तक संविधान का साया भी मौजूदा होगा जरूर; क्योंकि राग ही नहीं, वैराग भी एक सामाजिक तथ्य ही है और समाज का कुछ भी राज्य की पहुंच से परे नहीं। भाषा भी। इसलिए भाषा के मामले में संविधान से बेसरोकारी ठीक नहीं; क्योंकि भाषा ही समाज का सर्वोच्च साधन है। भाषा सामाजिक उत्पत्ति है। ...और अगर इसकी नियति या निष्पत्ति को हमने सरकार के हवाले छोड़ दिया, तो कंभी-न-कभी हमारे सोच-विचार और संवेदनाओं के तंतुजाल तक भी इसके नतीजे पहुंचेंगे जरूर।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा की जगह, राजभाषा कहे जाने की सारी मुहिम कहीं-न-कहीं सरकार-द्वारा भाषा के मामले को हथियाए जाने के षड्यंत्र की उपज है। इसलिए जरूरी है कि हम हिन्दी को 'राजभाषा' का खिताब दिये जाने के मामले को गंभीरता से लें।

पहले भी कहा कि संविधान का भाषा संबंधी अध्याय झूठ का पुलिंदा है। यह कोई मामूली आरोप नहीं, अगर कि बात झूठ हो। तब सबूत जरूरी होगा और यह विवेक भी कि भाषा खुद भी आदमी का सबूत ही हुआ करती है। भाषा आदमी का सनातन साक्ष्य है। भाषा में आदमी का पूरा चरित्र उजागर हो जाता है। उसके झूठ-सच दोनों !

विख्यात रूसी आलोचक फेदिन कहते हैं —

‘सचाई भाषा की पहली शर्त है। दुनिया की कोई बड़ी-से-बड़ी प्रतिभा भी भाषा के माध्यम से झूठ को सच में नहीं बदल सकती।’

जाहिर है कि फेदिन जानते थे कि जो भी झूठ रचता है, उसे सच बनाने और सच बताने की कोशिश भी करता जरूर है; क्योंकि समाज में झूठ को आदमी का पाप माना जाता है। स्वयं संविधान भी झूठ को गैरकानूनी मानने के सिद्धांत पर ही टिका है। कानून की सत्ता ही झूठ को झूठ और सच को सच सिद्ध करने पर टिकी है। परीक्षण (ट्रायल) का मूल ही झूठ-सच की पड़ताल है। तब फिर कहना होगा कि खुद संविधान में झूठ का होना ठीक नहीं।

संविधान में झूठ और सच, दोनों को ‘तथ्य का सवाल’ माने जाने का प्रावधान है। यह भी कि मामला बहस और साक्ष्य से ही तय हो सकता है।

हम बहस के लिये ही फिर जोर देकर कहना चाहेंगे कि संविधान का भाषासंबंधी अध्याय झूठ का पुलिंदा है और गवाही में यह कि —वस्तु को, या वस्तु के बारे में जो बताया गया हो, वही उसे होना भी चाहिए। अगर ऐसा नहीं तो झूठ का अनुमान सच ही होगा।

संविधान के भाषा संबंधी अध्याय के अनुच्छेद 343 की ‘अ’ कंडिका में यह उद्घोषणा की गई है कि —संघ की कार्यालयी भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी।

ध्यान रहे कि संविधान में हिन्दी के प्रति ‘राष्ट्रभाषा’ सम्बोधन कहीं नहीं और कतई नहीं है।

अब सवाल यह है कि ‘राजभाषा’ बताया गया है, तो क्यों ? क्योंकि संविधान में संघ की कार्यालयी भाषा (सरकारी हिन्दी में ‘राजभाषा’) की कानूनी हैसियत सिर्फ अंग्रेजी को प्राप्त है। अर्थात् हिन्दी को राजभाषा या संघ की कार्यालयी भाषा बताया तो गया है, लेकिन बनाया नहीं गया। अर्थात् जो बताया गया, वह झूठ है। यानी गैरकानूनी ! असंवैधानिक !

तब फिर फेदिन को स्मरण करना होगा ताकि भाषा और सचाई के रिश्ते को ठीक-ठीक समझा जा सके।

भाषा के मामले में झूठ को सच के रूप में चलाने की चालाकी ने संविधान में

ही असंवैधानिक के समावेश का चोर-दरवाजा खोला और संविधाननिर्माता गण इस बात को भूल ही गये कि—किसी भी सरकारी पद पर बिना पात्रता की नियुक्ति हर हाल में गैरकानूनी ही होगी।

भाषा सम्बन्धी अध्याय के अनुच्छेद 343 की कंडिका 'ब' में ही अगले 15 वर्षों तक के लिए अंग्रेजी में ही सारे सरकारी काम-काज भाषा के स्तर पर ब्रिटिश राज के अनुसार—अर्थात् ब्रिटानिया सरकार की 'कार्यालयी भाषा' (आफिशियल लैंग्वेज) अंग्रेजी में—ही किये जाने की बात इस तर्क में ही कही गई कि हिन्दी अभी ऐसी पात्रता नहीं रखती। संविधान के अनुच्छेद 351 में सरकार को हिन्दी को 'संघ के काम-काज के योग्य भाषा' बनाने का दायित्व सौंपा गया। अर्थात् बिना पात्रता के पूरे हुए ही हिन्दी को 'संघ की कार्यालयी भाषा' का दर्जा घोषित कर दिया गया।

राजभाषा विभाग के लोग कहते हैं कि ऐसा 'संभावना' के आधार पर किया गया। जबकि संभावना भविष्य की वस्तु है और संविधान फलित ज्योतिष का पोतड़ा नहीं हो सकता। संविधान निर्धारणों से ही चल सकता है, सम्भावनाओं से नहीं; क्योंकि सम्भव तो कुछ भी हो सकता है। आज हमारे सामने देश के सम्भावित प्रधानमंत्रियों के तौर पर श्रीमती सोनिया, राहुल-प्रियंका और श्रीमती मेनका तथा वरुण आदि गांधियों के अलावा चन्द्रशेखर, शरद पवार, अर्जुन सिंह, माधवराव सिंधिया, राजा विश्वनाथ प्रताप, रामविलास पासवान से लेकर, लालकृष्ण अडवाणी, अटलबिहारी वाजपेयी व ज्योति बसु तक न जाने कितने भारी प्रधानमंत्री एक साथ मौजूद हैं? तो क्या बाकायदे संविधान में यह घोषणा पहले ही की जा सकती है कि इनमें से कौन हमारा प्रधानमंत्री होगा?

जहां तक सम्भावना का सवाल है, सम्भावना तो हिन्दी ही क्यों, बंगला, असमी, उड़िया, तमिल, मलयालम या गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि, किसी भी भारतीय भाषा की हो सकती थी—और हो सकती है!

जाहिर है कि 'संभावना' को स्वतःसिद्ध तौर पर संवैधानिक नहीं माना जा सकता और इस प्रकार संभावनाओं के आधार पर हिन्दी को 'राजभाषा' घोषित करना सिवा कानूनी धोखाधड़ी के और कुछ नहीं।

संभावना के आधार पर किसी व्यक्ति को राष्ट्राध्यक्ष या प्रधानमंत्री तो क्या, एक सामान्य कर्मचारी के पद पर भी नियुक्त नहीं किया जा सकता।

राजभाषा विभाग वालों को पता होना चाहिए कि उनकी पूरी संस्था ही गैरकानूनी अर्थात् असंवैधानिक है।

देश में अगर वास्तव में कानून का राज्य होता तो निश्चित है कि राजभाषा विभाग के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही होती जरूर; क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा—वस्तु को वही होना भी चाहिए जो कि उसे बताया जा रहा हो।

अगर कोई व्यक्ति वास्तव में कतिश्नर नहीं, तो उसे 'कमिश्नर साहब' बताना जालसाजी के सिवा कुछ नहीं। हिन्दी को 'संघ की कार्यालयी भाषा' या 'राजभाषा' के रूप में अभी कोई संवैधानिक मान्यता कतई प्राप्त नहीं, इसलिए उसे 'राजभाषा' बताना भी जालसाजी के सिवा कुछ नहीं; क्योंकि 'संभावना' के आधार, सरकारी नियुक्तियों की घोषणाएं नहीं की जा सकतीं। भारतीय प्रशासनिक सेवा के किसी परीक्षार्थी को संभावना के आधार पर 'कमिश्नर होंगे' नहीं कहा जा सकता। कहा जाय, तो इसे धोखाधड़ी के सिवा और क्या कहा जायेगा ?

कहना जरूरी है कि राजभाषा विभाग सरकार के भाषिक जालबट्टे का केन्द्र बना हुआ है; क्योंकि इसके द्वारा देशवासियों को लगातार यह झांसा दिया जा रहा है कि हिन्दी, यानी एक भारतीय भाषा, को संवैधानिक मान्यता केन्द्र की भाषा, उर्फ राजभाषा के तौर पर दी जा चुकी है। जबकि 1967 के राजभाषा विधेयक के बाद, इसके मौजूद रहते, अगले करोड़ों वर्षों में भी हिन्दी को केन्द्र की भाषा का दर्जा दिये जाने की सम्भावना तक कतई नहीं रह गई।

जब तक एक भी हिन्दीतर भाषी प्रदेश असहमत होगा, तब तक हिन्दी को संघ या केन्द्र की कार्यालयी भाषा के तौर पर कोई संवैधानिक मान्यता कभी नहीं दी जाएगी, यह व्यवस्था संविधान में कर दी जा चुकी है। आश्चर्य कि राजभाषा विभाग फिर भी इस बात के लिए कृतसंकल्प है कि वह हिन्दी को 'संघ की कार्यालयी भाषा' उर्फ 'राजभाषा' के योग्य बनाकर ही रहेगा, चाहे इसमें अनंतकाल ही क्यों नहीं लग जाए !

अपने तत्काल के निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिये काल के साथ भी जालसाजी को तैयार लोगों की यह जमात ही भाषा के मामले में, पूरे देश को झांसा दे रही है। इस प्रकार 'संघ की कार्यालयी भाषा', उर्फ 'राजभाषा', भाषा के मामले में, भारत सरकार का झांसा-मात्र बनकर रह गई है।

'उर्फ' बहुत बेढब चीज है और अफसोस कि 'राजभाषा' उर्फ के सिवा कुछ नहीं है। हिन्दी को 'राजभाषा' बताना उसकी गम्भीर फजीहत और उसकी 'राष्ट्रभाषा' की हैसियत पर मिट्टी डालने की साजिश करना है।

झूठ जब अपना पूरा आकार पा जाता है, तो फिर किसी को नहीं बख्शता। अपने रचने वालों को भी नहीं। हिन्दी की फजीहत सिर्फ हिन्दी नहीं, बल्कि प्रत्येक भारतीय भाषा की फजीहत है। सभी भारतीय भाषाएं एक देश का अंग हैं और अगर कोई टोपी पर धूक रहा हो, तो यह संतोष ठीक नहीं कि बाकी कपड़ों पर नहीं धूक रहा है।

हिन्दी की सांसत यह है कि अंग्रेजी का, एक भारतीय भाषा के तौर पर, पहला और मुख्य विकल्प हिन्दी ही है। स्वाधीनता के साथ ही केन्द्र में किसी भारतीय भाषा

की प्रतिष्ठा का सवाल भी सामने आया था और मौजूद है। हिन्दी इसीलिए ब्रिटिश हुकूमत के विरासतदारों के जी का जंजाल बनी हुई है। हिन्दी को हटाया नहीं जा सकता, इस लाचारी में ही इस देश के औपनिवेशिक सम्प्रभुओं ने हिन्दी को विरूपित और मखौल की सामग्री बनाने की मुहिम चलाये रखी है; क्योंकि इसे संविधान में 'संघ की कार्यालयी भाषा', उर्फ 'राजभाषा' का दर्जा दिये जा चुके होने के शुद्ध सफेद झूठ को सच साबित करते चलना जारी है।

राजभाषा विभाग, अपने बुनियादी चरित्र में ही, इस शर्मनाक राष्ट्रीय पाखण्ड का उद्गम है। अंग्रेजी के साथ के द्वन्द्व में अन्य भारतीय (प्रादेशिक) भाषाओं का अंग्रेजी के पक्ष में दिखाई पड़ना एक अत्यंत ही गम्भीर राष्ट्रीय चूक है और इसका खमियाजा सिर्फ हिन्दी नहीं, बल्कि प्रत्येक भारतीय भाषा को भुगतना है।

अंग्रेजी विश्व की महान् भाषाओं में है, लेकिन भारत सरकार ने, शासन की शाही भाषा के तौर पर, इसे हमारी राष्ट्रीय अस्मिता के लिए कलंक का विषय बना दिया है। हम भाषा के मामले में आज भी गुलाम के गुलाम ही हैं। कोई भी भारतीय इस वास्तविकता को झुठला नहीं सकता।

भाषा के मामले में, राजभाषा विभाग की कुल जमा भूमिका भारत सरकार के पाखण्ड को बरकरार रखने की है। जबकि, जैसा कि पहले भी कहा, बिना संवैधानिक मान्यता के ही हिन्दी को 'राजभाषा' बताना सिवा जालबाजी के कुछ नहीं; क्योंकि 'दर्जे' का सवाल हर हाल में, हैसियत का सवाल भी है और इस मामले में, सरकार के स्तर पर हिन्दी की औकात अंग्रेजी की जूठन पर पलने वाली भाषा से ज्यादा कुछ नहीं।

किसी को कमिश्नर का दर्जा देना, हरहाल में, उसकी कमिश्नर की हैसियत को कानूनी दर्जा देना भी है। चपरासी के दर्जे में हर्ज नहीं, लेकिन चपरासी या क्लर्क की हैसियत का कमिश्नर सिर्फ 'अंधेर नगरी, चौपट राजा' जैसे किसी प्रहसन में ही सम्भव हो सकता है। इस अर्थ में 'भारतीय संविधान' का भाषासंबन्धी अध्याय एक शर्मनाक प्रहसन ही है; क्योंकि बिना हैसियत का दर्जा एक क्रूर मजाक के सिवा कुछ नहीं और हिन्दी को संविधान में वही दर्जा दिया गया है।

राजभाषा विभाग का हाल यह है कि उसके सामान्य क्या शीर्ष अधिकारियों को तक यह पता नहीं कि 'राजभाषा' का मतलब क्या है। सभी जानते हैं कि संविधान सभा की भाषासम्बन्धी बैठकों में हिन्दी के लिए 'राष्ट्रभाषा' सम्बोधन का प्रयोग किया गया था। 'राजभाषा' बाद में संविधान की चोर-खिड़की से किया गया प्रक्षेपण है।

राजभाषा विभाग के निदेशकों तक को कुछ पता नहीं कि 'राजभाषा' कहने से उनका वास्तविक तात्पर्य क्या है। उनकी दृष्टि में 'राजभाषा' का मतलब 'सरकारी काम-काज की भाषा' हुआ करता है, जबकि 'राजभाषा' का सही अर्थ सिर्फ और सिर्फ

‘सरकारी भाषा’ होता है।... और ‘सरकारी भाषा’ का मतलब सरकार का झांसा, क्योंकि भाषा सरकारों के द्वारा नहीं बनाई जाती, बल्कि समाज के गर्भ से उत्पन्न होती है।

भाषा को समस्त सृष्टिमण्डल को सूत्रबद्ध करने वाली महाशक्ति का रूप समाज के द्वारा दिया जाता है, सरकारों के द्वारा नहीं। भाषा में सितारों से भी आगे तक पहुँचने में सक्षम अनुगूँज समाज भरता है, सरकार नहीं!.... यह कारण है कि सिवा भारत के दुनिया के किसी देश में ‘राजभाषा’ या ‘सरकारी भाषा’ -जैसी किसी वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है।

हिंदी को ‘राजभाषा’ का मुख्य दर्जा दिये गए होने के मामले में, प्रायः, एक कुतर्क यह भी दिया जाता है कि—संविधान में अंग्रेजी को ‘सहभाषा’ के तौर पर चलाये जाने का प्रावधान किया गया है; ...

आमीन !

कभी सुना कहीं कि सह-निदेशक की कानूनी और कार्यकारी हैसियत निदेशक से ऊपर हुआ करती है ? ‘सहभाषा’ देश के सर्वोच्च न्यायालय में भारत भाग्य-विधायिका का दर्जा प्राप्त किये हुए है—और मुख्य भाषा का सर्वोच्च न्यायालय में प्रवेश तक वर्जित है ! सर्वोच्च ही नहीं, अनेकानेक उच्च न्यायालयों में भी। यहाँ तक कि दिल्ली उच्च न्यायालय में भी।

जिसकी हैसियत बड़ी हो, और कार्यकारी शक्ति, उसे छोटा बताना ‘असिस्टेंट कमिश्नर’ को कमिश्नर से बड़ा साबित करना है। यह धोखाधड़ी है।

हिन्दी को ‘राजभाषा’ बताये जाने का सारा षड्यंत्र इस कुत्सित इरादे में है कि धीरे-धीरे लोग हिन्दी की राष्ट्रभाषा की हैसियत को भूल ही जाएं।

14 सितम्बर 1948 को, संविधान सभा में, हिन्दी के लिए ‘राष्ट्रभाषा’ का प्रस्ताव पारित किया गया। 26 जनवरी 1950 को ब्रिटिश उपनिवेश को एक सम्प्रभुता-सम्पन्न गणराज्य में बदलने वाले संविधान में ब्रिटिश साम्राज्य की निशानी अंग्रेजी को भारत की केन्द्रीय भाषा का दर्जा दे दिया और राष्ट्र के साथ किये गये शर्मनाक विश्वासघात को इस झूठ से ढंक दिया गया कि—हिन्दी को संविधान में राष्ट्रभाषा और राजभाषा का गौरवपूर्ण दर्जा दे दिया गया है।

चूँकि बिना किसी भारतीय भाषा को संविधान में मुख्य जगह दिये स्वाधीन हो चुके होने का दावा नहीं किया जा सकता था, इसलिए संविधान के भाषा संबंधी अध्याय में बाकायदे एक सफेद झूठ स्थापित किया, और इसे सच साबित करने का काम राजभाषा विभाग को सौंप दिया गया, जो कि इस वास्तविकता से भलीभाँति परिचित होते भी हिन्दी को ‘राजभाषा’ के योग्य बनाने की मुहिम में जुटी पड़ी है कि—हिन्दी को मुख्य भाषा के तौर पर संवैधानिक मान्यता कभी नहीं मिलनी और कतई नहीं मिलनी है।

यों सम्भव तो कुछ भी हो सकता है। यह भी कि देश कभी सचमुच स्वाधीन हो जाय और लोगों को राजभाषा के शर्मनाक तमाशे से मुक्ति मिले ! ...क्योंकि जब भी कोई देश वास्तव में स्वाधीन होता है, तब भाषा में गुलाम होने की गलाजत को 'राजभाषा' के पाखण्ड से नहीं छिपाता।

□□

['दैनिक जागरण' : 22 सितम्बर 1991]

राष्ट्रगीत और राष्ट्रगान की खींचतान

विधि की कसौटी ही इसमें है कि वह वस्तु को पारदर्शी बनाये। उसकी एक सुनिश्चित पहचान तय करे। अफसोस कि 'भारतीय संविधान' में विधि की यह आधाभूत प्रकृति नदारद है।

इसलिए, तथाकथित स्वाधीनता के लगभग पांच दशकों के बाद भी, भारतीय नागरिकों का संविधान से कोई गहरा नाता आज तक नहीं बन पाया और संविधान जैसे एक सरकारी किताब-मात्र बनकर रह गया है। यह कारण है कि राष्ट्रीयता, देश, भाषा और राज्य या कि कानून के सम्बन्ध में भारत के नागरिकों को प्रायः जड़ और उदासीन ही पाया जा सकता है।

दिल्ली से कुछ ही अरसा पहले प्रकाशित नये दैनिक पत्र 'राष्ट्रीय सहारा' के कुछ खोजी पत्रकारों ने जब 'राष्ट्रगीत' और 'राष्ट्रगान' को लेकर देश के कई एक जाने-माने और अनुभवी राजनेताओं से साक्षात्कार लिये, तो पता चला कि घुंघलका सिर्फ सामान्य नागरिकों तक ही सीमित नहीं।

हालांकि यह बात अपनी जगह कि जिस राष्ट्रीय दैनिक पत्र के द्वारा साक्षात्कार की यह मुहिम चलाई गयी थी, स्वयं उसके सम्पादकों-पत्रकारों को भी कुछ पता नहीं कि 'राष्ट्रगीत' और 'राष्ट्रगान' के बीच क्या अन्तर है। है भी कि नहीं।

स्वाधीनता संग्राम के दौर में पूरी तरह उपेक्षित, लेकिन कथित स्वाधीनता के बाद बाकायदे संवैधानिक तौर पर राष्ट्रगीत करार दिये गये 'जनगण मन अधिनायक जय हे, भारत भाग्य-विधाता' का मतलब भी स्वयं वो पत्रकार बन्धु तक नहीं ही जानते, जिन्होंने कि 'राष्ट्रगीत' और 'राष्ट्रगान' के अभिज्ञान की मुहिम चलायी थी।

नेताओं के साक्षात्कार के बाद इन पत्रकार बन्धुओं ने उन तमाम लोगों को तो धिक्कारा और ठीक ही किया जो कि 'राष्ट्रगीत' और 'राष्ट्रगान' को गाकर नहीं सुना, या इनका ठीक-ठीक अर्थ बता नहीं सके। याकि जिन्हें 'राष्ट्रगीत' और 'राष्ट्रगान' स्मरण रखने-योग्य भी नहीं लगे...लेकिन राष्ट्रीयता और 'राष्ट्रगीत-राष्ट्रगान' के बारे में जो-कुछ साक्षात्कार लेने वाले पत्रकार बन्धुओं ने बताया, इससे स्पष्ट था कि खुद उन्हें भी कोई ज्ञान नहीं।

एक बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए और वह यह कि जानकारीयां स्वयं में ज्ञान नहीं हुआ करती है।

ज्ञान का अर्थ है—वस्तु को सांगोपांग अर्थात् समग्रता में देखना। राष्ट्रीयता का अर्थ राष्ट्र में निष्ठा रखना है, इतनी छिलके पर की बात तो कोई मोटी से मोटी बुद्धि वाला भी बता देगा। ज्ञान का तर्क जायेगा दूर तक। अर्थात् राष्ट्र की पहचान क्या होगी? इसके प्रतीक क्या होंगे? और अगर ये प्रतीक अपनी समग्रता में नहीं होंगे, तो क्या तब भी राष्ट्र के होने की बात कही जा सकेगी?

कहने का तात्पर्य कि पत्रकार बन्धु कही इस जिज्ञासा में दिखे ही नहीं कि अपने मुल्क का हाल क्या है। क्या इसे राष्ट्र कहा जा सकता है? अगर कहा जा सकता है, तो किस सीमा तक? कितने अर्थ में? यदि पूरे अर्थ में नहीं, तो राष्ट्र कहने का अर्थ ही क्या रह जायेगा? क्योंकि आलू हो या कि आसमान, कोई भी वस्तु तब तक संदिग्ध या अधूरी ही मानी जायेगी जब तक कि वह अपने अर्थ में पूरी नहीं हो। अर्थात् अगर भारत पूरे अर्थ में राष्ट्र नहीं है, तो इसके 'राष्ट्रगीत' या 'राष्ट्रगान' को गाते फिरने से ही क्या होगा?

भूलना नहीं चाहिए कि कुछ भी सवालों से ऊपर, या बाहर नहीं। जो-कुछ सवालों के ऊपर या बाहर हो, वह आदमी के काम का नहीं। बिना सवाल या कि सवाल से बाहर की वस्तु आदमी को सिर्फ क्षति ही पहुंचा सकती है। फिर चाहे वह 'राष्ट्रगीत' राष्ट्रगान' ही क्यों न हो; क्योंकि आदमी के काम की चीज सिर्फ वही हो सकती है, जो सवालों के बीच और सवालों के बावजूद टिक सके।

हमारी त्रासदी यह नहीं कि हम ज्यादा नहीं जानते। हमारी विडम्बना है यह कि हममें जिज्ञासा नहीं है। हम किताबी तौर पर उपलब्ध को ही सम्पूर्ण मान लेने के अभ्यासी बना दिये जा चुके हैं। जबकि किताब में लिखे को भी मिलाकर देखना जरूरी है। कैसी भी विपुल और व्यापक जानकारीयों का कोई मतलब नहीं होता, अगर कि हम वस्तु को समय, स्थान और आदमी से जोड़कर देखने के विवेक से शून्य हों। समय और स्थान आदमी से जुड़े हैं। गुलामी का समय नहीं, तो देश भी स्वाधीन है।

हमने यह चिंता ही नहीं रखी कि शब्द को उसकी अन्तर्वस्तु, अर्थात् उसके अर्थ से मिलाकर देखना जरूरी है। यानी अगर कोई वस्तु हमें 'राष्ट्रगीत' बताकर पकड़ाई जा रही है, तो पहले हम उसका अर्थ तो समझ लें? क्योंकि बिना मतलब समझे ही गाना प्रारम्भ करने से तो पशुपक्षी तक इंकार कर देंगे—हम तो आखिर-आखिर आदमी हैं और आदमी होने के दावेदार तभी हैं, जबकि हर बात को ठीक-ठीक समझ लेना चाहते हों।

‘राष्ट्रगीत’ को बिना इसका अर्थ समझे ही गाने का मतलब क्या होगा ? सिवा धनर्थ के ?

क्या यह सचमुच शर्मनाक नहीं कि ‘जनगण मन अधिनायक जय हे, भारत-भाग्य-विधाता’ राष्ट्रगीत का अर्थ एक भी भारतीय नागरिक नहीं जानता ? फिर चाहे वह सड़कछाप हो, कि संसद में विराजमान ?

अभी 12 फरवरी को कानपुर में आयोजित एक पत्रकारिता सम्बन्धी संगोष्ठी में यह कहा गया कि हिन्दी के किसी भी सम्पादक-पत्रकार बन्धु को ‘राष्ट्रगीत’ का अर्थ मालूम नहीं, तो संगोष्ठी में उपस्थित जाने कितने पत्रकार बन्धु क्रुद्ध तो बहुत हुए, लेकिन यह बताने की कृपा किसी ने नहीं की कि आखिर इस राष्ट्रगीत का मतलब क्या है ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में आयोजित नेहरू शताब्दी सेमिनार में भी यह सवाल उठाया गया था कि आखिर इस राष्ट्रगीत का अर्थ क्या है ? चालीस साल के बाद भी ‘राष्ट्रगीत’ का अर्थ नहीं जानना, लेकिन गाना जरूर, इसे सिवा शर्मनाक के क्या कहा जा सकता है ? ...लेकिन जानना चाहना गुनाह नहीं है । ऐसे में राष्ट्र के सभी विज्ञानों से प्रार्थना है कि इस राष्ट्रगीत का अर्थ बताने की कृपा करें । बतायें कि इसमें का ‘भारत-भाग्य-विधाता’ कौन है ? यदि ‘परमपिता परमेश्वर’ है, तो इसे भारतीय संविधान में मान्यता क्यों है ? हमारा संविधान ईश्वर को नहीं मानने वालों को भी नागरिक अधिकार प्रदान करता है, लेकिन राष्ट्रगीत तो राष्ट्रगीत है ! नास्तिक होने के आधार पर परमात्मा की प्रार्थना वाले राष्ट्रगीत को गाने से इन्कार करने का मतलब क्या होगा ? या कि संविधान में नास्तिकों को राष्ट्रगीत की बंदिश से मुक्त करार दिया गया है ?

लगता था कि विद्वान धुंध में ही नहीं घिरे, बल्कि बहस से भी बचना चाहते हैं । जबकि संविधान सभा की राष्ट्रगीत सम्बन्धी बहस में अपना निर्णायक निर्देश देते हुए स्व. पं. नेहरू ने कहा था कि — ‘राष्ट्रगीत’ में शब्द नहीं, बल्कि धुन का महत्व होता है ।

यह कुतर्क उन्होंने सेठ गोविन्ददास की ओर से ‘वन्दे मातरम्’ के स्वाधीनता संग्राम के दौर का राष्ट्रगीत होने और ‘जन-गण-मन अधिनायक जय हे’ की शब्दावली में राष्ट्र की आत्मा के प्रतिध्वनित नहीं होने के तर्क के उत्तर में प्रस्तुत किया था ।

नेहरू शताब्दी सेमिनार में अनेकानेक चोटी के विद्वान एकत्र थे, लेकिन इस सवाल का जवाब किसी से नहीं बन पाया कि — जब शब्दों का नहीं, बल्कि सिर्फ धुन का महत्व होता है, तो क्या ‘जन गण-मन अधिनायक’ की राष्ट्रीय धुन में ‘लारालप्पा लारालप्पा लाई रखदा’ वाला फिल्मी गीत गाये जाने पर यहां उपस्थित सभी विद्वान यह मानकर सम्मानपूर्वक उठ खड़े होंगे कि — ‘राष्ट्रगीत’ गाया जा रहा है !

आदमी सवालों से घिरने नहीं, बल्कि जवाब देने से इन्कार करने पर छोटा पड़ता

है। ये सवाल ही है, जो कि आदमी को सृष्टि में का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बना देते हैं। विचारवान व्यक्तियों की तो पहचान ही इसमें है कि वो सवालों को खुले मिलेंगे। हम जानना चाहेंगे, तो वो बतायेंगे और अगर खुद नहीं जानते होंगे, तो हमारे साथ मिलकर जानना चाहेंगे।

सवालों से बिदकना या मुंह फुला लेना खुद के विचारशून्य और प्रमादी होने का सबूत देना है। सवाल पर मुंह फुलाइये तो सवाल भी फूलता चला जाता है। सवाल अगर गलत हो, तो भी बताना जरूरी है कि गलत कैसे है और क्यों ?

राष्ट्र के प्रतीक क्या हैं ? ये हमारे देश में भी हैं कि नहीं ? और अगर नहीं हैं, या कि आधे-अधूरे हैं, तो क्या हमें इसकी चेतना है ? अगर नहीं, तो क्यों नहीं है ?

क्या इसमें से कोई भी सवाल गलत है ? और अगर गलत नहीं है, तो 'राष्ट्रगीत' के बारे में किया गया सवाल भी सही ही क्यों नहीं होगा ? जबकि पूरे विश्व में कहीं दो-दो राष्ट्रगीत नहीं मिलेंगे। दो-दो राष्ट्रभाषाएं नहीं मिलेंगी। अगर दो भाषाओं को राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त होगी, तो समान होगी। मान्यता में अंग्रेजी और हिन्दी की भांति का दोफाड़ स्वामिनी-दासी का भेद नहीं होगा।

एक बात हमें समझ लेनी चाहिए और वह ये कि या तो हम राष्ट्रीयता की बातें करना छोड़ दें, या राष्ट्र के अंगों-प्रतीकों का सुस्पष्ट निर्धारण जरूर करें। जो राष्ट्र के अंगों-प्रतीकों की बात से इन्कार करते हों, उन्हें कोई अधिकार नहीं कि राष्ट्रीय चेतना या कि राष्ट्रीय अखण्डता, एकात्मकता आदि की बात करें। इस मामले का सबसे दुखद पहलू यह है कि स्वयं को राष्ट्रवादी करार देने वाली भाजपा में भी राष्ट्रीयता के आधारभूत तत्वों की स्पष्ट अवधारणा की कोई चिंता अभी केन्द्रीय स्तर पर नहीं।

राष्ट्र के अंगों-प्रतीकों के बारे में राजनीतिक पार्टियों और बुद्धिजीवियों के प्रायोजित मौन के कारण ही इस देश के अस्सी करोड़ नागरिकों में से सिर्फ अस्सी लोग भी यह बताने में असमर्थ ही पाये जाएंगे कि—राष्ट्र से उनका तात्पर्य क्या है !

इस प्रायोजित मौन का एक कारण यह भी है कि गीत और ध्वज के अलावा भाषा भी राष्ट्र का अंग है, या नहीं— इस सवाल से हर राजनैतिक पार्टी दूर ही रहना चाहती है। राजनीतिक पार्टियों की चुप्पी का रहस्य पता होने से बुद्धिजीवी भी पसन्द नहीं करते कि उनसे यह सवाल जवाब पाने की अपेक्षा में पूछा जाय कि भाषा राष्ट्र का अंग होती है, या नहीं ? यदि हां, तो हमारे देश में शासन की भाषा विदेशी क्यों है ? भाषा में गुलाम देश को स्वाधीन राष्ट्र कैसे कहा जा सकता है ?

बुद्धिजीवियों को इस सवाल से बचने की सुविधा प्राप्त है; क्योंकि संविधान में ही 'राष्ट्रभाषा' नहीं है।

केन्द्र सरकार के द्वारा 'राष्ट्रध्वज', 'राष्ट्रगीत' और 'राजचिह्न' ही नहीं, बल्कि

राष्ट्रीय पशु-पक्षियों पर भी पुस्तिकाएं प्रकाशित की गई हैं, लेकिन 'राष्ट्रभाषा' पर एक पंक्ति भी नहीं मिलेगी। जबकि बिना 'राष्ट्रभाषा' का 'राष्ट्र' उपनिवेश ही हो सकता है।

संविधान की यह अपरिहार्य शर्त है कि उसमें सिर्फ राज्य (स्टेट) की ही अवधारणा नहीं हो। देश का भी पारदर्शी निर्धारण जरूरी है।

कहना जरूरी है कि सिर्फ औपनिवेशिक व्यवस्था में ही संविधान को देश की स्पष्ट अवधारणा से शून्य रखा जा सकता है। औपनिवेशिक संविधान में राष्ट्र के अंगों-प्रतीकों की सुस्पष्ट पहचान नदारद होगी; क्योंकि अन्यथा पोल खुल जायेगी।

ऐसे में शिखर राजनीतिज्ञों और बुद्धिजीवियों का नैतिक दायित्व है कि वो राष्ट्रगीत 'जनगणमन अधिनायक जय हे, भारत भाग्य विधाता' का अर्थ देश के नागरिकों को बतायें जरूर। और अगर इन्हें भी कुछ पता नहीं कि इस राष्ट्रगीत का अर्थ आखिर है क्या, तो स्वीकार करे कि नहीं आता।

जैसे कि पहले भी कहा, बिना अर्थ समझे पशु-पक्षी भी नहीं गाना चाहेंगे, लेकिन हम गा रहे हैं। इस लेख का लेखक स्वीकार करता है कि उसे इस गीत का मतलब नहीं आता; क्योंकि झूठ का मतलब तो ब्रह्मा भी नहीं बतला सकते।

दूसरी बात।

आलू को बटाटा या 'पोटेटो' बताने में कोई हर्ज नहीं, लेकिन इन्हें अलग-अलग वस्तु बताने में हर्ज है। यह जालसाजी करना है।

एक ही वस्तु के कई नाम हो सकते हैं, लेकिन पर्याय 'अलग वस्तु' के सूचक नहीं होते। 'सूर्य' को 'भानु' बताकर, सूर्य से भिन्न सिद्ध नहीं किया जा सकता, लेकिन 'वंदे मातरम्' को राष्ट्रगान बताकर राष्ट्रगीत से भिन्न सिद्ध करने में कोई संकोच नहीं गया है; क्योंकि अगर दोनों को ही राष्ट्रगीत या राष्ट्रगान बताया जाता, तो बताना जरूरी हो जाता यह भी कि एक देश को दो-दो राष्ट्रगीतों या कि राष्ट्रगानों की जरूरत क्यों आ पड़ी? क्या प्रकारान्तर से ही सही, यह 'द्विराष्ट्रवाद' का सूचक नहीं?

कई लोग आपत्ति प्रकट करते हैं कि 'राष्ट्रगान' 'वंदेमातरम्' नहीं, बल्कि 'जन-मन-गण' है। ...लेकिन 'राष्ट्रगीत' और 'राष्ट्रगान' के बीच अंतर क्या होगा, सिवा इस सरकारी दलील के कि 'जन-मन-गण' तो 'राष्ट्रगान' होगा और 'वंदेमातरम्' 'राष्ट्रगीत' — इसका उत्तर किसी के पास नहीं।

इंग्लैण्ड में, एक तरह से, दोहरी राज्य व्यवस्था है। 'सम्राट्' भी है, और 'लोकतंत्र' भी। तब दो गीत भी हो सकते हैं। एक 'नेशनल एंथम' और दूसरा 'नेशनल सौंग'। एक देश और दूसरा सम्राट् के लिये। गुलाम भारत की भी दो प्रार्थनाएं थीं। एक 'यशस्वी रहे, हे प्रभो, हे मुरारे, चिरंजीव राजा व रानी हमारे!' और दूसरी — 'हे प्रभो

आनददाता, ज्ञान हमको दीजिये ।’

क्या यही दोहरा गुलामगान आज भी जरूरी है ?

औपनिवेशिकता जब राष्ट्रीयता का मुखौटा पहन ले, तब और ज्यादा घातक बन जाती है। तब शासक वर्ग का पहला काम सवालियों के जवाब से इंकार हो जाता है। ‘राष्ट्रगीत’ का अर्थ या राष्ट्रगीत-राष्ट्रगान के बीच अन्तर बताने से इंकार करके हम अपने औपनिवेशिक होने का सबूत ही प्रस्तुत कर सकते हैं।

हम एक स्वाधीन देश के वासी हैं, इस पारदर्शी प्रतीति के बिना राष्ट्रीयता असम्भव है।

इसलिए, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, कभी-न-कभी हमें बताना ही होगा कि ‘राष्ट्रगीत’ और ‘राष्ट्रगान’ से हमारा तात्पर्य क्या है ? अर्थात् ये एक ही वस्तु के दो भिन्न नाम हैं, या कि दोनों अलग-अलग वस्तुएं ? हमारी समझ में ‘राष्ट्रगीत’ और ‘राष्ट्रगान’ दोनों का अर्थ एक ही होता है — राष्ट्र की वन्दना में गाया जाने वाला गीत। इन दोनों में सिर्फ उतना ही अन्तर सम्भव है जितना आलू और बटाटा या ‘पोटेटो’ में।

अफसोस कि ‘भारतीय संविधान’ राष्ट्र के अंगों-प्रतीकों के बारे में मौन है। इससे भी गहरे अफसोस की बात यह कि हमारे तमाम शिखर राजनेता और बुद्धिजीवी भी बताने से साफ इंकार रखते हैं। तब फिर यह सवाल जरूरी होगा, कारण क्या है ? अर्थात् अगर राष्ट्रीय चेतना, अखण्डता और एकात्मकता की बातें करने का इतना शौक है, तो राष्ट्र के अंगों-प्रतीकों के बारे में जानने, या बताने से इंकार का कारण क्या है ? क्योंकि कारण नहीं होने के कारण और ज्यादा गहरे हुआ करते हैं।

जो जानते हों, उन्हें बताना भी जरूर चाहिए, क्योंकि मुर्गी तक अंडों को सिर्फ बनाती ही नहीं, बल्कि देती भी है।

ज्ञान गर्भ में दबाये रखने की वस्तु नहीं। संविधान तो फिर हर हाल में संविधान है। अर्थात् विधियों की किताब और किताब के पृष्ठ खोलना गुनाह नहीं। पन्ने खोलने पर ही किताब की धूल झड़ती है और उसमें अंकित ज्ञान अपनी रोशनी बिखेर पाता है।

□□

[‘दैनिक जागरण’ : 30 मई 1992]

राज्य और समाज : सरहदों के सवाल

क्या कभी हमारा ध्यान इस ओर भी गया कि आज जब राज्य व्यवस्था की आधुनिकतम पद्धतियाँ विकसित हो चुकी हैं, तब हमारा जीवन और ज्यादा सांसत-भरा क्यों होता गया है ? जिस संवैधानिक प्रणाली को राज्य व्यवस्था की सुचारुता का सबूत माना जाता है, इसने और ज्यादा अराजक वातावरण क्यों उत्पन्न कर दिया है ? संक्षेप में कहें, तो राज्य व्यवस्था के आधुनिकीकरण के इस तथाकथित वैज्ञानिक युग में हमारी सामाजिक स्वस्ति और ज्यादा क्यों नष्ट होती चली है ? जबकि राज्य व्यवस्था के आधुनिकीकरण के साथ-साथ हमारे सामाजिक जीवन को पहले से निरापद होते जाना चाहिये था ?

इन — या इस तरह के — सारे सवालों का जवाब इस एक बात में मिल जायेगा कि भौतिक विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ राज्यों का शस्त्रीकरण तो बढ़ता गया, लेकिन नैतिक आधार ध्वस्त होते चले हैं । इस जगत में स्वस्ति और कुशल का आधार सिर्फ एक ही है और यह है — मर्यादा ! जिस तरह भौगोलिक सीमाएं किसी राज्य के नक्शे को आकार देती हैं, ठीक ऐसे ही नैतिक सीमाएं भी राज्य के लिये इतनी ही आवश्यक हैं । राज्य की सारी मर्यादा उसके इस नैतिक बोध में ही अंतर्निहित हो सकती है कि वह समाज से, या कि समाज को, क्या समझता है; क्योंकि अगर राज्य में स्वयं के 'एक सामाजिक उत्पत्ति' होने का विवेक नदारद हो, तो वह खुद की मर्यादा को लांघेगा जरूर ! इसीलिये, आज नहीं तो कल, हमें हर हाल में फिर से राज्य और समाज की सीमा-रेखाओं का स्पष्ट निर्धारण करना ही होगा; क्योंकि विज्ञान की एकतरफा भौतिक प्रगति ने राज्य को पहले से कहीं अत्यंत ही भयावह रूप में शक्तिशाली बना दिया है । राज्यों का यह शस्त्र बल किस विनाशकारी मुकाम तक पहुंच गया है, इस संकट को सिर्फ इतनी-सी बात से बहुत अच्छी तरह समझ लिया जा सकता है कि परमाणु या प्रक्षेपास्त्रों के निरस्तीकरण की बातें खुद राज्य ही करने लगे हैं । इसलिये इतना स्पष्ट जान लेना चाहिये कि राज्य के भस्मासुर हो चुके होने को समझे बिना समाज के संकटों की समझ असम्भव है ।

भौतिक विज्ञान ने दो मोर्चों पर राज्य को आसुरी शक्तियों से लैस कर दिया है ।

शस्त्रागारों ही नहीं, बल्कि अपसंस्कृति, अर्थात् विकृति, के संसाधनों के स्तर पर भी लैस हो जाने से, राज्य की मारक शक्ति अपार हो चुकी है। पहले राज्य की पहुंच मनुष्य की अंतरात्मा की सरहदों तक नहीं थी। अब संचार, प्रचार और प्रसार माध्यमों ने उसके पंजों को कबंध दैत्य का विस्तार दे दिया है। अब आदमी का शरीर ही नहीं, बल्कि चित्त भी सीधे-सीधे राज्य की पहुंच में है और राज्य के हमारे चित्त के साथ के क्रूर खिलवाड़ों ने ही हमारे सामाजिक जीवन को नरक में बदलने की प्रक्रिया तेज कर रखी है।

अगर फिलहाल हम सिर्फ भारत के सन्दर्भ में देखें, तो इतना ही पर्याप्त होगा, इस सचाई को समझने के लिये कि राज्य व्यवस्था के द्वारा खुद की मर्यादाओं के अतिक्रमणों ने ही सारी तबाही मचा रखी है। शुद्ध आततायी राज्य व्यवस्था—हमारे भीतर तक लहलुहान हो चुके होने का सिर्फ यही कारण है। अगर राज्य व्यवस्था अमानवीय नहीं होती, तो कोई कारण नहीं था कि हमारा जीवन इतना विषाक्त हो जाता। आज हमारे पास राज्य के बर्बर उत्पीड़न के विरुद्ध सांत्वना खोजने के लिये भी सिवा उस की ही शरण में जाने के और कोई विकल्प नहीं। कहीं कोई ऐसी सामाजिक संस्था बची ही नहीं, जहां हम राज्य के उत्पीड़न के विरुद्ध सांत्वना खोज सकें।

दिल्ली में नवम्बर 1984 का जो नरमेध हुआ, उस सिलसिले में न्यायिक आयोग बिठाये गए। उन्होंने जिस तरह की लीपापोतियां कीं और हत्यारो-लुटेरों के विरुद्ध कोई प्रभावी कदम नहीं उठाया, उससे यह अन्तिम रूप से सिद्ध हो गया कि जहां राज्य समाज के उत्पीड़न के आरोप में खुद कठघरे में खड़ा होगा, वहां राज्य के वेतनमानों और अनुग्रहों पर टिकी न्यायपालिका भी कानूनी कार्यवाहियों की नौटंकियां ही खेलेगी। इस तरह वह राज्य व्यवस्था हमेशा ज्यादा खतरनाक सिद्ध होती है, जो खुद के पापों, अपराधों अथवा त्रुटियों के स्वीकार से इंकार करना जरूरी समझती है।

रामराज्य राजा के तक दण्डविधान से ऊपर नहीं होने का प्रतीक है। जबकि हमारी इस मौजूदा तथाकथित लोकतांत्रिक व्यवस्था में शिखर राज्यप्राधिकारियों के दण्डित किये जा सकने की कोई व्यवस्था कतई नहीं है। अभी कुछ ही अरसा पहले सर्वोच्च न्यायालय ने एक ही अपराध के लिये चपरासी को तो दण्डित कर दिया, लेकिन 'राजपत्रित' अधिकारी को नहीं। प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्रियों से लेकर, अनेकानेक उच्च राज्यप्राधिकारियों, यहां तक कि खुद न्यायिक अधिकारियों के भी मनमानेपन और स्वेच्छाचार की सारी जड़ें यहीं छिपी हैं। जो राज्य व्यवस्था खुद को कानून या दण्डविधान से ऊपर कर ले, वह समाज के प्रति उत्तरदायी कभी नहीं हो सकती। राज्य के समाज के प्रति उत्तरदायी होने की यह बुनियादी शर्त है कि वह भी उन्हीं कानूनों के वृत्त में रहे, जिन्हें कि समाज पर लागू किया गया हो।

समाज की उत्पत्ति और उसका एक अंग-मात्र होने के बावजूद, राज्य का अपनी

समाज से स्वच्छंद सम्प्रभु शक्तिद्वीप की हैसियत से पृथक् सत्ता कायम कर लेना, हर हाल में समाज की सत्ता का अतिक्रमण करना ही होगा; क्योंकि राज्य की हैसियत समाज की सरहदों के भीतर ही हो सकती है। राज्य की हैसियत समाज से अलग, बाहर या ऊपर होना ही समाज के लिये खतरनाक सिद्ध होता है। आज पूरे विश्व में राज्य के शक्ति-केन्द्रों में बैठे लोगों की पहली नैतिक ही नहीं, बल्कि संवैधानिक जिम्मेदारी भी है कि वो राज्य व्यवस्था के समाज की सरहदों को लीलने की प्रक्रिया का प्रतिरोध करें।

राज्य ही देश या समाज भी नहीं होता, लेकिन तानाशाही तथा साम्राज्यवादी प्रकृति की राज्यव्यवस्था यही सिद्ध करना चाहती है। मार्क्सवाद की सारी बुनियादी विडम्बना ही इस एक बात में रही है कि वह राज्य के समाज के ऊपर होने की निरंकुशता का प्रतिकार नहीं करता। समाज के सारे कार्य-कलापों, यहां तक कि खेती और संस्कृति को भी राज्य के एकाधिकार की वस्तु करार देने के कारण ही आज मार्क्सवाद को सामाजिक विद्रोहों की चपेट में आना पड़ा। अफसोस कि हम अभी भी कोई सबक लेना नहीं चाहते।

मनुष्य के हित में यह आवश्यक है कि राज्य और समाज के कार्य-क्षेत्रों में एक स्पष्ट और पारदर्शी विभाजन रहे। समाज के कार्य-क्षेत्रों को समाज के लिये छोड़ देने पर, राज्य का बोझ स्वतः ही कम हो जायेगा और इससे उसे अपने कार्य-क्षेत्रों के निर्वहन को पर्याप्त समय मिल सकेगा। राज्य का मुख्य काम समाज में कानून व्यवस्था को प्रभावशाली बनाना है; क्योंकि सामाजिक सुरक्षा और संरक्षा के सारे बुनियादी सवाल इसी से जुड़े हुए हैं; लेकिन हमारे मौजूदा परिदृश्य को कानून व्यवस्था के उजाड़ का सूचक ही कहा जा सकता है; क्योंकि विधि के सुचारु व्यवस्थापन की जगह, यह धार्मिक-पंथिक और जातिवादी विवादों में ज्यादा रुचि दिखा रही है।

हमारी मौजूदा राज्यव्यवस्था ने, धीरे-धीरे, धर्म, जाति, मजहब, पंथ और संस्कृति तक को खुद के हस्तक्षेप के दायरों में खींच लिया है। अब बाबरी मस्जिद और राम जन्मभूमि से लेकर, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्रों तक में पुरस्कार, उपाधियां बांटने, यहां तक कि पुस्तकें खरीदने का काम भी सरकार के हाथों में है।

संगीत, नृत्य या नाटक आदि सभी क्षेत्रों में सरकार ने लोगों को अनुदानजीवी और अनुग्रहजीवी बना दिया है। धीरे-धीरे लोगों को इस मानसिकता के हवाले कर दिया है कि हर काम सरकार के ही करने का है। इससे समाज की इद्रियां मरने लगी हैं। लोगों में बिना सरकारी अनुग्रह के खड़ा रह सकने की शक्ति समाप्त होती जा रही है। सरकार का एकमात्र लक्ष्य समाज को जड़ और दिशाहीन बना देना ही होता गया है, ताकि लोगों में इस अपनी बुनियाद में ही औपनिवेशिक व्यवस्था को बदलने की क्षमता ही नहीं रहे। हालांकि यह कोई अंतिम और अचूक उपाय नहीं, लेकिन उत्पीड़न और शोषण को व्यवहार के स्तर पर बरकरार रखते हुए, विचारधारा में पवित्रता की नौटंकी

चलाने का राज्य के पास सिवा इसके कोई रास्ता भी नहीं कि या तो वह साम्यवाद के मुखौटे में विचार और अभिव्यक्ति का दमन करे और या फिर लोकतंत्र के लबादे में समाज की सारी इंद्रियों को खुद की गिरफ्त में लेता जाए।

धीरे-धीरे साहित्य, संगीत, नाटक और लोकसंस्कृति तक को अपने साये में समेटकर सरकार ने समाज को संवेदन और विचार के स्तर पर कितना खोखला तथा अपंग बना दिया है, इसके उदाहरणों की कोई कमी नहीं। धर्म, मजहब, पंथ और जाति-भाषा के नाम पर सरकार जब चाहे, तब पूरे देश में बलवे मचा सकती है; क्योंकि कोई सामाजिक इकाई ऐसी बची ही नहीं है, जो देश के लोगों को वैचारिक दीवालियेपन और मानसिक उन्मादों से बचा सके। और तो और, लोकतंत्र का चौथा पाया कहा जाने वाला प्रेस भी लोगों में राष्ट्रीय या कि सामाजिक चेतना जगाने में कोई प्रभावी पहल कतई नहीं कर पाया है। बल्कि गौर से देखा जाए, तो साफ पता चल जायेगा कि पत्रकारिता राजनीति की प्रतिच्छाया बनकर रह गई है। इसमें समाज की आत्मा को जगाने की क्षमता नहीं रह गई। राजनीति और पत्रकारिता, दोनों ने लोगों में एक ऐसी विचारशून्य मानसिकता निर्मित कर दी है, जिससे सनसनी, उन्माद और अपसंस्कृति के प्रतिरोध की शक्ति ही नहीं रहे।

उस प्रत्येक समाज को अंततः राज्य व्यवस्था के मनमानेपन का आखेट होना ही पड़ेगा, जो राज्य पर से अपना अंकुश गंवा दे। जब राजगज मदमत्त हो जाय, तो वह अंकुश गंवा चुके समाज को कैसे रौंद सकता है, इसके ही उदाहरण 'ब्लूस्टार ऑपरेशन', नवम्बर 1984, जून 1975 और भोपाल गैस काण्ड आदि हैं। भोपाल गैस काण्ड के अपराधियों के विरुद्ध निंदा का एक वाक्य लिखने तक से देश का सर्वोच्च न्यायालय साफ इंकार कर गया। हजारों लोग कीट-पतंगों में शुमार हो गये। यह भारतीय समाज के संवेदन और सोच-विचार के स्तर पर जड़ बनाये जा चुके होने का सबूत है। अपनी इस वास्तविकता को अनदेखा करना ठीक नहीं।

मौजूदा राज्य व्यवस्था ने खुद को समाज की सरहदों से बाहर कर लिया है। लोग इसके लिये सिर्फ इस्तेमाल की सामग्री रह गये हैं। शिक्षा और कानून व्यवस्था को पूरी तरह औपनिवेशिक बना दिया जा चुका है। देश की तमाम तथाकथित राष्ट्रीय नीतियां औपनिवेशिकता की जड़ों को मजबूत बनाने वाली हैं। राज्य का यह समाज से स्वच्छंद उपनिवेश की हैसियत बना लेना ही समाज के अंकुश से बाहर हो जाना है। एक-से-एक बीहड़ तस्कर और अपराधकर्मियों के विधायक, सांसद या मंत्री बनने के रास्ते इसीलिए खुल गये कि समाज में इन्हें रोक सकने की क्षमता नहीं रह गई। जब कानून के हत्यारों के ही कानून के रखवालों की हैसियत के रास्ते खुल जाएं, तो चारों तरफ कैसे आतंक और त्रास का वातावरण बनता जाता है, इसे हम खुली आंखों

से सामने-सामने देख रहे हैं, लेकिन जिनकी आत्मा मर चुकी हो, उनकी आंखें खुली होने से कोई फर्क नहीं पड़ता।

हमारे देखते-देखते सरकार ने, दूरदर्शन के माध्यम से, घरों को कोठों और सिनेमाघरों की शक्ल दे दी है। नाचघरों और घरों के बीच का फर्क खत्म कर दिया है। अपसंस्कृतिके इस चौरतफा आक्रमण ने समाज के संवेदनतंत्र को तहस-नहस करने में अपनी तरफ से कोई कसर नहीं छोड़ रखी है। पूरा देश सांस्कृतिक, वैचारिक और संवेदनात्मक उजाड़ के मुहाने पर पहुंच चुका है। गुलामी की दसियों शताब्दियों ने देश को उतना भयावह संकट उत्पन्न नहीं किया, जितना तथाकथित आजादी की सिर्फ साढ़े चार दशाब्दियों ने, लेकिन हमें चेत नहीं है।

सांस्कृतिक, संवेदनात्मक और वैचारिक, हर सामाजिक मोर्चे पर हम आज आत्महंता प्रवृत्तियों की गिरफ्त में आ चुके हैं। राष्ट्रीय सामाजिक नेतृता नाम की चीज पूरे देश में कहीं नहीं। सबके कलेजों में दाग मौजूद मिलेंगे। धर्म, मजहब, वंश, जाति और भाषा के स्तर पर सब-के-सब वोट की राजनीति के मोहरे बनाये जा चुके हैं। जहां तक सामान्य जन का प्रश्न है, वह आतंक और आततायीपन के दो पाटों के बीच घिर चुका है और जो लोग इन सारी स्थितियों के लिये जिम्मेदार हैं, वो सारे-के-सारे राजगद्दियों पर विराजमान हैं। सत्तारूढ़ राजनैतिक दलों और विरोधी राजनैतिक पार्टियों के बीच का फर्क खत्म हो चुका है। ये एक-दूसरे को देश के संसाधनों की लूट-खसोट में भागीदार बनाये रखने की राजनीति खेलते चले जा रहे हैं। ये, दरअसल, एक-दूसरे के पूरक बन चुके। एक ही सिक्के दो पहलू! एक पहलू गद्दी पर है, तो दूसरा गद्दी के पीछे!

एक भी विरोधी पार्टी ऐसी नहीं है, जो समाज की सत्ता का वास्तविक या प्रभावी प्रतिनिधित्व करती हो। जो राज्यप्राधिकारियों को उनके मनमानेपन के लिये समाज के सामने हाजिर किये जाने की मांग कर सके। जबकि अगर राज्यप्राधिकारियों को उनके मनमानेपन से हुई सामाजिक क्षतियों के किये कठघरे में खड़ा किये जाने की कोई व्यवस्था नहीं, तो स्पष्ट है कि समाज का पक्ष समाप्त हो चुका है।

समाज की सत्ता का सिकुड़ना ही राज्य की सरहदों का फैलना है, जबकि राज्य को समाज के नक्शे का एक हिस्सा होना चाहिये, समाज को राज्य के नक्शे का नहीं। इस झांसे में कुछ दम नहीं कि लोकतंत्र में राज्यसत्ता में परिवर्तन की शक्ति जनता के हाथों में ही होती है...क्योंकि अगर जनता में खुद के अपराधियों को कठघरे में खड़ा करने और उन्हें उनके मनमानेपन से हुई सामाजिक क्षतियों के लिये सजा दिलवा सकने की क्षमता नहीं, तो इस सच्चाई को चुपचाप स्वीकार कर लिया जाना चाहिये कि उसके हाथों में कोई वास्तविक सत्ता नहीं है।

एक भूतपूर्व प्रधानमंत्री राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह जी के दृष्टांत से इतना भली

भांति समझ में आ जाना चाहिये था कि अगर समाज जागृत होता, और राज्यप्राधिकारियों को उनके मनमानेपन की सजा दिलाने में सक्षम, तो आज भूतपूर्व प्रधानमंत्री राजा विश्वनाथ सिंह जी किसी जेल के सींखचों के भीतर होते, संसद में नहीं। बिना संवैधानिक परीक्षण के ही मण्डल आयोग के बण्डल को बाकायदे राष्ट्रीय नीति के रूप में लागू करके साठ के करीब विद्यार्थियों को आत्मदाह के हवाले करने, और देश की अरबों की क्षतियाँ करवाने वाला व्यक्ति यदि कानून की गिरफ्त से बाहर ही रहा, तो इसलिये कि 'भारतीय संविधान' में प्रधानमंत्रियों के कैसे भी बर्बर और भयानक अमानुषिक कृत्यों के लिये कोई दण्डव्यवस्था नहीं है।

ऐसे में, इतना देशवासियों को समय रहते समय समझ लेना चाहिये कि यह जो लोकतंत्र के लबादे में हिटलर-मुसोलिनी और नादिरशाह की तानाशाही को भी मात कर सकने की छूट भारत के प्रधानमंत्रियों को बाकायदे संवैधानिक स्तर पर मिली हुई है, इसके दुष्परिणाम आगे 'ब्लूस्टार ऑपरेशन', नवम्बर 1984 और मण्डल रपट के अमानुषिक कृत्यों से भी बड़े पैमाने पर भोगने ही होंगे। 'क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा—राज्य को भस्मासुर बनने की छूट देना ठीक नहीं; क्योंकि संवैधानिक मान्यता प्राप्त भस्मासुर पहले अपने नहीं, बल्कि समाज के ऊपर 'हाथ' आजमाता है।

लोकतंत्र की तो बुनियादी शर्त ही यही है कि—राज्यतंत्र लोकनियंत्रण में हो !...जबकि हमारा मौजूदा हाल क्या है, इसे अगर हम अभी भी ठीक-ठीक नहीं देख पा रहे हैं, तो इसीलिये कि—जिनकी चेतना मर चुकी, उनकी आँखें खुली होने से कुछ नहीं होना।

[‘दैनिक जागरण’: 9 दिसम्बर 1991]

राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बुनियादी सवाल

बहुत ही सामान्य, लेकिन उतना ही जरूरी भी है यह सवाल कि आखिर राष्ट्र और राष्ट्रीयता के मूल तत्व क्या हैं। और कि क्या इन मूल तत्वों का सामावेश हमारे संविधान में मौजूद है? अगर नहीं तो फिर इसे देश या राष्ट्र का संविधान क्यों बताया जाता है?

क्या यह सचमुच राष्ट्रीय शर्म का विषय नहीं कि 'भारतीय संविधान' में राष्ट्र या राष्ट्रीयता की कोई अवधारणा, संकल्पना या परिभाषा नहीं। इसमें कहीं स्पष्ट नहीं कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता से संविधान, या कि इसके निर्माताओं का आशय क्या है? जबकि राष्ट्र, राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद की बात करते में सवाल जरूरी होगा यह भी कि आखिर हमारे संविधानवेत्ताओं या राजनीतिक पार्टियों की दृष्टि में राष्ट्र और राष्ट्रीयता के अंग क्या हैं? देश और राष्ट्र एक - दूसरे के पर्याय हैं, या नहीं? अगर हैं, तो ब्रिटिश साम्राज्य के दौर में भी क्या भारतवर्ष राष्ट्र ही था? अथवा देश तो था, लेकिन राष्ट्र नहीं था? अथवा राष्ट्र था, मगर देश नहीं था? अथवा कुछ के लिए तो था, लेकिन बाकी के लिये नहीं? जिनके लिए था, वो कौन थे और राष्ट्र की उनकी अवधारणा क्या थी? उसमें कौन-कौन से बातें मानी गयी थीं?

इन सवालों का उत्तर खोजते में स्वतः ही यह यक्षप्रश्न सामने आ जाएगा कि भारत के ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वाधीनता संग्राम का मूल आधार क्या था? वह राष्ट्रीय आंदोलन था, या नहीं? उसमें भाषा और संस्कृति राष्ट्र के मुख्य अंग माने गये, या नहीं? और अगर माने गये थे, तो स्वाधीनता-प्राप्ति के तुरंत बाद ही भाषा और संस्कृति के सवालों को तहखानों में क्यों दबा दिया गया?

स्पष्ट है कि ये सवाल स्वाधीनता के बाद सिर्फ इसलिए महत्व नहीं पा सके कि इन्हें केन्द्र में रखकर राज्य व्यवस्था के उस औपनिवेशिक ढाँचे को ज्यों-का-त्यों बरकरार नहीं रखा जा सकता था, जिसकी सारी दीक्षा ही स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की चेतना को कुचलने से जुड़ी रही। औपनिवेशिक व्यवस्था एक खास तरह के लम्बे अभ्यास के बाद ही अपनी जड़ों को गहरे तक जमा पाती है। उसका यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक उसके तान्त्रापलट की नौबत नहीं आ जाए। सौदेबाजी के आधार पर प्राप्त की जाने वाली स्वाधीनता के तौर पर देश को उस कथित स्वदेशी औपनिवेशिकता के हवाले होना पड़ता है, जो स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की चेतना के राजनीतिक इस्तेमाल में दक्ष हो चुकी होती है। जो जानती है कि लोगों में अगर

स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की समझ बन जाए, तो उन्हें सिर्फ स्वदेशी लबादों से संतुष्ट नहीं किया जा सकता ; क्योंकि विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वाधीनता की भूमिका सिर्फ तख्तापलट तक सीमित नहीं हो सकती ।

स्वाधीनता और राष्ट्रीयता कैसे ताने-बाने की शक्ति में ही काम कर सकते हैं, कैसे इनका प्रवाह राजनीतिक ही नहीं, बल्कि आर्थिक -सामाजिक शोषण से मुक्ति के क्षितिजों को भी अपने में सजोये रहता है, इसबात से कांग्रेस और कांग्रेस को आर्थिक खुराक तथा प्रचार माध्यम सुलभ कराने वाली शक्तियों से अधिक अवगत भला और कौन हो सकता था? देश के संसाधनों की एक वर्ग - विशेष द्वारा विशेष - लूट की छूट सिर्फ औपनिवेशिक व्यवस्था के ढांचे को कायम रखकर ही ली जा सकती है, यह सबक भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रशासनिक ढांचे की संरचना से प्राप्त हो चुका था । ऐसी स्थिति में 25 अगस्त 1947 के बाद, कांग्रेस के गांधी से नाभिनाल संबंध के चटखने के साथ ही, भारत की कथित स्वदेशी राज्यव्यवस्था में औपनिवेशिकता के जाल को और मजबूत करते जाने की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो गयी । परिणामस्वरूप स्वाधीनता आंदोलन के साथ जुड़े राष्ट्रीयता के सारे सवालों को एक -एक करके इस तरह हाशियों पर डाल दिया गया कि दुबारा देश की मुख्यधारा में इनको शामिल ही नहीं किया जा सके । इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना और अस्मिता की मांगों, या जरूरतों को 15 अगस्त 1947 की कथित राजनैतिक स्वाधीनता की विरासत कांग्रेसी नेताओं के हाथों में जाने के साथ ही स्वतःसिद्ध रूप से समाप्त और अप्रासंगिक मान लिया गया ।

स्वाधीनता के बाद के पिछले साढ़े चार दशकों की भारतीय राजनीति के इतिहास के पृष्ठों को उलटकर इस तथ्य को साफ - साफ देखा जा सकता है कि कैसे राष्ट्रीयता की जगह सिर्फ औपनिवेशिकता को ही बढ़ावा देने की प्रवृत्ति हावी होती चली गयी । डॉ॰ लोहिया के जीवन काल तक सोशलिस्ट पार्टी ने जरूर अपनी राजनीति में राष्ट्रीयता के सारतत्वों को संजोये रखने का सिलसिला बनाये रखा, लेकिन उनके अवसान के साथ ही राष्ट्रीयता के आखिरी बड़े अलम्बरदार के अंत के बाद का सन्नाटा भी छा गया ।

भाषा को राष्ट्र और राष्ट्रीयता की अपरिहार्य शर्त मानने वालों में गांधी के बाद सिर्फ डॉ॰ लोहिया ही एकमात्र ऐसे शिखर राजनेता थे, जो भाषा और संस्कृति की भूमिका को स्वाधीनता से जोड़कर देखते रहे । देश में औपनिवेशिकता को बढ़ावा देने में कांग्रेस का सबसे गहरा साथ कम्युनिस्ट पार्टियों ने दिया । भाषा और संस्कृति को राष्ट्रीयता की अपरिहार्य मांगों के रूप में देखने से साफ इंकार की कांग्रेसी प्रवृत्ति में इनका ही साझा सबसे ज्यादा रहा ।

भाषा ही संस्कृति का संवहन कर सकती है, इस सच्चाई से अवगत होते भी अंग्रेजी को देश की नियति-निर्धारण का साधन बनाये जाने की राष्ट्रद्रोही प्रवृत्ति में

सबसे मजबूत राजनैतिक समर्थन कांग्रेस को कम्युनिस्ट पार्टी से ही मिला और परिणाम सामने है।

डॉ० लोहिया के समय तक औपनिवेशिकता का इतना खुला, बल्कि लगभग नंगा स्वरूप अपना आकार नहीं ले पाया था। इसे राष्ट्रीयता की झिल्लियों के भीतर-भीतर ही इस मुकाम तक पहुंचाया गया, जहां आर्थिक मोर्चे को सुदृढ़ करने की ओट में डंके की चोट पर पूरे देश को बहुराष्ट्रीय व्यापारिक प्रतिष्ठानों के लिए खुला बाजार बनाया जा सके। लोगों को बताया जा सके कि कैसे हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की डूबती नैया को सिर्फ बहुराष्ट्रीय व्यापारिक प्रतिष्ठान ही पार लगा सकते हैं। साथ-साथ लोकतंत्र के लबादे के भीतर एक ऐसे औपनिवेशिक तंत्र को लगातार मजबूत बनाया गया, जो एक तरफ तो राष्ट्र की अखण्डता की नौटकियां चलाता रहे और दूसरी तरफ लोगों को धर्म, पंथ, वर्ग और जातियों के धमासान के हवाले करता जाए।

औपनिवेशिकता के मुक्तिसंधर्ष में यह तथ्य आधारभूत रूप में शामिल होता है कि राजनैतिक स्वाधीनता के प्राप्त होते ही आर्थिक और सामाजिक मुक्ति की मुहिम में अपने को पूरी तरह झोंक दिया जाए; क्योंकि विदेशी दासता से मुक्ति के संधर्ष में ही राष्ट्रीय चेतना को व्यापक जनआंदोलनों का वह मरुत्प्रवाह मिल पाता है, जो आर्थिक-सामाजिक मोर्चों पर भी कायाकल्प को सम्भव बना सके। राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की चेतना का यह देशव्यापी मरुत्प्रवाह ही धर्म, मजहब, पंथ और जातीयता के अंतर्विग्रहों को हाशियों पर डाल सकता है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकंजे से मुक्ति के संधर्ष के कई दर्शकों और कथित स्वाधीनता के बाद के साढ़े चार दर्शकों का आपस में मिलान करने से स्पष्ट पता चल जाएगा कि कैसे स्वाधीनता आंदोलन के पूरे दौर में ब्रिटिश शासकों की सारी जीतोड़ कूटनीतियों के बावजूद धर्म, मजहब, पंथ और जाति आदि के विग्रह कभी भी अपना मुहं ठीक से उघाड़ नहीं पाये, लेकिन कथित राजनीतिक स्वाधीनता के बाद राष्ट्रीयता और सामाजिक-आर्थिक स्वाधीनता की चेतना को लगभग पूरी तरह कुचल दिया जा चुका है। धर्म, मजहब, पंथ और जातियों के प्रायोजित धमासान देश के नियति-निर्धारक तत्व बनाये जा चुके हैं।

कांग्रेस के वंशवाद ने तो सत्ताकेन्द्र को ही राष्ट्र और राष्ट्रीयता का पर्याय बनाकर रख दिया। परिणामस्वरूप राष्ट्र के संसाधनों की लूट खसोट और बंदरबांट में शामिल नारा ही राष्ट्र के भाग्यनिर्धारण के सम्प्रभुत्व से सम्पन्न और औपनिवेशिक सत्तातंत्र के अपरिहार्य अंग बनते और बाकी सारे लोग इनके अरण्य-विलास तथा आखेट के हवाले होते चले गये। लोकतंत्र के मुखौटों में जनाखेट का यह औपनिवेशिक सिलसिला तब तक नहीं थमेगा, जब तक कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता की चेतना को ठीक उसी मुकाम से फिर आगे नहीं बढ़ाया जाता, जहां पर इसे छोड़ दिया गया था। इस तथ्य को समझ लेने के बाद ही यह बात भी उभरकर सामने आयेगी कि किसी भी देश में राष्ट्र और राष्ट्रीयता की चेतना को जगाने और बनाये रखने में भाषा या संस्कृति

की क्या भूमिका हुआ करती है।

तब यह सवाल जरूरी होगा कि 'भारतीय संविधान' ही नहीं, बल्कि स्वाधीनता के बाद के साहित्य में भी राष्ट्र और राष्ट्रीयता की अवधारणा या परिभाषा की प्रक्रिया तक गायब क्यों है ? क्यों ऐसा है कि एक छोटा - सा गुटका तक कहीं नहीं मिलेगा, जिसमें राष्ट्र और राष्ट्रीयता के सारतत्वों की पहचान तय की गयी हो। बताया गया हो कि ये- ये वस्तुएं राष्ट्र-राष्ट्रीयता के अपरिहार्य अंग हैं। यहां तक कि राष्ट्रीयता के आलाप को राष्ट्रवाद के तारसप्तक तक खींचने में समर्थ भारतीय जनता पार्टी के पास भी कोई ऐसी पुस्तिका नहीं मिलेगी, जिसमें यह काम किया गया हो। जबकि स्वाधीनता संग्राम के दौर के बाद संस्कृति के सवाल को राजनीति के केन्द्र में लाने का काम सिर्फ भारतीय जनता पार्टी ही अपने हाथों में लिये हुए है। अपनी राजनीतिक जरूरत में ही सही, संस्कृति और स्वदेशी के सवाल उठाकर उसने बाकी की राजनीतिक पार्टियों को भी उस मोड़ पर खड़ा कर दिया है, जहाँ उनकी समझ में आने लगा कि धर्म मजहब, पंथ या जातियों की राजनीति में भी कैसे संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता के सवालों के समावेश से ही बड़ा मोर्चा खोला जा सकता है। स्पष्ट है कि भाजपा ने राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद की मुहिम में अभी पूरी तरह खुलकर सिर्फ संस्कृति के सवालों को शामिल किया है, भाषा के सवाल को नहीं, लेकिन आगे उसका इस सच्चाई से वास्ता पड़ेगा जरूर कि बिना भाषा के सिर्फ संस्कृति के मोर्चे पर ही राष्ट्रीयता की मुहिम खोलना एकपहिया गाड़ी चलाने के सिवा कुछ नहीं।

भाजपा के पार्टी साहित्य में ही क्यों, भारतीय भाषाओं के किसी मानक भाषाकोश में भी राष्ट्र या राष्ट्रीयता की कोई सांगोपोग अवधारणा या परिभाषा कतई नहीं मिलेगी। कांग्रेस ने तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विरासत संभालने के साथ ही सत्ता केन्द्र को राष्ट्र का पर्याय बनाने का अभियान शुरू कर दिया था। हिन्दी की व्यापकता का अनुमान उन्हें स्वाधीनता-आंदोलन के दौरान लग ही चुका था, इसलिए कांग्रेस ने हिन्दी में देश को सिर्फ राष्ट्रपति मात्र प्रदान किया, जिससे यह समीकरण स्वतः सिद्ध हो गया कि चूंकि राष्ट्रपति महोदय को प्रधानमंत्री की मुट्ठी में रहना होता है, इसलिए राष्ट्र की भी जगह सिर्फ यही या यहीं होगी। तर्क की दृष्टि से भी देखें तो राष्ट्र कभी भी राष्ट्रपति से बड़ा हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार भाषा के मोर्चे पर दो काम एक साथ किये गए। अंग्रेजी को सत्तासाम्राज्य की केन्द्रीय भाषा ही नहीं बनाया गया, बल्कि इसके प्रसार के मुहानों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दौर से भी ज्यादा चौड़ा कर दिया गया। जबकि हिन्दी को देश के पिचानबे प्रतिशत लोगों को बेवकूफ बनाने की भाषा की नियति में धकेल दिया गया। सत्ताकेन्द्र में उसकी हैसियत अंग्रेजी की जूठन पर पलने वाली तो बनायी ही गयी, साथ ही, राजभाषा का टोपा-सम्मेलन-मार्का टोपा पहनाकर, अन्य भारतीय भाषाओं के बीच प्रताड़ित होने की व्यवस्था भी कर दी गयी। अंग्रेजी के (विशुद्ध

अंग्रेजी माध्यम वाले प्रभुसत्ता वर्ग के नियंत्रण वाले) कान्फेन्टों में सिर्फ हिन्दी ही नहीं, बल्कि किसी भी अन्य भारतीय भाषा का व्यक्तिगत बातचीत के बीच इस्तेमाल आज भी सिर मुड़ाने की नौबत ले आता है, पर चूंकि सभी भारतीय भाषाओं में राष्ट्रीयता की चेतना शून्य के बिन्दु पर है, इसलिए अंग्रेजी के साम्राज्यवाद के विरुद्ध कहीं कोई आंदोलन नहीं होता। किसी हिन्दी माध्यम वाले स्कूल-कॉलेज में अगर किसी प्रादेशिक भाषा के विद्यार्थी का सिर मातृभाषा के इस्तेमाल के दण्डस्वरूप मुड़वा दिया गया होता, तो तमाम दलित वर्गवादी राजनीतिक पार्टियां देश भर में हंगामा खड़ा कर देतीं।

सत्ताकेन्द्र में अंग्रेजी की एकछत्रता को सारी राजनीतिक पार्टियों का भरपूर समर्थन प्राप्त है। सिर्फ भाजपा या समाजवादी जनता दल खेमों का खानापूरी वाला नैतिक विरोध बुलबुलों की शक्ति में सामने आता रहता है। सभी कम्युनिस्ट पार्टियां अंग्रेजी के साम्राज्यवाद में कांग्रेस की सबसे बड़ी समर्थक हैं। राष्ट्रीयता को ये ऐसे राष्ट्रवाद की शक्ति में देखती-दिखाती रहती हैं, जिसे सिर्फ 'फासिज्म' ही करार दिया जा सकता है। राष्ट्रीयता को फासिज्म करार देने वाली कम्युनिस्ट पार्टियों ने इस सवाल का कोई जबाब कभी नहीं दिया कि जब 'राष्ट्रवाद' फासिज्म के सिवा कुछ नहीं, तो 'अंतरराष्ट्रीयतावाद' की साम्यवादी अवधारणा को भी सिवा अंतरराष्ट्रीय फासिज्म के और कुछ कैसे माना जा सकता है? राष्ट्र और राष्ट्रीयता की अवधारणा तक से धृणा के कारण ही कम्युनिस्ट पार्टियों ने 'राष्ट्रभाषा' के सवाल को केन्द्र में नहीं आने दिया। कांग्रेस की ही भांति, कम्युनिस्ट शिखर नेतृत्व की केन्द्रीय भाषा भी अंग्रेजी ही रही है।

भाजपा भी राष्ट्र या राष्ट्रीयता के संदर्भ में कोई पारदर्शी अवधारणा नहीं दे पा रही है। इसका एकमात्र कारण उसकी राजनैतिक आत्मभीति ही है। 'राष्ट्रभाषा' को राष्ट्र या राष्ट्रीयता का अपरिहार्य अंग घोषित करने के नैतिक साहस से वह भी वंचित है। जबकि जिस भी राजनीतिक पार्टी को देश की मुख्य राष्ट्रीय पार्टी के रूप में अपनी जड़ें जमानी हों, उसे 'राष्ट्रभाषा' के सवाल को केन्द्र में रखना ही होगा; क्योंकि भाषा को हाशिये पर रखकर राष्ट्र, राष्ट्रीयता या स्वाधीनता अथवा संस्कृति के सवालों को हवा में तो उछाला जा सकता है, लेकिन देश में राष्ट्रीयता की चेतना को वास्तव में जगाया नहीं जा सकता।

हाल ही में निर्वाचित राष्ट्रपति माननीय श्री शंकरदयाल शर्मा जी ने पूर्व-राष्ट्रपति माननीय वेंकटरमण जी से भी ज्यादा स्पष्ट शब्दों में पूरे देश को रामने इस सच्चाई को उघाड़कर रख दिया कि जहां तक केन्द्र सरकार का सवाल है, उन्होंने स्पष्ट कहा कि देश के लोग सिर्फ अंग्रेजी ही समझते हैं। उसकी दृष्टि में सिर्फ अंग्रेजी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा है। सार्वजनिक समारोहों में सिवा अंग्रेजी के किसी भी अन्य भाषा में बोलने से साफ इनकार करके, वर्तमान राष्ट्रपति जी ने इतना प्रभाव तो बना ही दिया कि वो झूठ बोलने में कोई रुचि नहीं रखते। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि कोई भी भारतीय

भाषा अभी इस योग्य नहीं कि जिसमें भद्रसमाज के बीच बात की जा सके ।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता के सारे पाखण्डों के बीच की सच्चाई यही है कि कम से कम राजनीतिक स्तर पर तो 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' के सवालों को बाकायदे कब्र में दफना दिया जा चुका है ।

भाजपा सिर्फ संस्कृति को कब्र की मिट्टी समेटकर ऊपर लाती दिखाई पड़ रही है । जबकि भाषा संस्कृति का अविच्छिन्न अंग है । संस्कृति को छोड़कर भाषा या कि भाषा को छोड़कर संस्कृति की बात करना हर हाल में अधूरी बात करना है । रूस इसका उदाहरण है । वहां कम्युनिस्ट पार्टी ने भाषा को तो नहीं, लेकिन संस्कृति को हटा दिया । यहां भाजपा भाषा को हाशिये पर छोड़कर, संस्कृति लायेगी । कैसी विडम्बना है कि दलित वर्ग को सामाजिक न्याय दिलाने वाले सारे 'मसीहा' अंग्रेजी को केन्द्रीय भाषा बनाये रखने के मुरीद हैं । अगर आप आम आदमी की भाषा की वकालत करने से इंकार कर रहे हों, तो सामाजिक न्याय की आपकी सारी दलीलें सिवा छद्म के और कुछ नहीं ।

यह कारण है कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बुनियादी सवालों के मामलों में सारे देश में एक शून्य व्याप्त मिलेगा । इस देश के प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति महोदय तक को मालूम नहीं कि हमारे राष्ट्रगान 'जन-मण-मन अधिनायक जय हे' का मतलब क्या है । पूरे देश में एक भी राजनेता या बुद्धिजीवी नहीं मिलेगा, जो इसका मतलब बता सके ।

ऐसे में सवाल जरूरी होगा कि जब राष्ट्र और राष्ट्रीयता के शिगूफों का इतना हंगामा है, तो इनकी अवधारणा या परिभाषा से साफ इन्कार क्यों ? स्मरण रहे कि वस्तु के बारे में आधारभूत सिद्धांत यह है कि अगर कोई उसके बारे में जानकारी की हैसियत से बताना चाहे, तो सारे अंगों समेत बताये, कुछ या किन्हीं विशेष अंगों को छिपाकर नहीं । यह तय करना जरूरी है कि भाषा और संस्कृति 'राष्ट्र' या राष्ट्रीयता का अपरिहार्य अंग हैं, या नहीं ? भाजपा ने संस्कृति को तो अपरिहार्य अंग मान लिया लेकिन भाषा को नहीं । क्यों ? राष्ट्र या राष्ट्रीयता की संकल्पना और परिभाषा को लेकर राजनीति ही नहीं, बल्कि साहित्य में भी व्याप्त जिस शून्य की चर्चा यहां की गयी है, उसे एक किनारे हटाया नहीं जा सकता । बिना भाषा और संस्कृति के सवालों के राष्ट्र या राष्ट्रीयता की बातें करना देश के बाशिंदों को धोखा देना है ।

कांग्रेस तथा उसकी अन्य साथी धर्मनिरपेक्षतावादी पार्टियां भी इन सवालों को इसलिए नहीं छूना चाहतीं कि कट्टरपंथी मुस्लिम नेतृत्व की नाराजगी मोल लेने की क्षमता किसी में नहीं । इन्होंने संस्कृति के निषेध की भी खुली छूट दे रखी है और राष्ट्रभाषा के सवाल को भी दबा दिया है । सत्यम्, शिवम्, 'सुन्दरम्' में से 'शिवम्' को हटाये जाने की मांग कुल मिलाकर देश की संस्कृति और राष्ट्रीयता के निषेध की ठीक वैसी ही खुली छूट है, जैसी कि वंदेमातरम् को राष्ट्रगान मानने से इंकार की ।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बुनियादी सवाल यही हैं, बाकी के सारे सवाल इन्हीं से जुड़े हैं। जहां भाषा और संस्कृति का निषेध हो, वहां राष्ट्रीयता की चेतना नहीं सकती।

16 अगस्त 92 के 'राष्ट्रीय सहारा' के 'हस्तक्षेप' परिशिष्ट में विख्यात इतिहासज्ञ बिपिनचन्द्रा के सुविस्तृत लेख 'मौजूदा भारत में राष्ट्रवाद की अवधारणा और प्रासंगिकता' छपा। पूरे लेख में कहीं कुछ ऐसा नहीं था, जिससे पता चले कि राष्ट्र या राष्ट्रीयता के आधारभूत सारतत्वों की उन्हें कोई पारदर्शी समझ है। उनका सारा जोर 'मौजूदा भारत' में राष्ट्रवाद की प्रासंगिकता के निर्धारण की मशक्कत पर रहा, लेकिन जहां अवधारणा ही आधी-अधूरी और गड़ड़-मड़ड़ हो, वहां प्रासंगिकता के निर्धारण से क्या होगा।

बिपिनचन्द्रा जी ने राष्ट्रवाद की मार्क्स की अन्तरराष्ट्रीयतावाद की अवधारणाओं को भी दधृत किया, लेकिन समझ में सिर्फ इतना ही आ पाया कि या मार्क्स की राष्ट्र की अवधारणा आधी-अधूरी थी या फिर बिपिनचन्द्रा को इन्हें आधा अधूरा उद्धृत करना ही जरूरी लगा। इसीलिए पर्याप्त बौद्धिक प्रतीत होती शब्दावली के बावजूद स्पष्ट नहीं हो पाता कि बिपिनचन्द्रा भारत में प्रचलित 'मौजूदा राष्ट्रवाद' या कि राष्ट्रवाद की मौजूदा अवधारणाओं की बात करना चाहते हैं, अथवा 'मौजूदा भारत', या कि भारत में इन दिनों मौजूदा राष्ट्रीय हादसों की? क्योंकि भारत में आज बाकायदे भांति-भांति के आतंकवाद मौजूद हैं, पृथक्तावाद को ही राष्ट्रवाद करार देते हुए।

'मौजूदा भारत' को लें, तो कहां तक जाएगा इसका नक्शा? सिर्फ कश्मीर से कन्याकुमारी और राजस्थान-पंजाब से पश्चिमी बंगाल तक ही या कि वहां तक भी जहां इस का नाम 'भारतवर्ष' रखा गया? अगर हम मौजूदा भारत के नक्शे को भारतवर्ष के उद्गम तक भी ले जाना चाहें, तो इसके लिए क्या सिर्फ भौगोलिक नक्शा ही पर्याप्त होगा, या तब संस्कृति, स्मृति और भाषा के सवाल भी सामने आएंगे?

मार्क्स और लेनिन का जहां तक सवाल है, उन्हें राष्ट्र के आधारभूत तत्वों का ज्ञान होना सम्भव ही नहीं था; क्योंकि जहां विचारधारा और पार्टी ही सर्वोच्च तत्व हों, वहां राष्ट्र की अवधारणा असम्भव है। तब राष्ट्र की अवधारणा करते में सिर्फ इतिहास, भूगोल अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, विचारधारा या राज्य (स्टेट) के तत्व ही निर्धारक मानक होंगे। मार्क्स-लेनिन की राष्ट्र की अवधारणा में संस्कृति, भाषा और स्मृति के सवालों का समावेश कहीं और कतई नहीं है। वे सिर्फ कम्युनिस्ट विचारधारा और राज्य की अवधारणा ही कर सकते थे। उनका लक्ष्य संस्कृति और स्मृति के सवालों से जुड़ना अथवा जोड़ना नहीं था। दूसरे, मार्क्स की 'स्वाधीनता' की अवधारणा ही अधूरी है। आर्थिक मुक्ति को ही सामाजिक मुक्ति मानने का कोई मतलब नहीं, अगर कि आर्थिक मुक्ति 'सद्विश्वास' के आधीन हो। स्वाधीनता मात्र सद्विश्वास की वस्तु नहीं है। स्वाधीनता को बाधा मानने वाली विचारधाराओं में

राष्ट्र की अवधारणा असम्भव है; क्योंकि स्वाधीनता राष्ट्र का अपरिहार्य तत्त्व है।

स्वाधीनता कैसे राष्ट्र का अपरिहार्य अंग है, यह संस्कृति, जातीय परम्परा और स्मृति का ज्ञान होने पर ही जानना सम्भव है। देश (कंट्री) और राष्ट्र (नेशन) के बीच का अन्तर इस बात से ही स्पष्ट होता है कि देश गुलाम भी हो सकता है, जबकि 'राष्ट्र' स्वाधीन ही होगा। देश गुलाम होगा, तो संस्कृति, जातीयता और स्मृति का दमन सबसे जल्दी हो सकता है, क्योंकि बिना इनका दमन किये किसी को गुलाम नहीं बनाया जा सकता—न राजनैतिक और न ही आर्थिक-सामाजिक तौर पर। न व्यक्ति और न ही देश को। इसीलिए राष्ट्रीयता के आन्दोलन में आर्थिक-सामाजिक स्वाधीनता के सवाल भी अपरिहार्य हुआ करते हैं। सिर्फ भौगोलिक आजादी कोई आजादी नहीं। संस्कृति, स्मृति और भाषा में स्वाधीन हुए बिना स्वाधीनता असम्भव है। साम्यवाद की अवधारणा में स्वाधीनता का समावेश करके कम्युनिस्ट पार्टी या कि स्टेट (राज्य) की एकमात्रता का सिद्धांत प्रतिपादित करना चूंकि असम्भव था, इसलिए मार्क्सवाद, लेनिनवाद में संस्कृति, परम्परा, जातीयता या स्मृति का समावेश वर्जित ही रहा। पारिणाम आज सामने है। रूस में कम्युनिस्ट पार्टी के पतन का मूल कारण रूस की संस्कृति, जातीयता और स्मृति से पार्टी का शून्य होना ही रहा है। सिर्फ 'विचारधारा' के आधार पर साम्राज्य तो कायम किया जा सकता है, लेकिन देश के राष्ट्रीय आधारों का परिपालन नहीं हो सकता।

बिपिनचन्द्रा 'राष्ट्र-राज्य' शब्दयुग्म का प्रयोग 'राष्ट्र' के अर्थ में करते हैं, जबकि शब्दों का जोड़ा वस्तुओं का जोड़ा भी होगा जरूर। दो भिन्न शब्द दो भिन्न वस्तुओं के सूचक होंगे। चंद्र-भानु का मतलब सिर्फ चन्द्रमा या भानु-चंद्र का अर्थ सिर्फ सूर्य कभी नहीं होगा। ऐसे ही 'राष्ट्र-राज्य' का शब्दयुग्म भी दो परस्पर भिन्न वस्तुओं का सूचक ही हो सकता है। राष्ट्र को राज्य या राज्य को राष्ट्र का पर्याय बनाना सिर्फ शब्दों नहीं, बल्कि वस्तुओं में हेराफेरी करना भी है। पर्याय का समतोल होना जरूरी है। राज्य का वजन राष्ट्र के सामने बहुत छोटा है। इनके सारतत्त्व बहुत भिन्न हैं।

राष्ट्र (नेशन) और राज्य को एक ही अर्थ या तात्पर्य में इस्तेमाल करना इस बात का सूचक है कि या तो ज्ञान नहीं या इरादा गलत है। राज्य की सरहदें सिर्फ भौगोलिक और प्रशासनिक हुआ करती हैं, अर्थात् सिर्फ मौजूदा; क्योंकि राज्य का मतलब देश नहीं होता।

राष्ट्रवाद पर बात राष्ट्र के बाद ही की जा सकती है, लेकिन इसे मार्क्स और लेनिन तक ने जरूरी नहीं माना तो बिपिनचन्द्रा जी क्यों मानें? यहां यह समझ में आ जाना चाहिए कि एक वस्तु के लिए एक शब्द का ही प्रयोग होता है, लेकिन वस्तु के अलग-अलग अंगों के लिए उसी शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। राज्य—राष्ट्र इसका अपवाद नहीं है। राज्य (स्टेट) राष्ट्र का अंग होता है, स्वतः ही राष्ट्र नहीं। 'राज्य'

अगर राष्ट्र का पर्याय होता, तो ब्रिटिश राज्य के दौर में भारत ब्रिटिश राष्ट्र भी जरूर कहलाता। मुगल राज्य का मतलब भी मुगल राष्ट्र नहीं होता। अन्यथा 'कांग्रेसी राज्य' को भारत को 'कांग्रेस राष्ट्र' बताते देर नहीं लगती। भाजपा का हिंदू राष्ट्र का तर्क भी इसलिये बेबुनियाद है कि हिंदू संस्कृति में राज्य को राष्ट्र मानने की परम्पर नहीं है, हिंदू राज्य हो सकता है, हिंदू राष्ट्र नहीं।

छाया-बौद्धिकों की यह अपरिहार्य नियति है कि वो कभी मूल प्रश्नों में जायेंगे ही नहीं, क्योंकि तब राज्य (स्टेट) का कोपभाजन बनना पड़ेगा। मौजूदा भारत की राज्यव्यवस्था का स्वरूप ब्रिटिश राज्य व्यवस्था से कोई बहुत ज्यादा भिन्न नहीं। इसमें वास्तविक स्वाधीनता का समावेश नहीं है। स्वाधीनता की भ्रांति का प्रक्षेपण जरूर है तब फिर इस सवाल में जाना होगा कि बिल्कुल समीप के ही स्वाधीनता आन्दोलन में वो कौन-सी बातें थीं, जिन्होंने इसे एक राष्ट्रीय स्वरूप दिया था। भाषा तक के सवाल पर तब कहीं कोई विरोध हिन्दी को लेकर कतई नहीं था। तब चक्रवर्ती राजगोपालाचारी खुद हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने पर केवल जोर ही नहीं दे रहे थे, बल्कि कांग्रेसी मुख्यमंत्री के रूप में हिन्दीविरोधियों को जेलों में बंद भी करवा रहे थे। नेता जी ने इलाहाबाद में बंगालियों के बीच बंगला में बोलने से इंकार कर दिया था। कहा था कि इलाहाबाद में बसे बंगालियों को हिंदी आती होगी। आनी चाहिये। यह एक खुला तथ्य है कि हिंदी-द्रोह की मुहित कथित स्वाधीनता के तुरन्त बाद ही पंडित नेहरू एंड कम्पनी के द्वारा शुरू की गयी। इस प्रकार भारत की राष्ट्रभाषा के सवाल को राज्य (केन्द्र सरकार) के स्तर पर लगभग सदा के लिए दफन कर दिया गया। अब अगर डॉ॰ रोमिला थापर या बिपिनचन्द्रा राष्ट्रवाद की अवधारणा और प्रासंगिकता की बात को समग्रता में उठायें, तो उन्हें केन्द्र सरकार से यह सवाल करना ही होगा कि आखिर राष्ट्र और राष्ट्रीयता के सारे बुनियादी सवालों को 95 अगस्त 9489 के साथ ही जमींदोज करने का काम क्यों शुरू कर दिया गया? संस्कृति, जातीयता, स्मृति और भाषा ही नहीं, बल्कि स्वेदशी के सारे तर्क ही नेस्तनाबूद क्यों और कैसे हो गये? क्या इनका इस्तेमाल सिर्फ स्वाधीनता प्राप्त करने तक ही सीमित था?

स्पष्ट है कि इन सवालों के सामने पड़ते ही सबसे पहले स्वयं मौजूदा भारत के वो तमाम छाया-बौद्धिक ही परेशानी अनुभव करेंगे, जिनका सारा ताम-शाम राष्ट्र और राष्ट्रीयता के सवालों को दबाये रखने में राज्य का हाथ बांटने के कौशल पर टिका है। ऐसे लोगों के लिए मौजूदा भारत की ऐसी किसी भी राजनीतिक पार्टी में कोई जगह नहीं हो सकती, जो राष्ट्र या राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद के बुनियादी सवालों को केन्द्र में लाना चाहें। यह भी इतना ही निश्चित है कि जब तक राष्ट्रीयता के बुनियादी सवाल केन्द्र में नहीं होंगे, तब तक मौजूदा भारत के किसी भी क्षेत्र में कोई भी ऐसा व्यक्तित्व सामने नहीं आ पाएगा, जो ब्रिटिश साम्राज्य की गुलामी से भी बदतर तथाकथित स्वाधीनता की इस भीषण धुंध को चुनौती दे सके, जिसने हर

वस्तु में पूरे देश को मंगखद्दा बना दिया है।

विपिनचन्द्रा जी की 'रामायण' में राम और रावण की पहचान गायब है। उन्होंने इस तथ्य को अनदेखा कर दिया है कि राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता के नारों को राजनीति के केन्द्र में लाने का काम कांग्रेस के हाथों से खिसककर भाजपा के हाथों में क्यों आ गया है ? भाजपा के अंतर्विरोधी राष्ट्रवाद में चाहे जो भी खामियां हों, लेकिन इतना निश्चित है कि संस्कृति और स्वदेशी के नारे को फिर से केन्द्र में लाने की हवा बांधकर उसने बाकी सारी राजनीतिक पार्टियों की हालत खस्ता कर दी है।

भाजपा की संस्कृति और स्वदेशी के सवालों को केन्द्र में लाने की प्रक्रिया चूंकि अपने में अंतर्विरोधी है, इसीलिये उसने भाषा के सवाल को केन्द्र में रखने की बात नहीं उठायी है, जबकि विदेशी भाषा में स्वदेशी के आह्वान को सिर्फ नारेबाजियों के स्तर पर ही आकार दिया जा सकता है।

भाजपा के राष्ट्रवाद और स्वदेशी आंदोलन की सबसे कमजोर नस यही है कि वह अतीत के नकार या कि अतीत से इंकार का एक बहुत बड़ा चोर-दरवाजा खुला रखना चाहती है। उसने लगता है शायद इसीलिये स्वदेशी और राष्ट्रीयता के साथ भाषा के सवाल को नहीं उठाया है। जहां तक भारत के स्वाधीनता-संग्राम का प्रश्न है, उसमें राष्ट्रीयता और स्वदेशी के आह्वान का भी मूल साधन भाषा को ही माना गया था और इसी प्रक्रिया में हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया गया। व्यापक राष्ट्रीय पैमाने पर स्वाधीनता आन्दोलन की मुख्य भाषा हिन्दी ही रही; क्योंकि तब माना गया कि राष्ट्र के स्तर का कोई भी आह्वान या कि आंदोलन 'राष्ट्रभाषा' में ही सम्भव है।

एक ऐसी भाषा राष्ट्रीयता की पहली शर्त है; जो देश के सारे ओने-कोनों में पहचानी जाती हो। यों मौजूदा भारत सरकार भी बिलकुल दावा कर सकती है कि उसने अंग्रेजी के रूप में बिलकुल ऐसी ही भाषा को राजभाषा (आफिशियल लैंग्वेज) बना रखा है, जिसे जानने वाले देश के हर हिस्से में मौजूद हैं। लेकिन राष्ट्रभाषा से तात्पर्य देश के अधिसंख्य तथा सामान्य जनो की सर्पक भाषा भी होता है, सिर्फ सम्प्रभुओं की भाषा नहीं। भाजपा अगर स्वदेशी के आन्दोलन में भारतीय भाषाओं की अंग्रेजी की गुलामी से मुक्ति के सवाल को भी जोड़ लेती, तो देर-सवेर कांग्रेस से बड़ी ऐसियत बना सकती थी। बना सकती है। लेकिन स्पष्ट है कि भाजपा देश के पूँजीवादी ढाँचे को छूना नहीं चाहती।

अंग्रेजी, दरअसल, आज भारत में पूँजीवादी शासनतंत्र का अपरिहार्य अंग बन चुकी है। बिना इस पूँजीवादी ढाँचे को बदले किसी भारतीय भाषा का केन्द्र में आना या कि अंग्रेजी के साम्राज्य का टूटना — असम्भव है।

पूँजीवाद के बारे में एक तथ्य को समझ लेना आवश्यक है और वह यह कि पूँजीवाद भारत की संस्कृति, समृद्धि और परम्परा की उपज नहीं। पूँजीवाद पूरी तरह औपनिवेशिक विचारधारा है, इसलिये यह भारत की संस्कृति और जातीय स्मृति तथा

परम्परा को तहस-नहस करके ही दम लेगा।

पूँजीवाद और राष्ट्रीयता, ये दो साथ-साथ असम्भव हैं। साम्यवाद की ही तरह पूँजीवाद भी राष्ट्रीयता के विध्वंस की शर्तों पर ही पनप सकता है। जबकि भारत की सारी सांस्कृतिक सिद्धि स्वाधीनता और अध्यात्म के सूत्रों के विस्तार में है, पूँजीवाद इसकी छूट नहीं दे सकता। पूँजीवाद का मूल तत्त्व अपसंस्कृति है।

जाहिर है कि भाजपा की ही तरह, बिपिनचन्द्रा भी इस खतरे को स्पष्ट तौर पर जानते हैं कि राष्ट्र की समग्र अवधारणा के सामने आते ही विदेशी भाषा की छतरी के नीचे राष्ट्र की अंतरात्मा को जोंकों की तरह चूसने में लगे लोगों का सारा सम्प्रभुत्व सवालियों के घेरे में आ जाएगा। तब अंग्रेजी माध्यम के शिक्षा संस्थानों ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी माध्यम की पार्लियामेंट और सुप्रीमकोर्ट आदि को भी राष्ट्रीयता की शर्तों से जुड़ना होगा। यह कारण है कि बिपिनचन्द्रा जी ने 'मौजूदा भारत' के सन्दर्भ में राष्ट्रवाद की अवधारणा प्रदान करते हुए, राष्ट्र के वस्तुगत ज्ञान का सवाल कहीं उठने ही नहीं दिया। उनके पूरे लेख में जातीयता, परम्परा, संस्कृति, स्मृति और भाषा के सवालियों की उपस्थिति कहीं नहीं।

उन्होंने भूल से भी जिक्र नहीं किया कि 'संस्कृति' राष्ट्र का मूल आधार है। अनेकों राज्यों में बंटा होने पर भी भारत अगर अनेक देशों में नहीं बदला था, तो इसका मूल आधार संस्कृति में एक होना ही था।

इस्लाम की बुनियाद संस्कृति नहीं। इस्लाम, सांस्कृतिक नहीं, धार्मिक तथ्य है। उसमें 'देश' का वजूद 'धर्म' से जुड़ा है, संस्कृति से नहीं। भारत के सन्दर्भ में संस्कृति के सवाल को इस दृष्टि से भी देखा जाना जरूरी होगा।

राष्ट्रीयता की नारेबाजी का कुछ लोगों तक सीमित हो जाना, न देश के हक में है और न देशवासियों के। जो स्वयं ही नहीं जानते कि राष्ट्र या राष्ट्रीयता के सारतत्त्व क्या हैं, वो ही इसके ठेकेदार बने बैठे हों, तो राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद की अवधारणा और प्रासंगिकता पर बात करते में देखना जरूरी होगा यह भी कि 'राष्ट्रपति' का मतलब क्या लगाया जाए?

यह कोई विनोद या मखौल की बात नहीं। किसी व्यक्ति को 'राष्ट्रपति' बताना पूरे राष्ट्र की अवमानना है; क्योंकि राष्ट्र एक सांस्कृतिक प्रत्यय है। राष्ट्र (शब्द) की सांगोपांग या समग्र अवधारणा से इंकार ही राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता की प्रासंगिकता का निषेध भी है।

कदाचित बिपिनचन्द्रा का 'मौजूदा भारत' से तात्पर्य 1947, अर्थात् विभाजन के बाद के भारत से हो, तब भी देखना जरूरी होगा कि विभाजन सिर्फ देश का हुआ था, राष्ट्रवाद, या राष्ट्रीयता का नहीं। पाकिस्तान के हिस्से भारत की सिर्फ जमीन ही गयी, राष्ट्रीयता नहीं; क्योंकि पाकिस्तान ने 'भारतीय संस्कृति' को विरासत नहीं माना,

उसने सिर्फ भूगोल-खगोल से वास्ता रखा। तब राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता के संदर्भ में 'भारत की मौजूदा परिस्थितियों' या कि 'भारत में राष्ट्रवाद के मौजूदा स्वरूप' की बात तो की जा सकती है, लेकिन 'मौजूदा भारत' की नहीं; क्योंकि संस्कृति और राष्ट्रीयता के मामले में भारत जो, अथवा जैसा, पहले था, वही और वैसा ही आज भी है।

कांग्रेसी सरकारों का सारा राष्ट्रवाद अगर सचमुच सिर्फ 'मौजूदा राष्ट्रवाद' ही साबित होकर रह गया है, तो इसीलिए कि सारी चिंताएं ही सिर्फ मौजूदा परिस्थितियां रही हैं। इसीमें राज्य (केन्द्र सरकार) को ही राष्ट्र का पर्याय भी बना कर संस्कृति या राष्ट्र की आत्मा के सवालों को भाड़ में झोंक दिया गया। मुस्लिम वोट बैंक के ठेकेदार कहें कि 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' हटाओ, तो कोई देर नहीं; क्योंकि संस्कृति को सिर्फ गद्दी के नीचे ही इस्तोमाल करना है। यह नहीं देखना है कि 'वोट,' देने वालों का भारत की संस्कृति से भी कोई सरोकार है कि नहीं। अगर है, तो इसका स्मृति से भी कोई सम्बंध है कि नहीं।

भाजपा का 'मौजूदा राष्ट्रवाद' आज कांग्रेस के 'मौजूदा राष्ट्रवाद' से कुछ आगे बढ़ गया है, तो सिर्फ इसलिए ही कि उसने राम तथा रामजन्मभूमि के निमित्त से संस्कृति और स्वदेशी की मुहिम छेड़ दी। लेकिन चूंकि राष्ट्र या संस्कृति की समग्र अवधारणा अभी भाजपा में भी नदारद है, इसलिए उनका राष्ट्रवाद भी काफी हद तक 'मौजूदा' की सरहदों तक ही सीमित है।

इस तर्क से कहा जा सकता है कि विपिनचन्द्रा जी गलत नहीं। 'मौजूदा भारत' के रूप में राष्ट्रीयता की वास्तविक अवधारणा से शून्य राष्ट्रवादी वो अकेले नहीं हैं। तब उन्हें क्यों चिंता हो कि भारत जब भी होगा अपने पूरे सांस्कृतिक-सामाजिक मानचित्र के साथ मौजूद होगा—सिर्फ 'मौजूदा भारत' के रूप में नहीं!

राष्ट्र या देश के मामले में आज तक कोई आर-पार की बहस कभी नहीं उठाई गई, किसी भी राजनीतिक पार्टियों के द्वारा, तो इसीलिये कि तब 'राजनीति के मौजूदा स्वरूप' को भी अमूल-चूल बदलना पड़ सकता है। जबकि सभी मौजूदा राजनीतिक पार्टियों का पहला सरोकार सिर्फ सत्ता की राजनीति है, देश या राष्ट्र नहीं। अन्यथा राष्ट्रीयता के निर्धारण का सवाल कोई अगम्य सवाल नहीं है।

लोग अक्सर 'भारतीयता' की बात करते हैं, लेकिन 'भारतीयता' से उनका आशय 'भारतीय संविधान' के प्रावधानों से हुआ करता है, जबकि 'भारतीय संविधान' सिर्फ राज्य (भारत सरकार) का संविधान है, भारतवर्ष का संविधान नहीं। भारतवर्ष के संविधान को संस्कृति और स्मृति के सवालों को हटाकर नहीं बनाया जा सकता। 'मौजूदा भारतीय संविधान', या कि 'भारतीय संविधान के मौजूदा ढाँचे' में संस्कृति और स्मृति के सवाल कोई सवाल ही नहीं हैं। जबकि 'भारतीयता' तय करते में पहला ही प्रश्न 'स्मृति' का होगा।

अर्थात् क्या है, कहाँ तक जातो है, या कि जानी चाहिये, 'भारत' (वर्ष) की

स्मृति ?

उत्तर में हिमालय है और दक्षिण में समुद्र । आसेतु हिमालय की यह स्मृति ही भारतीयता का प्रथम प्रश्न है । यह नहीं, तो 'भारतीयता' नहीं है ।

तब जरूरी होगा कि या तो हम 'भारतवासी' या 'भारतीय संस्कृति' की बात ही नहीं करें और या 'भारतीयता' के सवालों से देसरोकारी को राष्ट्रीयता का निषेध करार दें ।¹ क्योंकि उत्तर में हिमालय है और दक्षिण में समुद्र — और इन्हें ऐसे ही बनाये रखना है, स्मृति और प्राणों में — इसी एक सूत्र में गुंथे हैं हमारे वो समस्त सांस्कृतिक ताने-बाने, जिन्होंने 'एक ही सत्य को विप्र अनेक प्रकार से प्रकट करते हैं, को सतत प्रवाह में बनाये रखा ।

छोटे-छोटे गणराज्यों या राज्यों में विभाजित होने के बाद भी भारतवर्ष राष्ट्र था । ब्रिटिश साम्राज्य के रूप में राष्ट्र नहीं था । इसलिये वो सारी स्थापनाएँ, राष्ट्रीयता की अवधारणा के निषेध में ही इस्तेमाल की जायेंगी, जो कि ब्रिटिश साम्राज्य के द्वारा भारत को राष्ट्र का रूप दिये गये होने के कठजान की उपज हैं ।

देश के सहस्राब्दियों के संवेदनात्मक तथा सांस्कृतिक उपार्जनो का निषेध करके उसे राष्ट्र नहीं बनाया जा सकता । ब्रिटिश हुकूमत ने यही किया, जबकि मुसलमान बादशाहों ने ठीक यही नहीं किया । संस्कृति के निषेध को संघातक रूप में बढ़ावा पहले ब्रिटिश और फिर काँग्रेसी हुकूमत के दौर में मिला ।

भाषा का निषेध ही संस्कृति के निषेध का सबसे प्रभावी उपाय है । ब्रिटिश और काँग्रेसी हुकूमत ने यही किया है । आज जो अपसंस्कृति की इतनी गंद स्वयं केन्द्र सरकार के द्वारा फैलाई जा रही है, इसका रहस्य भी यही है । संस्कृति के निषेध और राष्ट्रीयता के अभियान को साथ-साथ नहीं चलाया जा सकता, लेकिन काँग्रेसी हुकूमत को इसमें कोई कठिनाई नहीं । मद्यानिषेध और शराबखोरी, दोनों साथ-साथ चलाने का हुनर भी इसी अभ्यास की देन है ।

तब जरूरी होगा कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता की बात करते में राष्ट्रीयता के बुनियादी सारतत्त्वों का स्पष्ट निर्धारण और इस सत्य को स्वीकार किया जाए कि विदेशी भाषा में राष्ट्रीयता असम्भव है । विदेशी भाषा में शासन का मतलब ही औपनिवेशिकता का संरक्षण है ।

फिलहाल भारतवर्ष की स्थिति अमेरिका-इंग्लैण्ड के राजनैतिक-आर्थिक उपनिवेश से भिन्न कतई नहीं है । एक राजनीतिक व्यक्ति के 'राष्ट्र का पति' होने को संवैधानिक मान्यता के रहते राष्ट्र या राष्ट्रीयता असम्भव है ।

शब्द राष्ट्रीयता का प्रथम तत्त्व है । जहाँ शब्द की प्रतिष्ठा नहीं हो, वहाँ मनुष्य की प्रतिष्ठा असम्भव है और जहाँ मनुष्य नहीं, वहाँ देश-काल की । तब सवाल जरूरी होगा कि राष्ट्र या राष्ट्रीयता के बुनियादी सवालों को केन्द्र में रखने से सारी राजनीतिक पार्टियों को साफ इंकार क्यों है ?

वास्तविकता यह है कि मौजूदा सभी राजनीतिक पार्टियों के लिये देश एक

राजनीतिक बाजार है। इधर राष्ट्रवाद, या राष्ट्रीयता, की चर्चा जोरों पर है, लेकिन आश्चर्य कि इसमें साहित्य-संस्कृति अथवा विचार के क्षेत्रों के लोगों की जगह, राजनीतिक पार्टियों की भागीदारी ही प्रमुख है। यह राजनीतिक 'भागीदारी' राष्ट्र और राष्ट्रीयता की 'ठेकेदारी' के मुकाम तक पहुँची दिखाई देती है, तो इसलिये कि साहित्य-संस्कृति और विचार जगत के कथित मूर्खन्यों ने अवधारणा, भाषा, मीमांसा, व्याख्या या परिभाषाओं के मामलों में अपना दखल कछुओं की तरह समेट लिया है। इसलिये राष्ट्र, राष्ट्रीयता, भाषा या संस्कृति -जैसे मामलों में भी राजनीतिक पार्टियों का एकाधिपत्य हो गया है, जबकि राष्ट्रीयता या संस्कृति के मूल तत्त्वों, या आधारों का निर्धारण 'राजनीति' के दायरे में सम्भव ही नहीं है। कैसी भी विचारधारात्मक राजनीतिक पार्टी के द्वारा राष्ट्र या राष्ट्रीयता की समग्र अवधारणा सम्भव ही नहीं, जब तक कि देश और समाज का समीकरण नदारद हो।

भारत की किसी भी मौजूदा राजनीतिक पार्टी में कोई ऐसा राजनेता कहीं नहीं, जो राष्ट्र की स्पष्ट, सांगोपांग अथवा पारदर्शी अवधारणा में समर्थ हो। वैसे भी राजनीति मुख्यतः स्थापना का क्षेत्र है। बल्कि कोई भी राजनैतिक विचारधारा, मूलतः, स्थापना के तर्क से ही चलती है। अवधारणा किसी 'धारा' के लिये नहीं की जा सकती। खुद राज्य या कि राजनीति की अवधारणाएँ भी बाहर से होती हैं। राज्य या कि राजनीति खुद ही अवधारित तथ्य हैं, अवधारक नहीं। जब कि किसी भी वस्तु के निर्धारण में अवधारक की सत्ता ही प्रमुख और निर्णायक होती है। इस तर्क से बिल्कुल कहा जा सकता है कि अवधारणा राजनैतिक नहीं, सामाजिक वस्तु है।

अवधारणा निरुद्देश्य नहीं होगी, लेकिन अवधारणा किसी विशेष उद्देश्य के सीमित दायरे में नहीं की जा सकती। जबकि राज्य के 'परिसीमित' होने से राजनीति का परिसीमन भी स्वतः हो जाता है। जब तक यह प्रक्रिया समाज के नियंत्रण में रहती है, राज्य और राजनीति का स्वरूप सर्वग्रासी, या कि एकाधिपत्यवादी, नहीं हो पाता, है, लेकिन जब अवधारणा, भाष्य, व्याख्या और मीमांसा अथवा परिभाषा का काम भी राज्य स्वयं करने — या कराने — लगे, तो अनदेखा करना ठीक नहीं।

राष्ट्र या राष्ट्रीयता को लेकर राजनीतिक पार्टियों ने जिस तरह सारी निर्धारकता को अपनी मुठियों में समेट लिया है, यह गहरे संकट का सूचक है; क्योंकि अब राजनीतिक पार्टियों के द्वारा राष्ट्र या राष्ट्रीयता का 'अनुकूलन' किया जा रहा है। प्रत्येक राजनीतिक पार्टी देश के लोगों के सोच-विचार और संवेदनों का अनुकूलन खुद के दलगत स्वार्थों के हिसाब से कर रही है। धर्म, मजहब, वर्ण, जाति और नस्ल ही नहीं, बल्कि बाकायदे संस्कृति तक का इस्तेमाल इसी तर्क से हो रहा है।

यह राजनीतिक पार्टियों, दूसरे शब्दों में राज्य, के द्वारा अवधारणा और स्थापना ही नहीं, बल्कि भाष्य, मीमांसा और परिभाषा के काम को भी अपने हाथों में समेटने की प्रक्रिया आगे चलकर और भी ज्यादा संघातक सिद्ध होने वाली है। इसलिये राष्ट्र या राष्ट्रीयता के मामले में राजनीतिक पार्टियों या कि राज्य के एकाधिपत्य को चुनौती

जरूरी होगी। सवाल है यह कि इस काम को करेगा कौन ?

जैसा कि पहले ही कहा, हमारे तमाम बौद्धिक भूर्धन्यों ने या तो खुद को 'कच्छप' कर लिया है और या राजनीतिक पार्टियों अथवा विचारधाराओं के हिसाब से 'स्थापना' का रास्ता अपना लिया है। राष्ट्र, राष्ट्रवाद या कि राष्ट्रीयता के बुनियादी सवालों को लेकर आज भी जो सिर्फ धुंध-ही-धुंध कायम है, इसका रहस्य यही है।

वस्तु का यह नियम है कि सह 'सम्पूर्णता' में ही हो सकती है। राष्ट्र इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता। 'सम्पूर्णता' वस्तु और शब्द की प्रकृति है। यही 'सांगोपांगता' का तर्क है कि कोई भी कुछ अंशों या कुछ अंगों से पूर्ण नहीं हो सकता। भारत की तमाम मौजूदा राजनीतिक पार्टियों की राष्ट्र या राष्ट्रीयता की स्थापना सरासर अधूरी और इसीलिये धुंध फैलाने वाली है। दरसल इन सभी का गंतव्य 'राज्य' है, राष्ट्र नहीं। देश इनको साध्य नहीं, साधन है। इसी से राष्ट्र या राष्ट्रीयता की इनकी तमाम स्थापनायें सिवा सफेद झूठ के और कुछ नहीं हैं। चरम राष्ट्रवादी भाजपा भी इसका अपवाद नहीं, क्योंकि आधी-अधूरी अवधारणा कोई अवधारणा नहीं होती। होलाँकि आज जो ;राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता फिर से चर्चा में हैं, इसका सारा श्रेय भाजपा को ही है।

राज्य के ढाँचे में कुछ तथ्य राष्ट्रवाद के ठूसकर राष्ट्रीयता का निर्धारण नहीं किया जा सकता। यह जो बिपिनचंद्रा या रजनी कोठारी-प्रभृति बौद्धिकों के द्वारा 'राष्ट्र-राज्य' का युग्म चलाया गया, इसलिये कि राज्य के अपने-आप में राष्ट्र और समाज भी होने की धुंध फैलायी जा सके। राष्ट्रीयता के निर्धारण में देश की सांगोपांग, समग्र या सुनिर्दिष्ट अवधारणा से इंकार का रहस्य यही है। इसीसे किसी भी राजनीतिक पार्टी के पास राष्ट्र या राष्ट्रीयता का कोई सुनिर्दिष्ट नक्शा नहीं है। जबकि वस्तु यदि 'सुनिर्दिष्ट' नहीं, तो उसका पूरा होना सम्भव नहीं।

तब समझना कठिन नहीं होगा कि इन राजनीतिक पार्टियों—या कि उनके बौद्धिकों—के द्वारा राष्ट्र या राष्ट्रीयता के निर्धारण में संस्कृति को केन्द्र में रखने से इंकार क्यों है। जबकि किसी भी देश या कि समाज की सिर्फ 'राजनैतिक सत्ता' कभी नहीं होगी। बिना सांस्कृतिक सत्ता के समाज की सत्ता असम्भव है। इस्लामी मुल्कों में भी राजनीति के समानंतर धर्म की सत्ता मौजूद मिलेगी। भारत के संदर्भ में यह समांतर सत्ता 'संस्कृति' की होनी चाहिये थी। चूँकि नहीं है, इसी से देश के विघटन के खतरे पाकिस्तान के बाद भी मौजूद हैं। संस्कृति और स्मृति के मूल तंतुओं से शून्य कोई राजनैतिक विचारधारा आगे चलकर कैसे बिखर जाती है, सोवियत संघ का विघटन इसका उदाहरण है। यह जो सोच-विचार और संवेदन के क्षेत्रों में भी राज्य का दखल बढ़ता ही चला जा रहा है, और साहित्य-कला-संस्कृति के मामले भी जैसे सीधे राज्य की गिरफ्त में ले लिये गए हैं, ये भारत की रूस से भी ज्यादा दुर्गति करावेंगे जरूर। इसलिये, राष्ट्र और राष्ट्रीयता के मामले में राज्य (राजनीतिक पार्टियों) की एकछत्रता को तोड़ना जरूरी होगा, अन्यथा देश फिर टूटेगा; क्योंकि परिसीमित, आधी अधूरी

या अनिर्दिष्ट स्थापनाओं पर टिकी राष्ट्रीयता कोई राष्ट्रीयता नहीं होती ।

राजनीतिक पार्टियों को स्थापना और व्याख्या को एकाधिपत्य सौंपने का मतलब ही 'एकाधिपत्यवाद' (तानाशाही) को रास्ता देना है। इसलिये राष्ट्र या राष्ट्रीयता के बुनियादी सवालों के मामले में देश की जगह विचारधारा को केन्द्र में रखने की प्रक्रिया का निषेध जरूरी होगा। देश की जगह— या देश से पहले— विचारधारा को केन्द्र में रखना ही एक तरह के 'विचारधारात्मक अमूर्तवाद', को प्रश्रय देना है। देश को केन्द्र में रखने से इंकार के पीछे समाज की सत्ता का निषेध काम करता है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सामाजिक-आर्थिक मुक्ति की सारी मुक्तिमार्गी स्थापनाएँ आखिर नाकारा सिद्ध होकर रह गईं, तो इसीलिये कि बिना देश की सुनिर्दिष्ट अवधारणा के समाज की अवधारणा भी सम्भव ही नहीं। इसलिये जो भी राजनीतिक पार्टी देश की सुनिर्दिष्ट, सांगोपांग अथवा पारदर्शी अवधारणा से इंकार करे, उससे समाज का हित असम्भव है। समाज देश से निबद्ध है। देश से अलग कोई सामाजिक अवधारणा असम्भव है।

मण्डलमार्गियों की 'सामाजिक न्याय' की सारी फतवेबाजियां इसीलिये देश और समाज दोनों के लिये खतरनाक सिद्ध हुई हैं कि केन्द्र में 'देश' नहीं, 'जातिवाद' को स्थापित किया गया। इस तरह धर्म, मजहब, नस्ल-वर्ण या जाति —अथवा देश की संकल्पना से शून्य औपनिवेशिक राजनीतिक विचारधारा — के आधार पर राजनीति करने वाली राजनीतिक पार्टियों के द्वारा राष्ट्र या राष्ट्रीयता का निर्धारण सिर्फ खतरनाक ही हो सकता है।

भारत का दुर्भाग्य कि देश और समाज की संकल्पना और अवधारणा से शून्य राजनीतिक विचारधाराबाजियों का सिलसिला कांग्रेस के 'पार्टीवादी राष्ट्रवाद' और भाजपा के 'राष्ट्रवादी पार्टीवाद' से लेकर नक्सलवाद तक समान रूप से परिव्याप्त है। जबकि जैसा कि पहले ही कहा — सीमित या अनुकूलित राष्ट्रीयता कोई राष्ट्रीयता नहीं हो सकती।

बिना देश और समाज की स्पष्ट अवधारणा के राजनीति ही क्यों, साहित्य में भी कोई बड़ी पहल असम्भव है। नक्सलवादियों के चरम क्रांतिकारी अभियान अगर आज तक कोई प्रभावी आकार नहीं ले पाये, तो इसीलिये कि 'विचारधारात्मक अमूर्तवाद' सामाजिक-आर्थिक मुक्ति का उपाय नहीं हो सकता। 'नक्सलबाड़ी' को देश के नक्शे की जगह विचारधारा की चौखट से गुंथने का ही परिणाम है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के नक्सलवादी रूपांतरण से सिर्फ 'छापामार हिंसा' में ही सफलता प्राप्त की जा सकी। कोई ऐसी सामाजिक पहल कतई नहीं हो पाई, जो पूँजीवादी व्यवस्था के लिये खतरा बन सके।

नक्सलवाद का भी जिक्र यहाँ इसलिये कि पूँजीवादी लोकतन्त्रवाद से लेकर, मार्क्सवादी-लेनिनवादी मुक्तिमार्गों तक, हमारी मौजूदा राजनीति में राष्ट्र और

राष्ट्रीयता के बुनियादी सवालों का निपेध यमान रूप से व्याप्त है, तो जाद्वार यह कि इस रहस्य का सूचक है ?

तब, राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बुनियादी सवालों के मामले में, स्मृति और संस्कृति की बात को एक नहीं अनेक बार और अनेक तरफ तथा अनेक तरह से उठाना जरूरी होगा; क्योंकि संस्कृति ही देश या समाज का मूल तत्त्व है। यदि संस्कृति का इस्तेमाल राज्य को राष्ट्र का पर्याय, या राजनीतिक पार्टियों को संस्कृति अथवा राष्ट्रीयता के 'कछत्र प्रवक्ता बनाने में हो, तो प्रतिवाद जरूरी होगा। तब बताना आवश्यक होगा कि वस्तु की सामाजिक अवधारणा ही संस्कृति का मूल स्रोत है। पूंजीवाद और मार्क्सवाद, दोनों ही 'वस्तु की राजनैतिक अवधारणा' की उपज हैं।

संस्कृति की समझ को गड़बड़ाने के लिये ही अवधारणा और स्थापना के बीच के अंतर को ओझल किया जाता है। वस्तु और आदमी के बीच के सम्बंधों को अमूर्त या विकृत करने का कारण भी यही है कि हमने 'समांतरता' के विवेक को खो दिया है, जबकि राज्य की समांतरता ही समाज की सत्ता का प्रमाण होगी। संस्कृति का भी। राज्य के समांतर ही नहीं, बल्कि राज्य से ऊपर होने का विवेक ही समाज की मूल पूंजी है। 'राष्ट्रीयता' इसी 'सामाजिक विवेक' में से निर्धारित हो सकती है, 'विचारधारात्मक अमूर्तवाद' से नहीं। इस प्रकार साफ कहा जा सकता है और कहा जाना चाहिये कि संस्कृति और राष्ट्रीयता राज्य के सम्प्रभुत्व की सामग्री नहीं हैं।

संस्कृति ही देश का निर्धारक तत्त्व है। एक देश में दो संस्कृतियां सम्भव ही नहीं। अलग संस्कृति अलग मुल्क माँगेगी जरूर। इसलिये भारत को एक राष्ट्र का रूप देने को 'भारतीय संस्कृति' की स्पष्ट अवधारणा जरूरी होगी।

जो लोग भारतवर्ष को राष्ट्र अंग्रेजों के द्वारा बनाये गए होने का दावा करते नहीं थकते, उन्हें पता नहीं कि साम्राज्य को राष्ट्र नहीं माना जा सकता।

दूसरे, राष्ट्र रेल की पटरियों, नहीं बल्कि संस्कृति के तारों से बनता है। राष्ट्र वहीं तक होगा, जहाँ तक उसकी संस्कृति के तार हों।

जहाँ तक भारतवर्ष का प्रश्न है, वह 'प्रदेशों का पुंज' है, 'उपराष्ट्रों' का नहीं। इसी प्रकार, 'भारतीय संस्कृति' भी विभिन्न 'सांस्कृतिक इकाइयों' का पुंज है, विभिन्न संस्कृतियों का नहीं। जैसे मनुष्य की कोई 'उपमनुष्यता' या कि परिवार की 'उपपरिवारिकता' नहीं होती, ठीक इसी प्रकार, 'उपराष्ट्रीयता' या 'उपसंस्कृति' का भी कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। भारत में उपराष्ट्रीयता या उपसंस्कृतियों की बात करना, औपनिवेशिक राजनीति के आग्रहों का प्रक्षेपण है।

भारत की कोई भी 'प्रादेशिक संस्कृति' अपने में 'भारतीय संस्कृति' से स्वच्छंद नहीं है। 'द्रविड़ संस्कृति' की बात बहुत की जाती है, लेकिन वह भारतीय संस्कृति का सबसे समृद्ध अंग है। उत्तर के सारे महान् भक्ति आन्दोलनों को दक्षिण ने दिशा दी। भारतवर्ष की एक राष्ट्र के रूप में सबसे महान् परिकल्पना शंकराचार्य के द्वारा की गई दक्षिण 'भारतीय संस्कृति' का मेरुदण्ड रहा है। 'आसेतु हिमालय' के राष्ट्रीय

सेतुबन्ध में उसकी भूमिका उत्तर के समतोल है। हिमालय का सारा हिमसागर हिंदमहासागर दक्षिण की देन है। जिसे 'गंगा-जमुना संस्कृति' कहा जाता है, वह भी भारतीय संस्कृति का ही एक अंग है। भारतीय संस्कृति के बाहर किसी गंगा-जमुना संस्कृति का कोई बजूद नहीं।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता के निर्धारण के मामले में सबसे बड़ी बाधा 'भारतीय भाषा प्रधान' है। उसमें भाषा, स्मृति और संस्कृति की कोई अवधारणा कहीं नहीं। इसी से भारत की 'राष्ट्र' नहीं, बल्कि 'संघ' के रूप में स्थापना है। 'राष्ट्रभाषा' नहीं, 'राजभाषा' का प्रावधान है। 'प्रादेशिक भाषाओं' को 'राष्ट्रभाषाओं' का दर्जा दिया गया है। जबकि उपराष्ट्रीयताएँ या उपसंस्कृतियाँ अथवा उपराष्ट्रभाषाएँ राष्ट्र या राष्ट्रीयता की अवधारणा को ध्वस्त ही कर सकती हैं; क्योंकि तब सवाल होगा, जब सारी प्रादेशिक भाषाएँ भी 'राष्ट्रीय भाषाएँ' ही हैं, तो राष्ट्रभाषा किसे कहेंगे? सारे प्रदेशों की अपनी-अपनी राष्ट्रभाषाएँ हैं, तो उनका दर्जा राष्ट्र का ही क्यों नहीं माना जायेगा? तब सबके अपने अपने 'राष्ट्रपति' भी क्यों नहीं होने चाहिए?

संघ (राज्य) को ही राष्ट्र भी मनवाने की चालाकी में ही भारत की राष्ट्र नहीं, बल्कि 'भारत संघ' (यूनायन ऑफ इण्डिया) के रूप में स्थापना की गई और इसी से उपराष्ट्रीयताओं तथा उपसंस्कृतियों की सिद्धांतबाजियों को भी बढ़ावा मिलता गया। नापावार राज्यों की स्थापना भी राष्ट्रीयता की जगह क्षेत्रीयता को मुख्यता देने के उद्देश में ही की गई। माना गया कि फौज का स्वरूप संघीय रखे रहने से, सारी क्षेत्रीयताओं पर संघ (अर्थात् केन्द्र) का अधिनायकत्व कायम रहेगा और इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध 'राष्ट्रीयता' के खतरों से बचा जा सकेगा।

भाषा, संस्कृति, धर्म, मजहब और जाति-वर्ण आदि के विभेदों में बँटी विभिन्न क्षेत्रीयताएँ पूँजीवादी व्यवस्था, या कि अधिनायकत्ववादी केन्द्र, के विरुद्ध राष्ट्रीयपैमाने पर आंदोलनों की गुंजाइश को ही समाप्त कर देंगी, इसी कूटनीति में भौगोलिक के साथ-साथ राजनैतिक क्षेत्रीयतावाद को भी बढ़ावा दिया गया। इसी में मण्डल का वण्डल भी तैयार हुआ। परिणाम सामने है। आज किसी भी क्षेत्र में राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता की चेतना कहीं नहीं मिलेगी।

राष्ट्र या राष्ट्रीयता की स्पष्ट अवधारणा से इंकार के कारण यही हैं। अन्यथा राष्ट्र या कि राष्ट्रीयता की अवधारणा करते में संवेदनात्मक एकात्मता या पारस्परिकता का जो तर्क दिया जाता है, वह विचारधारा की जगह 'भावनात्मक एकात्मता' का तर्क ही है और उसे विचार (आइडियोलॉजी) नहीं, बल्कि धर्म या संस्कृति के आधार पर ही टिकाया जा सकता है, यह भी सोवियत संघ के विघटन से स्पष्ट हो चुका है।

जो लोग भारत को 'विभिन्न राष्ट्रीयताओं वाला देश' करार देते में रूस का

हवाला देते हैं, वो इस तथ्य को छिपाना चाहते हैं कि सोवियत संघ का विघटन साम्यवाद का विचारधारात्मक तथा सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का राजनैतिक विघटन है — रूस का भौगोलिक विघटन नहीं। 'सोवियत संघ' और रूस में अंतर है। रूस फिर खड़ा होगा; क्योंकि उसके जातीय तत्व ऋष्ट नहीं हुए हैं। वह भी एक जातीय तथा सांस्कृतिक देश है और सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के विघटन का कारण, कहीं-न-कहीं रूस की जातीय प्रकृति, स्मृति और संस्कृति का निषेध भी है।

देश और समाज के साथ साथ, संस्कृति का एक अंग काल भी है। 'उत्पादन' और 'सृजन' की संयुति ही संस्कृति का मूल है। उत्पादन 'तत्काल' का प्रत्यय है, सृजन महाकाल का और काल का वास्तविक निर्धारण होता है, 'स्मृति' से। भारतीय संस्कृति का यही आधारभूत नियम है। तत्काल जितना अधिक से अधिक संदोहन और अधिग्रहण किया जा सके — यह उत्पादन के सिद्धांत पर टिके पूँजीवाद और मार्क्सवाद का नियम है।

खेतों से लेकर गाय-भैसों तक के दूधन में तत्काल अधिक से अधिक प्राप्त करने — और इससे आगे चलकर जमीन या पशुओं के बंजर हो जाने की चिंता नहीं करने — की यह प्रक्रिया ही मनुष्य के अधिकतम संदोहन, अर्थात् उसको अधिक ही नहीं, बल्कि चेतना और स्मृति के स्तर पर भी सर्वहारा बनाने के सिद्धांत तक जाती है।

जाहिर है कि संस्कृति और स्मृति इसमें बाधक हो सकते हैं।

आगे (आनेवालों) की चिंता और पीछे (अतीत) की स्मृति के बिना संस्कृति का प्रवाह सम्भव नहीं। इसलिये पूँजीवाद और मार्क्सवाद, दोनों को ही संस्कृति के ध्वंस की राजनीति के रूप में ही देखना और इनके आधार पर भारत की राष्ट्रीयता को तय करने से बचा जाना जरूरी होगा।

मनुष्य 'उत्पादन' ही नहीं, 'सृजन' भी करता है। उत्पादन और सृजन का यह सातत्य ही संस्कृति का मूल है; क्योंकि संस्कृति 'उत्पत्ति' के रहस्य से गुंथी होती है। धर्म यह काम अपेक्षाकृत संकीर्ण दायरे में करता है। पूँजीवाद और साम्यवाद, दोनों ही (उत्पादन पर) राज्य के एकाधिपत्य के सिद्धांत से चलते हैं और राज्य (या राज्यप्राधिकारियों) के आधिपत्य का सिद्धांत ही अंततः सृजन और संस्कृति के संहार का कारण बनता है; क्योंकि उत्पादन को न सही, लेकिन सृजन को 'स्वाधीनता' जरूरी है।

संस्कृति, समाज का समवेत होने से, राज्य के एकाधिपत्य के विरुद्ध पड़ती है। संस्कृति और राष्ट्रीयता का एक काम एकाधिपत्य का निषेध भी है। इस भूमिका के हटते ही संस्कृति और राष्ट्रीयता का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। भारतवर्ष का वास्तविक संकट यही है। तब भारतवर्ष के संदर्भ में राष्ट्रीयता का निर्धारण करते में देखना जरूरी होगा कि यह जो विभिन्न मत - मतांतरों और जाति-वर्ण के बीच सहअस्तित्व ही नहीं, बल्कि सह या समवेत सृजन की परम्परा है, यही भारतीय संस्कृति का मूल उदाहरण है। गंगा-जमुनी संस्कृति इसी अर्थ में, कोई स्वच्छद या समांतर संस्कृति नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति की गंगाजमुनी छटा है और यह पहल इस्लाम नहीं, हिंदू संस्कृति की है।

पूँजीवाद और मार्क्सवाद की यह नियति है कि उत्पादन के एकाधिपत्य और उत्पादन की सर्वोपरिता का सिद्धांत इन्हें संस्कृति के ध्वंस के रास्ते पर ले जायेगा जरूर और संस्कृति का ध्वंस बिना स्मृति के ध्वंस के सम्भव ही नहीं, इसलिये भारत की राष्ट्रीयता का निर्धारण करते में पूँजीवादी या मार्क्सवादी सिद्धांतशास्त्रों की कोई प्रासंगिकता कतई नहीं होगी। भारत की राष्ट्रीयता के निर्धारण में मुख्य भूमिका संस्कृति और स्मृति की होगी; क्योंकि भारत सिर्फ ऐतिहासिक नहीं, सांस्कृतिक तथ्य भी है। भारतवर्ष का निर्धारण इतिहास की योरोपीय स्थापनाओं की रेशनी में नहीं किया जा सकता। भारतवर्ष का सर्वोत्तम, इतिहास की मसीही या मुहम्मदी तारीखों के पार है। इस अर्थ में भारत ऐतिहासिक नहीं बल्कि स्मार्त है।

महाकाव्य भारत से बाहर भी रचे गये, लेकिन 'महाकाव्यात्मक' संस्कृति के दृष्टांत सिर्फ भारत में ही खोजे जा सकते हैं। अन्य किसी भी देश की संस्कृति के निर्माण में महाकाव्यों की निर्णायक भूमिका नहीं है। इस देश के सांस्कृतिक ही नहीं, सामाजिक विन्यास में भी, राज्य की जगह, महाकाव्यों की भूमिका सर्वोपरि है। जबकि इतिहास की योरोपीय अवधारणायें 'राज्य' को केन्द्र में रखकर ही चलती हैं। मार्क्स के 'ऐतिहासिक' भौतिकवाद की हकीकत भी यही है। देश में संस्कृति या स्मृति की निर्णायक भूमिका का दृष्टांत सिर्फ भारतवर्ष है और भारतवर्ष के ऐतिहासिक की जगह स्मार्त होने की इस विशिष्टता, या अद्वितीयता को हाशिये पर डालकर भारतवर्ष की राष्ट्रीयता का निर्धारण नहीं हो सकता।

जैसे व्यक्ति, तैसे ही देश के संदर्भ में भी यह ज्ञान जरूरी है कि उसका सर्वोत्कृष्ट क्या है। स्वाधीनता भी 'उत्कृष्ट' का ही अंग है। स्वाधीनता की अवधारणा में भी भारतवर्ष योरोप या अन्य द्वीपों-महाद्वीपों की तुलना में 'विश्वगुरु' रहा है, तो इसीलिये कि यहाँ राज्य नहीं, समाज की सर्वोपरिता का सिद्धांत रचा गया। स्मृति और संस्कृति ही समाज के सर्वोच्च साधन हैं, यह भारतवर्ष की स्थापना है। पूँजीवाद और मार्क्सवाद, दोनों स्मृति और संस्कृति को समाज का साधन नहीं मानते।

ये उत्पादन और सृजन की संयुति—या कि सृजन के लिये उत्पादन—में भी ईमान नहीं रखते। तब भारतवर्ष की राष्ट्रीयता के निर्धारण में इन दो में से किसी भी खेमे के बुद्धिजीवी की भूमिका क्या हो सकती है, इसका अनुमान कठिन नहीं होना चाहिये।

राज्य को समाज का निर्धारक मानने वाले बुद्धिजीवियों के द्वारा राष्ट्र की अवधारणा सम्भव नहीं और भारत की तमाम मौजूदा राजनीतिक पार्टियों के पास जो भी बुद्धिजीवी हैं, सभी इसी जमात के हैं। यहाँ तक कि खुद भाजपा के पास भी ऐसा चिंतक विचारक कोई नहीं, जो राष्ट्र की अवधारणा पार्टी घोषणाओं को केन्द्र में रखे बिना कर सके। इसलिये, राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बुनियादी सवालों के मामले में, इतना साफ समझ लिया जाना चाहिये कि इनका निर्धारण राजनीतिक पार्टियों के द्वारा सम्भव ही नहीं।

राष्ट्र के सांस्कृतिक प्रत्यय होने से, यह राजनीति के निर्धारण के दायरे में आता ही नहीं। गांधी जी इसके प्रमाण हैं। राष्ट्र की गांधी और नेहरू की अवधारणाओं के अंतर को देखा जा सकता है। राष्ट्र की अवधारणा कोई गांधी जैसा मनीषी ही कर सकता है। स्मृति और संस्कृति की समझ ही गांधी को राज्य के सर्वोच्च आदर्श (मॉडल) के चुनाव के मामले में रामराज्य की अवधारणा तक ले गई थी। भारत की राष्ट्रीयता के निर्धारण में 'रामायण' की भूमिका जरूरी होगी। इसी से तय होगा यह भी कि इस देश का सिर्फ भौगोलिक या ऐतिहासिक ही नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक सामाजिक नक्शा भी है और इसे इतिहास की किताबों या इतिहास की भारतोत्तर अवधारणाओं से नहीं बनाया जा सकता; क्योंकि इसका मुख्य साधन 'स्मृति' होगा। भारत वगैरे तक है, जहाँ तक हमारी स्मृति।

जैसे मनुष्य, तैसे ही समाज का भी सर्वोच्च साधन स्मृति ही है। संस्कृति मनुष्य की सुगंध है और इसे स्मृति से ही पाया जा सकता है। जिस भी देश से यह सुगंध गायब होगी, वहाँ से दुर्गंध फूटेगी जरूर। अमेरिका इसका चाक्षुस उदाहरण है। वह स्मृति में सबसे दरिद्र मुल्क है और इसीसे उसकी धनाढ्यता पूरे विश्व को विकराल बन चुकी है। इसी से अमेरिका को 'आदर्श' बनाकर भारतवर्ष की राष्ट्रीयता तय करने का मतलब हो होगा, भारत को हर बात में मंगलदूदा बना देना। बल्कि, जहाँ तक आत्मिक सम्पदा का प्रश्न है, अमेरिका भारत के सामने भिखमंगों की हैसियत ही रख सकता है। वह सांस्कृतिक देश नहीं है। उसका उपार्जन और साधन, दोनों ही अपसंस्कृति हैं।

पूँजीवाद या मार्क्सवाद के पैमानों से भारत की राष्ट्रीयता — याकि राष्ट्रीय नीतियों — के निर्धारण ने ही देश को आज भी दासता के हवाले कर रखा है। संस्कृति और स्मृति की भूमिका के विवेक से वंचित होने के कारण ही हम पूँजीवादी अपसंस्कृति की चपेट से बच नहीं पा रहे। हिंसा और प्रदूषण ये अपसंस्कृति के ही साधन हैं। संस्कृति का आधार अहिंसा है; क्योंकि हिंसा स्मृति को रौंदती है। हत्या की राजनीति अपसंस्कृति की ही देन है। स्मृति और संस्कृति का संहार ही इसका लक्ष्य है।

राष्ट्रीयता के निर्धारण में संस्कृति के गायब होने से ही देश धर्म, मजहब, नस्ल, वर्णों और जातियों की राजनीति के हवाले हुआ पड़ा है। बिना राष्ट्रीयता के बुनियादी सवालों के निर्धारण के एकात्मता असम्भव है क्योंकि राष्ट्रीयता के संस्कृति और स्मृति के आलोक में निर्धारण से ही स्वाधीनता की पहचान होगी और तब ही अपकृति का प्रतिरोध भी सम्भव होगा।

गुलामी अपकृति का ही अंग है। लोगों को बिना मानसिक उजाड़ के हवाले किये अपसंस्कृति का प्रसार सम्भव ही नहीं। विदेशी भाषा में शासन भी आपसंस्कृति का ही अंग है। सिर्फ असंस्कृत — अर्थात् बर्बर — ही मनुष्य को गुलाम बनाते हैं। आदमी

को गुलाम बनाने के लिये देश को गुलाम बनाना जरूरी है। हमारी मौजूदा राजीतिक पार्टियां यही कर रही हैं। यह कारण है कि इन्हें भाषा, संस्कृति या स्मृति के सवाल राष्ट्रीयता के बुनियाद सवाल लगते ही नहीं।

अमेरिका की आर्थिक गुलामी का मतलब सिर्फ आर्थिक गुलामी ही नहीं हैं। हमें आर्थिक ही नहीं, बल्कि राजनैतिक और सांस्कृतिक रूप में भी गुलाम बनाया जा चुका है। तब गांधी के निमित्त से कहना फिर जरूरी होगा कि विदेशी शासन या विदेशी भाषा में शासन में बहुत अंतर नहीं।

गांधी के 'स्वदेशी' के आह्वान में सिर्फ 'उत्पादन' नहीं, बल्कि 'सृजन' में स्वाधीन होना भी शामिल था। गांधी की 'राष्ट्रभाषा' की अवधारणा इसी सोच का परिणाम थी। वे जानते थे कि विदेशी भाषा में शासन का मतलब ही सृजन की स्वाधीनता का हनन है। विदेशी भाषा में शासन किसी भी देश के वैचारिक तथा संवेदनारमक संहार का सबसे भायनक साधन है।

आज जब हमारे वर्तमान राष्ट्रपति महामहिम शकरदयाल शर्मा जी गांधी की समाधि पर मत्तक भूमि पर टिकाकर दण्डवत करते हैं, तो यह गांधी की राष्ट्रीय चेतना के प्रति नहीं, बल्कि सिर्फ उनकी समाधि के आगे 'राजनैतिक दण्डवत'-मात्र है... क्योंकि कदाचित गांधी आज भी मौजूद होते, तो सार्वजनिक तथा राजकीय समारोहों में सिर्फ विदेशी भाषा में बोलने के उनके संकल्प के प्रति गांधी जी का रुख क्या होता, इतना 'राष्ट्रपति' जी भी जानते जरूर होंगे।

भाजपा ने स्वदेशी के आंदोलन में से भाषा का सवाल हटाकर अपना इरादा स्पष्ट कर दिया है, लेकिन अगर उसका लक्ष्य वास्तव में राष्ट्रीयता के बुनियादी सवालों को केन्द्र में लाना, और इस प्रकार भारत के सबसे बड़े राजनीतिक दल के रूप में स्थापित होना हो, तो आगे-पीछे उसे विदेशी भाषा में शासन का बहिष्कार करना ही होगा; क्योंकि बिना विदेशी भाषा में शासन के बहिष्कार की राष्ट्रीयता आधी-अधूरी ही होगी। जो भाषा में विदेशी हो, उसका वेश-भूषा या खान-पान में 'स्वदेशी' होना पाखण्ड के सिवा कुछ नहीं। बिना भाषा में स्वाधीन हुए राष्ट्रीयता की बात धोखा है; क्योंकि जैसा पहले ही कहा—आधी-अधूरी राष्ट्रीयता कोई राष्ट्रीयता नहीं होती। धस्तु का सम्पूर्ण होना जरूरी है।

भारत की राष्ट्रीयता के निर्धारण में, भाषा, स्मृति और संस्कृति को केन्द्र में रखना जरूरी इसलिये भी होगा कि कुछ भी भाषा, स्मृति या संस्कृति से बिलग नहीं है। तब धर्म और जाति के आधार पर कानून बनाने — अर्थात् धर्म, मजहब, नस्ल, वर्ण और जाति के आधार पर राज चलाने — की औपनिवेशिक संसदीय व्यवस्था का बहिष्कार भी जरूरी होगा। तब समझना जरूरी होगा यह भी कि भारत मूलतः एक सांस्कृतिक अर्थात् आध्यात्मिक देश है। संस्कृति, दरअसल अध्यात्म का ही विषय है। खासतौर पर भारत के संदर्भ में तो 'अध्यात्म' ही मूल है। अध्यात्म, यानी आत्मा की

अवधारणा, ही स्वाधीनता का सर्वोच्च मानक है।

तब भारत की राष्ट्रीयता की अवधारणा करते में देखना जरूरी होगा यह भी कि भारत को 'आध्यात्मिक' देश क्यों कहा जाता रहा है, धार्मिक देश क्यों नहीं।

इस दृष्टि से देखें, तो 'भारतीय संविधान' — जो कि सभी मौजूदा राजनीतिक पार्टियों का आकर ग्रंथ है — भारत की आत्मा के ही प्रतिकूल है और आत्मा को प्रतिकूल शरीर के अनुकूल नहीं हो सकता। मानसिक तनाव के रोग की जड़ ही 'आत्मा के' प्रतिकूल आचरण है। राष्ट्रीयता इस नियम से बरी नहीं हो। हमारे राजनैतिक-सामाजिक विकार 'आत्मा के प्रतिकूल आचरण की ही उपज हैं'। गांधी राष्ट्र की आत्मा के प्रतीक हैं, व्यक्ति नहीं। गांधी में भारत की आध्यात्मिक सुगंध है। इस सुगंध के बिना भारत की राष्ट्रीयता का निर्धारण असम्भव है, जबकि भारत की किसी भी मौजूदा राजनीतिक पार्टी में यह सुगंध नहीं है।

अध्यात्म के तर्क से ही जाना जा सकेगा कि भारत धार्मिक देश क्यों नहीं बना। 'राष्ट्र' को 'कौम' का पर्याय बताने वालों के वश में नहीं कि वे इस बात को समझें कि राष्ट्रीयता का आधार 'नागरिकता' है, कौम, धर्म, मजहब, नस्ल, वर्ण या जाति नहीं। जबकि 'भारतीय संविधान' में धर्म, मजहब, कौम, नस्ल, वर्ण और जाति को ही नागरिकता का मुख्य तत्त्व निरूपित किया गया है और इसी आधार पर मतदान होता है और इसी आधार पर राजनीति, जबकि अध्यात्म की अवधारणा में ही आत्मा की समानता का तर्क समहित है। धर्म या ईश्वर को भी ईमान नहीं, बल्कि आत्मा का विषय मानना ही विभिन्नता में एकता का आदिसूत्र है और इसे सिर्फ वेदों में ही पाया जा सकता है।

तब भारत की राष्ट्रीयता के निर्धारण में इसके वाङ्मय — अर्थात् इसके सर्वोच्च सांस्कृतिक सामाजिक उपार्जन — की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता। जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा — स्वाधीनता राष्ट्रीयता का केन्द्रीय तत्त्व है और स्मृति तथा संस्कृति, ये ही स्वाधीनता की कसौटी हैं। भाषा का स्मृति और संस्कृति से क्या सम्बन्ध होता है — या कि स्मृति और संस्कृति का भाषा से — इसे संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के बीच के सम्बन्ध से देखा जा सकता है।

स्वाधीनता, भाषा, स्मृति, संस्कृति और नागरिकता — ये ही किसी भौगोलिक इकाई को राष्ट्र में बदलते हैं। राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बुनियादी सवालों को इन सबके साक्ष्य में ही तय किया जा सकता है और कहना जरूरी क्यों हो कि यह काम राजनीतिक नेताओं या राजनीतिक पार्टियों के वश का नहीं है।... भाषा, कानून, अर्थ व्यवस्था या कि अन्य नीतिनिर्धारणों के मामले में हम जिस पूँजीवाद और मार्क्सवाद की नकल करते चले आ रहे हैं, ये भारत की राष्ट्रीयता के सवाल को कभी भी हल होने ही नहीं देंगे। लगता है, भारत की मौजूदा राजनीतिक पार्टियों का उद्देश्य भी यही है अन्यथा किसी राजनीतिक दल के पास तो राष्ट्र या राष्ट्रीयता की कोई स्पष्ट अवधारणा होती।